

संस्थापक : दूधनाथ सिंह : 1975



प्रतिरोध की संस्कृति का रचनात्मक हस्तक्षेप

अंक : 12

जनवरी, 2012

संपादक

विनोद तिवारी

सहायक संपादक

तेजभान

अक्षर संयोजन

कॉम्पैक्ट प्रिन्टर्स

ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

आवरण : सुरेन्द्र राजन

मूल्य

एक प्रति : 50 रुपये

सदस्यता

चार अंकों के लिए : 200 रुपये

संस्थाओं के लिए : 300 रुपये

पंचवार्षिक : 500 रुपये

दस वार्षिक : 1000 रुपये

आजीवन : 2500 रुपये

संपादन/प्रकाशन : अवैतनिक/अव्यावसायिक

स्वामी-संपादक-प्रकाशक-मुद्रक विनोद तिवारी द्वारा बी-2, तीसरी मंजिल, महेन्द्र एन्क्लेव, स्टेडियम रोड, दिल्ली-110033 से प्रकाशित और दिव्या ऑफसेट प्रिन्टर्स, बी-1422, न्यू अशोक नगर, मयूर विहार, दिल्ली-96 से मुद्रित।

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। संपादक और लेखक की अनुमति के बिना प्रकाशित सामग्री के किसी भी तरह के उपयोग की अनुमति नहीं होगी।

संपादकीय संपर्क

बी-2, तीसरी मंजिल, महेन्द्र एन्क्लेव

स्टेडियम रोड, दिल्ली-110033

फ़ोन : 011-27240496

मो. : 09968423949

ई-मेल : pakshdharwarta@gmail.com

PAKSHDHAR

A Literary bi-annual Magazine

Editor : Vinod Tiwari

Language : Hindi

ISSN : 2231-1173

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त।

समस्त कानूनी विवादों का न्याय क्षेत्र दिल्ली न्यायालय होगा।

पक्षधर संस्थापक के पचहतर वर्ष पूरे होने
पर समर्पित है पक्षधर का यह अंक

अनुक्रम

संपादकीय

पक्षधर मेरे लिए नशा है 5

एक कवि : एक राग

दस कविताएँ/ विनोद कुमार शुक्ल 7

बाँसुरी का होना संगीत का संदर्भ है/ विनोद कुमार शुक्ल 13

आलेख

रामलीला : धर्मसत्ता और हमारा समय/ जीवन सिंह 26

राष्ट्रीय काव्यधारा और राजनीति/ सुधीर रंजन सिंह 42

पंत और अज्ञेय : प्रकृति काव्य और काव्य-प्रकृति/ अवधेश प्रधान 55

हिन्दी दलित कहानी : संवेदना और सरोकार/ राम चंद्र 60

उपन्यास अंश

मल्लू मठफोड़वा/ राकेश रंजन 76

लंबी कविता

चार पुरुष और स्वर्णयुगों पर शोकगीत/ विवेक निराला 96

बात कहूँ मैं खरी

विचारधारा एक सामाजिक अन्तर्ज्ञान है/ जयनंदन 121

कहानी

और कितने यौवन चाहिए ययाति?/ अशोक कुमार पाण्डेय 126

नौ बच्चों की माँ/ कृष्णकान्त 147

कविता

काम वाली बाई अभी आई है/ संजीव बख्शी 159

छः कविताएँ/ शंकरानंद 165

तीन कविताएँ/ जितेन 169

रेखाचित्र

लोक संगीत गुरु और शिष्य का मिलन/ पी. सी. जोशी 173

पुस्तक समीक्षा

मुर्दहिया : सामाजिक पड़ताल का साहित्यिक पैमाना/ जय कौशल 190

शालीन और संयत स्मृति-लेखा/ पल्लव 196

तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूँ उस ओर क्या है/ चन्द्रशेखर 199

पक्षधर मेरे लिए नशा है

मैं पक्षधर नशेड़ी हूँ। पक्षधर मेरा नशा है। मैं इस नशे का आदी हो चुका हूँ। जहाँ भी रहूँ यह नशा मुझसे छूटता नहीं, मैं इसे छोड़ता नहीं। नशे के बारे में कहा जाता है कि यह लत दूसरे लगाते हैं, परन्तु मैंने इस नशे को खुद गले लगाया है। हाँ, यह जरूर था कि पक्षधर के एकांकी संपादक और तत्कालीन 'माध्यम' संपादक श्री सत्यप्रकाश मिश्र दोनों ने मुझे बरजने की, आगाह करने की कई कोशिशें कीं पर वे नाकाम रहे। शायद वे इसी नशे से मुझे बचाना चाहते थे। सत्यप्रकाश जी अब रहे नहीं पर दूधनाथ जी ने पत्रिका की बेहतरी के लिए उसके शुरुआती अंकों में जिस तरह अपने अनुभव से मुझे सहेजा वह मेरे लिए एक तरह की ट्रेनिंग थी। आज भी वह पत्रिका को लेकर बहुत ही सचेत रहते हैं। कोई चूक हो जाती है तो इस कदर बेरुखी से झाड़ते हैं कि कहते न बने। पर कभी-कभी वह यह भी कहकर छूटना चाहते हैं कि "भाई अब मुझे बख्श दो अब मैं बूढ़ा हुआ।" दूधनाथ जी 75 के हुए हैं, बूढ़े कहाँ हुए हैं। 75 पूरे होने पर हम सबकी अनंत शुभकामनाएँ कि वह सालों-साल गिनती में बढ़े होते जाएँ पर बूढ़े न हों। दूधनाथ जी कभी-कभी किसी गलती पर इस कदर तल्लू होते हैं कि आपके साथ गैर से भी बदतर पेश आते हैं। दरअसल उनका 'मम' उस समय सब कुछ को परे कर अत्यंत ही निर्मम हो जाता है। तभी तो उनके जानने चाहने वाले कहते हैं—

*काम उससे आन पड़ा है, कि जिसका जहान में
लेवे न कोई नाम सितमगर कहे बिगैर*

जब मैं बिना किसी ढोल-मंजीरे के तुर्की आने लगा तो मेरे कुछ मित्रों ने यह सवाल किया कि पक्षधर का क्या होगा? कैसे निकलेगी? क्या अब पक्षधर बंद हो जाएगी। मैंने सबको कहा कि नहीं, पक्षधर बंद नहीं होगी वह तुर्की से भी निकलती रहेगी। एक ने कहा कि "मैं आपका उत्साह देखूँगा।" दरअसल, पक्षधर जब मैंने शुरू किया तो यह सोचकर नहीं कि इससे मुझे क्या फायदा या नुकसान होगा। हाँ! एक जूनून जरूर था कि नहीं, एक पत्रिका बनारस में रहते हुए शुरू की जा सकती है। उस जूनून में कहीं न कहीं पत्रिका के लिए एक बेइंतहा जिद्दी प्यार शामिल था। वह प्यार धीरे-धीरे परवान चढ़ता गया। अब तो उसने अपने रंग में मुझे इस कदर रंग लिया है कि न निकल पाता हूँ न भाग पाता हूँ।

*दिलकश ऐसा कहाँ है दुश्मने जाँ
मुदई है पे मुदआ है इश्क*

.....
*क्या कहूँ मैं तुमसे कि क्या है इश्क
जान का रोग है बला है इश्क*

हालाँकि, इस जिद्दी धुन ने मुझसे मेरा बहुत कुछ छीना भी है। कुछ ऐसे लम्हे, कुछ ऐसे पल, कुछ ऐसी हसरतें, कुछ ऐसे लोग जो मुझे प्यार करते थे, जिन्हें मैं प्यारा था, उन सबको मैंने छोड़ा नहीं वे छूटते गए। सच में, आज जब पत्रकारिता कोई मिशन नहीं रह गई है तो भी वह आपसे कितना कुछ वसूलती है उसको बर्बाद नहीं कर सकता। जब पत्रिका नफ़ा नुकसान के व्यावसायिक तर्कशास्त्र से अलग एक जुनूनी और जिद्दी प्यार की तरह आपके जीवन और स्वभाव में उतर जाय फिर तो—

‘दिन नाहीं चैन रात नहिं निंदिया’

पक्षधर को निकलते हुए पाँच साल हो गए। इन पाँच सालों में पक्षधर ने पाठकों की इस उम्मीद को पुख्ता किया है कि पक्षधर बंद नहीं होगी। इस बीच, पत्रिका एक नाशुक्रे की मक्कारी और छलना का भी शिकार हुई। तरह-तरह के प्रलोभन देकर वह मुझे मूसता रहा। अपन पत्रिका की खातिर मुसते रहे। जब मूस चुका तो दिल्ली की अनजान भीड़ में गधे की सींग की तरह ऐसा गायब हुआ कि लौट कर न आया। तौबा! मेरी दिल्ली तेरी मक्कारी और छलनाओं से। पर तुझे भी क्या कोसना, तू भी क्या करे ऐसे न जाने कितने पेट के जले हुए मक्कार और छलियों की तू ही तो आसरा है, वर्ना वो पेट की आग लेकर जाएँ तो जाएँ कहाँ।

कवि-कथाकार विनोद कुमार शुक्ल पचहत्तर के हो गए। वे दीर्घायु हों। उनकी रचनात्मक सक्रियता बनी रहे। उनके सम्मान में पक्षधर के इस अंक में उनकी दस कविताएँ और साहित्य, संस्कृति सम्बन्धी विविध प्रसंगों पर उनसे एक लम्बी बातचीत प्रस्तुत है।

हरिओम की लम्बी कविता ‘जंगल-गाथा’ से हमने लम्बी कविताओं की शुरुआत की थी। पिछले अंक में निशांत की लम्बी कविता ‘फिलहाल साँप कविता’ को पाठकों ने बहुत सराहा था। इस अंक में विवेक निराला की लम्बी कविता ‘चार पुरुष और स्वर्ण युगों पर शोकगीत’। इन लम्बी कविताओं को आप अगर एक साथ रखकर देखें-पढ़ें तो अपने समय के साथ एक बहुत ही तल्लख संवाद करती हैं ये कविताएँ। इधर युवा कवि और आलोचकों ने कविता और आलोचना के साथ कथा क्षेत्र में भी पूरी रचनात्मक ऊर्जा और ऊँचाई के साथ पहलकदमी की है। इस अंक में राकेश रंजन के लिखे जा रहे नायाब उपन्यास ‘मल्लू कठफोड़वा’ के प्रारम्भिक अंश एवं अशोक कुमार पाण्डेय की कहानी ‘और कितने यौवन चाहिए ययाति?’ को इसी नुखे के साथ देखा जाना चाहिए।

आशा है कि हर अंक की तरह इस अंक को भी पाठकों का प्यार मिलेगा। मेरे लिए तो हर अंक बहुत ही मुश्किलतों भरा होता है। इस अंक के लिए तेजभान ने बहुत परिश्रम किया है। परदेस में रहते हुए बिना उनके सहयोग के यह सम्भव नहीं था।

विनोद तिवारी

दस कविताएँ

विनोद कुमार शुक्ल

कविताएँ

मेरे पड़ोस का यह मेरा घर
मैं पड़ोस से
अपने घर को पहिचान गया।
मैं पड़ोस में
इस तरह रह रहा होऊँगा
कि घर के पड़ोस में घर।
पड़ोस में
घर का वह मुझसे
मिलने आये तो कह दूँ
घर में तुमने मुझे भुला दिया
पड़ोस में
मत भुलाना।
लोगों के साथ रहने में
मैं घर का पड़ोसी।

एक अच्छी घटना

एक अच्छी घटना
तुम घटने में रहना
बल्कि घट जाना

बार-बार घट जाना ।
प्रत्येक मनुष्य का जीवन
हर क्षण अच्छा मुहुर्त है
सुख की घटना के लिए ।

आदिवासी! हम तुम्हें कैसे जानें

आदिवासी! हम तुम्हें कैसे जानें
कि तुम नक्सली नहीं हो
और आदिवासी! तुम्हें ऐसा क्यों जानें
कि तुम नक्सली हो
तुम्हारे पास छुपाने लायक कुछ भी नहीं
तुम कहाँ जाओगे तुम्हें मालूम नहीं
पर तुम अपनी जगह से जा रहे हो
तुम पेट भरना चाहते हो
पेट कैसे भरोगे तुम्हें मालूम नहीं
आदिवासी तुम जीवित रहना चाहते हो
पर तुम मरने से कैसे बचोगे
यह तुम जानते नहीं
जंगल में हाँका पड़ा है
पहले शेर को मारने के लिए पड़ता था ।

एक आदिवासी आदमी

एक आदिवासी आदमी
दूसरे आदमी की तरह
सब तरफ दिखने लगा है
सब आदमी की तरह
एक जगह से बाहर सब जगह
भूखा सब लोगों की तरह
और पेट नहीं भर पा रहा है
सब आदमी से बदतर
आदिवासियों की तरह

जहाँ वह रहता है जो जगह है

वह कहीं भी है
कि कोई जगह नहीं
हर जगह
केवल जंगल में नहीं
एक आदिवासी
कहीं भी आदिवासी नहीं
यही कि एक आदिवासी आदमी
किसी एक पेड़ के नीचे जाकर खड़ा हुआ
बहुत दूर चलते-चलते मिले
दूसरे पेड़ के नीचे
थककर बैठ गया
उससे भी दूर कई रात हो जाने तक जाकर
पेड़ के नीचे लेटने को अपना तीसरा पेड़
इस दुनिया में उसे कहीं नहीं मिला ।

कुछ-कुछ याद करते

कुछ-कुछ याद करते
रोज जीवन बीतता रहा
सभी कुछ कभी भुला नहीं सका
जो याद रहता है
उसी से कुछ भुला देता हूँ
जो भुला देता हूँ
उसमें से कुछ याद कर लेता हूँ
और अपने होने को सोचता हूँ
सोमवार से इतवार तक
एक तारीख से इकतीस तारीख तक
अगर बत्तीस होगी तो भी ।
तैंतीस तारीख को एक
मंगलवार नहीं
खरपतवार के दिन
दुख के मारे
मैं पचास बजे तक जागता रहा ।

इस और उस समय के बाद

इस और उस समय के बाद
मैं घर पर कभी नहीं होऊँगा
कोई अँधेरे दरवाजे को
खटखटा रहा होगा
दरवाजा खोलने का मेरा समय चला गया
पत्नी ने दरवाजा खोला होगा—
वह मेरा बहुत पुराना बूढ़ा पड़ोसी!
दरवाजा खुलते ही कहेगा—
बिजली सबकी गई है
एक साथ आएगी
और कोई काम तो नहीं?

सबके साथ हो गया हूँ

सबके साथ हो गया हूँ
अपने पैरों से नहीं
सबके पैरों से चल रहा हूँ
अपनी आँखों से नहीं
सबकी आँखों से देख रहा
जागता हूँ तो सबकी नींद से
सोता हूँ तो सबकी नींद में
मैं कुछ भी अकेला नहीं
मुझमें प्रेम की भीड़ इकट्ठी है
मुझे ढूँढो
सबके पीछे नहीं
सबसे आगे छुपा हूँ
लेकिन सबके मिल जाने के बाद मिलूँगा।

सभी लोगों में सभी जगह

सभी लोगों में सभी जगह
कहीं भी मैं छूट जाता रहा
कभी थोड़ा कभी बहुत

और छूटा रहकर
रहा आता रहा।
अपनी जेब में एक इकाई-सा
मैं बहुजातीय नहीं सब जातीय
बहुसंख्यक नहीं सबसंख्यक खर्च होकर
एक मनुष्य समाप्त होना चाहता हूँ
एकमुश्त।

समानार्थी-सा मैं उस मनुष्य के पास खड़ा हूँ

समानार्थी-सा मैं उस मनुष्य के पास खड़ा हूँ
पेड़ के नीचे वह पहले से खड़ा है
तो मैं भी अब पेड़ के नीचे हूँ
एक समानार्थी सुख मुझे मिला
उससे मैं बात करना चाहता हूँ
मुझसे शायद वह भी
मैंने सोचा
उसने भी सोचा हो
चिंताओं में मुझे समझ नहीं आ रहा था
कि मेरी बड़ी चिंता क्या है
मैंने फिर सोचा
उससे बात करूँ
उसने भी फिर सोचा हो
वह कब किधर चला गया!
उसका जाना
जैसे वह सब तरफ फैल गया
जब वह सब तरफ है
तो मैं उसे नहीं ढूँँगा
आम आदमी को कोई ढूँँढता नहीं क्या?
अपने लोग अपने समानार्थी

कल जो एक बड़ा पत्थर

कल जो एक बड़ा पत्थर
सड़क पर दिखा था

जिसे उठा नहीं सका
जैसे कल
पत्थर को दरकिनार कर
आवाजाही थी
उसी से ठोकर खाकर गिर पड़ा-
जैसा आज
और मुझे दरकिनार कर आवाजाही
जीवन की इतनी-सी दिनचर्या के
संध्या के पाँच बजे
ठीक तब
संध्या पाँच बजे को
दरकिनार कर
साढ़े पाँच बज रहे।

बाँसुरी का होना संगीत का संदर्भ है

विनोद कुमार शुक्ल से योगेश तिवारी की बातचीत

योगेश तिवारी : साहित्य पढ़ने-लिखने की शुरुआत कैसे हुई? समकालीनों में किसे पढ़ना अच्छा लगता है?

विनोद कुमार शुक्ल : जब पढ़ना कुछ ठीक से शुरू किया तभी अम्मा ने कहा था कि संसार की जो अच्छी किताब हो वही पढ़ना। टैगोर, बंकिम, शरदचंद्र के नाम लेती थीं। पहली किताब शरदचंद्र की 'विजया' मैंने बारह आने में खरीदी थी। जिससे सबसे ज्यादा प्रभावित होते हैं उनके बारे में लिखना मेरे लिए सबसे मुश्किल होता है। अम्मा पर लिखने की कोशिश करता हूँ तो लिख नहीं पाता। तो अशोक वाजपेयी की 'दिदिया' कविता को अपनी मान लेता हूँ। अपने न लिख पाने की पूर्ति दूसरों के लिखे से होती है। पढ़ने के लिए क्या अच्छा है दूसरे बताते हैं। जिस किताब पर चर्चा होती है उस तरफ कान जरूर होते हैं। कभी नजर जरूर पड़ती है। कोई ऐसी जुगत नहीं कि संसार भर से छोट कर किताब पा लूँ। ऐसा हो जाए तो भी एक उम्र में अपढ़ रहूँगा। जीने के समय में पढ़ने का समय बहुत थोड़ा होता है। अपने लिखने से जिन्दगी बनती है कि नहीं मालूम नहीं। दूसरों के पढ़ने से जरूर बनती है। सोचता हूँ मेरा बताना तो सवाल है उत्तर नहीं। चुप बराबरी से रहते हैं। छोटे का बोला हुआ छोटा नहीं? जो चुप रहते हैं उन्हें एक साथ बोलना चाहिए और उनका हल्ला होना चाहिए।

योगेश तिवारी : लेखन के शुरुआत में मुक्तिबोध के अलावा जिन साहित्यकारों से आपका गहरा सरोकार रहा उन पर कुछ बताएँ।

विनोद कुमार शुक्ल : परसाई जी के लिए मुक्तिबोध जी ने पत्र दिया था कि मैं उनसे मिल लूँ। जबलपुर में पढ़ता था। उसके बाद जब भी परसाई जी के घर गया, परसाई जी मुझे देखते ही कहते—आओ विनोद। जो लिख रहे होते बंद कर देते। मैं इस बात पर ध्यान देता था कि छूटा-अधूरा वाक्य मेरे आने के बाद पूरा कर लेंगे। पर लिखना बंद कर देते थे। अधूरे वाक्य के साथ लिखना बंद कर देते। उन अधूरे वाक्यों का मैं अपने को अपराधी समझता था और मिलने में संकोच करता था। फिर भी परसाई जी के घर का जो पता था दरअसल धीरे-धीरे वो मेरा भी पता बन गया। एक बार 'कृति' की प्रति मुझे नहीं मिली। परसाई जी ने पूछा। उनके पास आ चुकी थी। तुमने देखी क्या? मैंने कहा—नहीं। कहा—पत्रिकाएँ नहीं मिलतीं। कमरे में डालते नहीं। पत्रिका भी बोर्ड में लगा देते हैं। कोई भी ले जाता है। परसाई जी ने कहा- तुम मेरे पते से पत्र-व्यवहार किया करो। तब से '1533, नेपियर टाउन' मेरा पता हो गया था। जबलपुर में यही मेरा पता रहा।

वहाँ मलय जी से मिलना होता था। परसाई जी के घर के पास ही रहते थे। उनसे मिलना अच्छा लगता था। पत्रिकाएँ मिल जाती थीं। वे उम्र में बड़े हैं। परसाई जी के कारण नरेश सक्सेना मिले। वे इंजीनियरिंग के विद्यार्थी थे। दोनों साइकिल लिए जबलपुर की सड़कों में पैदल कविता पर बात करते हुए रातें बिता देते। सोमदत्त मिले। जबलपुर के शुरू के दिनों में हम सब मिल गए थे। कृषि महाविद्यालय के एक वाद-विवाद के कार्यक्रम में सोमदत्त ने जब बोला था तो बहुत तालियाँ बजीं। सोमदत्त मंच से उतरकर सीधे मेरे पास आकर बैठ गए। मैं सबसे पीछे बैठा था। मुझे अच्छा लगा था। परसाई जी ने हितकारिणी स्कूल में हम लोगों का कविता-पाठ करवाया था। पहली बार नरेश सक्सेना वहीं मिले। नरेश सक्सेना भी कविता पाठ के बाद मेरे पास आकर बैठ गए। ज्ञानरंजन का साथ कुछ बाद में मिला। चाहते तो थे कि उनका साथ हम लोगों को मिल जाए। लेकिन साथ कम मिलता था। नेमिजी, शमशेर जी, श्रीकांत जी, अशोक जी की चर्चा मुक्तिबोध जी बहुत आत्मीयता से करते थे। परसाई जी भी। यह आत्मीयता मेरी भी हुई। परिचय नहीं था। परिचय के बाद यह आत्मीयता मुझमें बढ़ी। शुरुआत में भोपाल के किसी कार्यक्रम में भगवत रावत से जब मिला तो हमेशा का उनका साथ मिल गया। शायद सोमदत्त ने परिचय कराया था।

योगेश तिवारी : 'नौकर की कमीज' (यानी अपना पहला उपन्यास) आपने कब और कैसे लिखना शुरू किया?

विनोद कुमार शुक्ल : 'नौकर की कमीज' एक वर्ष की मुक्तिबोध फेलोशिप में लिखा। सोमदत्त उस समय 'साक्षात्कार' में थे। उनका जोर था कि मैं उपन्यास लिखूँ। 1976 का वर्ष रहा होगा जब यह पहला उपन्यास लिखना शुरू किया। फेलोशिप नहीं मिलती तो शायद उपन्यास कभी न भी लिखता। एक वर्ष की सबेटिकल छुट्टी ली। सोचा पहले टाइपिंग सीख लूँ फिर उपन्यास सीधे टाइप करूँ। छः महीने टाइपिंग इंस्टीट्यूट जाने के बाद भी मैं टाइपिंग नहीं सीख सका। छः महीने कुछ भी नहीं लिखा। हर महीने हजार रुपये मिल जाते थे। सुधा ने कहा भी कि मैं लिख नहीं रहा हूँ तो रुपये वापस कर दूँ। रुपये वापस करना मुश्किल था। खर्च हुए को वापस करना और मुश्किल। तब बचे छः महीने में लिखना शुरू किया और लिख लिया। एक विद्यार्थी की तरह लिखा। चार प्रतियाँ तैयार कीं इसकी, जिसे लेकर शायद 13 फरवरी का दिन रहा जब मैं भोपाल पहुँचा। उसी दिन फेलोशिप का एक वर्ष पूरा हुआ था। सचिवालय, अशोक वाजपेयी को देने गया। याद नहीं शायद, राष्ट्रपति फखरुद्दीन की मृत्यु के कारण उस दिन सचिवालय बंद था। अशोक जी के घर गया। वे खुश हुए थे। बहुत सारे लेखक मित्रों को बुलाकर दो बैठकों में उन्होंने मुझसे पूरा उपन्यास पढ़वाया।

योगेश तिवारी : आप डॉ. जी.पी. श्रीवास्तव के यहाँ 12 वर्ष तक किराएदार रहे। 'नौकर की कमीज' में संतू बाबू भी एक डॉक्टर के किराएदार हैं। क्या संतू बाबू का अनुभव आप का अनुभव भी है?

विनोद कुमार शुक्ल : सबसे ज्यादा जाना पहचाना अनुभव लिखने का आसान और सच्चा रास्ता है। लिखना मन की बात एकांत को बताना है, कि इस बताने को अनुपस्थित सारे लोग एक न एक दिन सुन सकते हैं। यह अनुभव इतना जाना-पहिचाना कि कई बार लगता है कि सब में मैं हूँ। वैसे मेरा अनुभव केवल वही नहीं जिससे मैं गुजरा। मेरा अनुभव तो वो भी जो दूसरों का है जिससे दूसरे गुजरे और मैंने अपना माना। ऊबड़-खाबड़ इन बीचों से रचना जैसी भी हो होकर निकल पाती है।

योगेश तिवारी : जब आपने उपन्यास लिखना शुरू किया तब आपके सामने कौन-सा खाका मौजूद था? कोई खाका था भी या नहीं?

विनोद कुमार शुक्ल : चूँकि उपन्यास ही पहली बार मैंने लिखा। उपन्यास के बारे में उस तरह की पारिभाषिक विवेचना मेरे पास नहीं थी। उपन्यास के नाम पर दूसरे लिखे हुए उपन्यास मेरे पास जरूर थे। लेकिन उनको रचनाकार की तरह मैंने कभी नहीं देखा था। एक पाठक की तरह पढ़ा था। कविता-कहानी मैंने लिख दी थीं, पहले कविताएँ फिर कहानी भी। लेकिन कविता बाद में छपी, कहानी पहले। कृषि महाविद्यालय जबलपुर के प्रथम वर्ष में था। महाविद्यालय की जो पत्रिका निकलती थी उसमें 'नवाब हुजूर' नाम की कहानी छपी थी। 'मध्य प्रदेश संदेश' और शायद 'समाज सेवा' सरकारी पत्रिका निकलती थी, उसमें भी एक-एक कहानी प्रकाशित हुई थी। कविता बाद में प्रकाशित हुई। जब मुक्तिबोध जी ने 'कृति' में भेजी थी। आठ कविताएँ एक साथ प्रकाशित हुई थीं।

दूसरों का लिखा हुआ आपकी एक सीमा भी बनाता है। खुद का लिखा भी कि कम से कम पहले जैसा नहीं। और मुझे उपन्यास के नाम पर कुछ ऐसा लिखना था जो कहानी से बड़ा होता है। इस तरह मेरे पास क्या लिखना है की सीमा नहीं थी। स्वतंत्र था। पर उपन्यास के पाठक होने का अनुभव मेरे पास था, मैंने लिखा और माना कि यही उपन्यास है।

योगेश तिवारी : ब्यूरोक्रेसी का अनुभव खुद का रहा या किसी मित्र-परिचित से सुना?

विनोद कुमार शुक्ल : नौकरशाही के अनुभव के लिए नौकर होने की जरूरत नहीं। यह अनुभव अत्यंत सामान्य, गरीब भी अपने जिंदा रहने में पाता है। इससे बच नहीं सकते। प्राध्यापक होने से पहले कृषि-सहायक रहा। स्कूल में पंद्रह दिन मास्टर रहा। फिर कॉलेज में डिमास्टेटर रहा। कुछ अनुभव तो था। मेरे परिवार के कई लोग सरकारी नौकरी में रहे। 'नौकर की कमीज' के मालखाने के बारे में मैं अपने चचेरे भाई से बात करता था। वे तहसीलदार थे। घर-परिवार में भी दफ्तर की नौकरशाही का अनुभव बच्चों तक को होता है। रोजी-रोटी के लिए भारत की अधिकांश बेकार आबादी एक न एक दिन नौकर होना चाहती है। बेकारी का बड़ा दुख कि नौकर नहीं। बेकारी का भी अनुभव है।

योगेश तिवारी : आपके चौथे उपन्यास 'हरी घास की छप्पर वाली झोपड़ी और बौना पहाड़' को छोड़ दिया जाय तो पहले तीन उपन्यास एक ही कथा की अलग-अलग कड़ी की तरह हैं। क्या ऐसा कुछ है जिसे आप कहना-लिखना चाहते हैं, पर लिखने के बाद लगता है कि जो कहना था वह छूट गया?

विनोद कुमार शुक्ल : 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' को पहले का मान लें। 'नौकर की कमीज' को दूसरा मान लें। 'फिर खिलेगा तो देखेंगे' तीसरा। लिखने में सोचने को एक बचपन छूट गया था, जो 'हरी घास की छप्पर वाली झोपड़ी और बौना पहाड़' में कुछ आ गया। जिसे पा चुके होते हैं दुबारा पाने का एक तरीका लिख लेने में है। वैसे बिना मरे मैंने मृत्यु पर कविताएँ लिखी हैं। मृत्यु के बाद कैसे लिखता!

लेखे में लेखक का जीवन होता है। आत्मकथात्मकता को छू भी रहा होता है। कविता में 'मैं' से मैं नहीं बच सका। उपन्यास में भी। 'मैं' में किसी दूसरे की बात भी अपनेपन से उसी तरह कहते हैं जैसे अपनी बात, यानी मेरी। 'वह' कम होता है। मैंने पात्रों की भाषा को लेखक की भाषा रखा है। उदाहरण के लिए जैसा पानवाला बोलता है वैसा नहीं। लेखक का बोला हुआ पानवाले का बोला हुआ है। कई बार लेखक ही अलग-अलग पात्र होता है। मैं नाटक लिखूँ तो भी यही होगा शायद। पर निर्देशक वैसा न करे। 'दीवार में एक खिड़की

रहती थी' में साधू और रघुवर प्रसाद लेखक की तरह बोलते हैं। हूबहू में मुझे विश्वास नहीं। यथार्थ को फोटो की तरह नहीं। जब यथार्थ को छानते हैं तो निचोड़ में रचनात्मकता उसे बदल देती है। लिखने के पहले लेखक के सामने कुछ नहीं होता। फिर होना बंजर में घास की तरह उगता है। इस होने के बाद उगी घास लेखक की सहायता करती है। उगने के पहले नहीं। लिखे जाने का अंतिम तक, प्रतीक्षा के रूप में कहीं उपस्थित रहता है।

लेखक पात्र को तैयार करता है, पहले अपने अनुसार। बाद में पात्र लेखक के ऊपर हावी होने लगते हैं, गढ़े जाने की परिपक्वता में समर्थ होने लगते हैं। लेखक को कई बार उनके अनुसार चलना पड़ता है, पीछे। अंतिम स्थिति दोनों के समझौते से है।

योगेश तिवारी : शहरों में संयुक्त परिवार टूटा। एकल परिवार टूटा। अब तो बड़े शहरों में पति-पत्नी के बीच भी टूटन दिखने लगी है।

विनोद कुमार शुक्ल : पहले जिन्दगी जीना परिवार के साथ था। साथ का जीना कठिन नहीं था। मिलकर जीने में सहूलियत थी। घर पहले भी छोटे होते थे पर उसमें समाते बहुत लोग थे। इकट्ठे रहने में रिश्ते रहते हैं। पड़ोस घर के बहुत नजदीक होता। इतने करीब कि घर और पड़ोस में अंतर नहीं था। अब पड़ोस कहीं दूर चला गया। जब भी पड़ोस दूर जाता है, अपने साथ घर को तोड़कर ले जाता है। गाँव, शहर, कस्बे के भूगोल बदलने से समय भी बदल जाता है। जबकि समय एक है। रायपुर में हूँ तो मेरे पास मेरा समय समीप है। दूरियाँ कम हैं। जाकर जल्दी लौट आते हैं। घर में सब अधिक समय के साथ हैं। यहाँ ठहराव है, जीवन धीरे-धीरे बीतता है। शहर में जीवन जल्दी बीतता है। समय का यह एहसास, रिश्तेदारी को, हमारे रहने को, हमारे होने को बदल देता है।

योगेश तिवारी : 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' के कथा की जगह अगर शहर होता तो उस तरह की कथा नहीं बनती। बहुत सारे लोगों को रघुवर का हाथी पर बैठ कर जाना अस्वाभाविक लगता है। ऐसे लोगों को 'खिड़की की दुनिया' तो पूरी ही अस्वाभाविक लगती है। कई लोग आप के लिखे पर लिखते हुए कहते हैं कि विनोद जी ने जादू की या जादू से एक दुनिया बना-बसा दी है जो हकीकत में न है न हो सकती है।

विनोद कुमार शुक्ल : जादुई दुनिया नहीं हकीकत में सुख की दुनिया कहना चाहिए। यथार्थ के सच के पीछे लोग हाथ धोकर पड़े हैं। जबकि अधिकतर यथार्थ जानलेवा हो जाता है। यथार्थ को सहज बनाते हैं जब कल्पना या फैंटेसी का साथ लेते हैं। सुख की फैंटेसी कई बार नशे की तरह यथार्थ के दुख को भुला देती है। बार-बार यह मान कर चल पड़ते हैं कि बहुत खराब समय के बाद एक दिन अच्छा समय आएगा। रुकते नहीं। चल पड़ना महत्वपूर्ण है। दुख के मारे को सब ठीक हो जाएगा कहकर फैंटेसी देते हैं। खुद अपने को, सब ठीक हो जाएगा की फैंटेसी देते हैं। सब ठीक हो जाएगा की कल्पना हमारे साथ न हो तो कभी-कभी का दुख हमेशा का दुख हो जाए। ऐसे में ठीक से मर नहीं सकते।

योगेश तिवारी : मुक्तिबोध के यहाँ फैंटेसी एक दूसरे रूप में है। आपने फैंटेसी का दूसरा पहलू लिया है।

विनोद कुमार शुक्ल : 'जो है उससे बेहतर चाहिए' की तरह 'सब ठीक हो जाएगा' भी है। मुक्तिबोध जी के यहाँ 'अच्छा होगा' की फैंटेसी की कमी नहीं है। मुक्तिबोध बार-बार गहरे अँधेरे के बाद उजाले का एक कोना कहीं जरूर छोड़ देते हैं। वही शमशेर के यहाँ भी है। हाँ, शमशेर के साथ और भी बहुत से रंग हैं। सिर्फ अँधेरा नहीं।

मुक्तिबोध के साथ मैंने शमशेर को समझने की कोशिश की। शमशेर की कविता थी

‘कथई गुलाब’। वह रंग की कविता थी। कविता का रंग छूटकर लग जाता है। शमशेर की कविता को पढ़ना जिन्दगी के साथ होली खेलना है।

योगेश तिवारी : बौने पहाड़ के भीतर एक फैंटेसी की दुनिया है। ‘दीवार में एक खिड़की रहती थी’ की खिड़की की दुनिया भी एक फैंटेसी है।

विनोद कुमार शुक्ल : फैंटेसी सभी उपन्यासों में करीब-करीब है। मैं फैंटेसी को बहुत स्वाभाविक मानता हूँ। मेरी फैंटेसी मेरा दूसरा यथार्थ है। सब ठीक हो जाएगा की आशा में मैं अपने को और अपनों को बचाता हूँ। सब ठीक हो जाएगा एक फैंटेसी ही है। फैंटेसी मुझे बचाती है। बड़ी चाची, बिट्टन जिज्जी भूत-प्रेतों की कहानियाँ सुनाया करती थीं। भूत-प्रेतों से डर लगता था। मेरे बचपने के आधे में तो बहुत बचपना था। और बाकी आधा ऐसे यथार्थ का था कि जिसमें मेरा बचपना नहीं था। मैं यथार्थ में बचपने को जी नहीं सका। जानलेवा यथार्थ से बचने के लिए अपनी एक फैंटेसी बनाकर रखनी चाहिए। बल्कि पागलपन की हद तक बनाकर रखनी चाहिए। फैंटेसी की ताकत से दुख के यथार्थ से जूझ सकते हैं। एक झूठे सुख को बड़े दुःख को मारने का हथियार बना सकते हैं। इससे यथार्थ में एक दिन सचमुच का हथियार भी पा सकते हैं।

योगेश तिवारी : ‘दीवार में एक खिड़की रहती थी’ में एक ‘बूढ़ी अम्मा’ हैं। आपने कहीं किसी को देखकर इस चरित्र का गठन किया है?

विनोद कुमार शुक्ल : जब मैं परिवार की बात सोचता हूँ चाहे वह संसार हो, जब तक कोई बूढ़ा न हो, वह मुझे अपूर्ण-सा लगता है। मुझे वही परिवार, परिवार जैसा लगता है, जहाँ बूढ़े-बूढ़ी और बच्चे, किशोर हों, लड़कियाँ हों। संयुक्त परिवार में मेरा बचपन बीता है। बहुत से बड़े, बूढ़े, बच्चे थे। पाँच चाचाओं का भरा-पूरा परिवार था। बाबा, अजिया, बापजी, चाचाजी, बड़े भैया, छोटे भैया इस तरह रिश्तों का होना परिवार है। हम अपनी पीढ़ियों के साथ रहने में कम होने लगे हैं। घर से पीढ़ी पड़ोस में चली गई। घर में बमुश्किल पति-पत्नी। पीढ़ियों के साथ को भूलने लगे तो हमने अपने वर्तमान को छोटा किया। पहले का वर्तमान बड़ा होता था। बूढ़ों के कारण उसमें काफी हिस्सा भविष्य का भी शामिल हो जाता था। काफी हिस्सा बीता हुआ भी। समय और काल में हम काफी संकुचित हो गए। हमारा वर्तमान सीमित हो गया। बूढ़े और बच्चे अपने-अपने समय के साथ इकट्ठे रहते हैं। हमारे लिए अतीत कम पड़ जाए तो हमारे बुजुर्ग अपना अतीत हमारे पास रख देते हैं। रचना में बूढ़े नहीं हैं तो जान-बूझकर उपस्थित करता हूँ।

योगेश तिवारी : रघुवर प्रसाद दोनों हाथ से लिखते हैं। ये कहाँ से लिया आपने? किसी को देखा था या पढ़ा-सुना था।

विनोद कुमार शुक्ल : बाद में मुझे मालूम पड़ा था कि गाँधीजी भी दोनों हाथों से लिखा करते थे। कई बार बहुत चकित हो जाता। जैसे घर पर रेडियो में बहुत अच्छे गाने को सुनते हुए मैं घर से बाहर निकलता। जाने की दूरी तक घरों से आते उस गाने को मैं सुनता रहता। आश्चर्य होता था कि गाना मेरे साथ चला। तब रेडियो बहुत से घरों में बजते थे। कई बार बजना नहीं होने के बाद भी बजना सुनाई देता है। वैसे दोनों हाथों से लिखने की पहले मैंने भी कोशिश की। बहुत से लोग करते हैं।

योगेश तिवारी : हाथी और साधू पर आप की टिप्पणी।

विनोद कुमार शुक्ल : कृषि महाविद्यालय जहाँ मैं पढ़ाता था आठ किलोमीटर दूर था। ऑटो का रास्ता देखते हुए उस तरफ जाता हुआ कभी-कभी हाथी दिख जाता था। मेरे मन

में आता था कि उस पर बैठकर चला जाऊँ। मैं नहीं बैठा पर गाँव के लोग एकाध बार बैठ जाते। ऐसा कभी नहीं हुआ कि हाथी बिना साधू का हो। जब भी हाथी दिखा साधू के साथ दिखा। रघुवर प्रसाद के महाविद्यालय आने-जाने में, मेरे स्वभाव का थोड़ा अतिक्रमण था। मैं हाथी पर नहीं बैठा पर रघुवर प्रसाद बैठे। कुछ तो वैसा ही और कुछ वैसे का थोड़ा अतिक्रमण। यह अतिक्रमण मन की इच्छा के समीप होता है। मन ही मन की इच्छा की पूर्ति। लिखते समय स्थितियाँ दूर तक बिखरी थीं। लिखने के बाद भी बिखरी होती हैं। जितना हो सके इकट्ठा करना था। दांपत्य के सुख से इस उपन्यास को भर देना चाहता था। यह भराव अंतहीन होता है। इसलिए होता हुआ होने से छूट गया। दांपत्य का सुख एक सुख को बार-बार दोहराने का सुख है। इसको दोहराना ही नया है।

योगेश तिवारी : सोनसी नाम जो आपने गढ़ा है, उस पर कुछ बताएँ।

विनोद कुमार शुक्ल : छत्तीसगढ़ी में एक शब्द है 'सनसी'। सनसी पतली गली के लिए कहा जाता है। इसका उच्चारण बहुत से लोग ठीक से करते नहीं। इस उच्चारण से मुझे 'सोनसी' जैसा एक उच्चारण मिला। जिसे मैंने 'सोने-सी' जैसा सोचकर लिया। उच्चारण में मुझे यह नाम बहुत अच्छा लगा। 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' की जिस तरह की पत्नी है, उसके लिए। सोनसी नाम की गूँज उपन्यास में कुहू-कुहू की तरह है।

योगेश तिवारी : 'खिलेगा तो देखेंगे' अपने लिखे में आपका प्रिय उपन्यास है, क्यों?

विनोद कुमार शुक्ल : उसमें जितनी छूट मिलनी चाहिए लिखने की, मैंने ली। यह छूट अतिरिक्त स्वतंत्रता थी। थोड़ी अधिक। इस अधिक का वैसे मुझे संपादन करना था। जो मैंने नहीं किया। औपन्यासिक दायरा-पिंजरे में बंद रचना नहीं ! रचना को 'खिलेगा तो देखेंगे' के (लिए) जंगल में छोड़ दिया था।

योगेश तिवारी : कुछ पद आपके लिखे में बार-बार आते हैं। पत्नी, पेड़, पड़ोस, मित्र, आकाश आदि।

विनोद कुमार शुक्ल : पत्नी, पेड़, पड़ोस, मित्र, आकाश ये तो होने की तरह हैं। हमारी पहिचान की तरह हैं। हमारी उपस्थिति। आकाश की तरफ यह सोच कर नहीं देखते कि उसकी तरफ देखना है। जिससे बरसों से नहीं मिले उसे देखने के लिए भी आकाश को देख लेते हैं। हर जगह नीला आसमान है। अपनी दृष्टि से मैं पेड़ को कभी हटा नहीं सका। इनके साथ मैं इस तरह घुल-मिल गया हूँ कि ये सब मेरी इच्छा हैं और इनकी इच्छा में एक मैं हूँ। मेरे होने के माध्यम के ये उदाहरण हैं। मेरे जिंदा रहने के गवाह कि मैं मरा नहीं। मैं अपने आसपास के साथ हूँ। आसपास से मैं कैसे अलग हो सकता हूँ। आसपास रचना में मेरा साथ देते हैं। यदि मैं सोचूँ कि मेरे पास इतना एकांत होना चाहिए कि उसमें एक चिड़िया की आवाज भी न आए। तो मैं ऐसा एकान्त नहीं चाहूँगा। पर मैं उतना एकांत जरूर चाहूँगा कि चिड़िया की आवाज भी सुनाई दे। कोई आदमी नजर न आए लेकिन पेड़ तो नजर आए। प्रकृति मेरे साथ इसी तरह से होती है जैसे कि मेरे साथ मैं हूँ।

योगेश तिवारी : आपके लिखे में चाँद बार-बार आता है। कई तरह से आता है। अलग-अलग रूपों में।

विनोद कुमार शुक्ल : चाँद से छुटकारा पाना बहुत मुश्किल है। मेरा भुलक्कड़ी का स्वभाव भी इसे भुला नहीं सकता। अनंत खुलेपन का साथी। घर के अंदर सोने के पहले खिड़की से दिख जाता है तो लगता है, दुनिया सुरक्षित है।

योगेश तिवारी : आपके उपन्यासों में कुछ ऐसी चीजें आती हैं जो कोडिंग जैसी लगती

हैं। जैसे 'खिलेगा तो देखेंगे' में लकड़ी की बंदूक से ठाँय कहने पर मर जाना। पान के पत्तों में एक ऐसा पत्ता मिला देना जिससे 'ठाँय' न निकले मुँह से। तीन सयाने। आदि। इन कोडों को कैसे खोला जा सकता है?

विनोद कुमार शुक्ल : अगर ये कोड हैं तो कोड खोलने का तरीका मैं नहीं जानता। जब मैं लिख रहा होता हूँ, तब एक हिस्से में बँटकर लेखक के तौर पर होता हूँ पर मेरा आलोचक भी मेरे साथ होता है। मेरे लेखक होने में दूसरे लेखक मुझे लेखक और अपने लिखे का आलोचक भी बनाते हैं। पाठक होने में मैं स्वयं कठोर हूँ। मैं लोगों और पाठक से अलग नहीं। आलोचक को मैं इस तरह से नहीं जानता, कि उसे मेरा लिखा हुआ अच्छा लगेगा। पाठकों को नहीं जान सकता। अपने लिखे की जानकारी कभी-कभार पाठकों से नहीं के बराबर है। लेकिन जो कुछ भी मुझसे तय होता है, मेरे तय करने में दूसरे सहायक होते हैं। पर उनका हस्तक्षेप नहीं होता। इस तरह जब मैं लिखता हूँ तो अपनी छन्नी से निकलने की कोशिश जरूर करता हूँ कि जो कुछ मेरा कचरा है उसे पहले खुद ही साफ कर लूँ। उस छन्नी से निकलने के बाद मैं वैसे ही निकलता हूँ जैसे घर से निकलता हूँ कि नहा लिया। साफ कपड़े पहन लिए, जो मेरी समझ या हैसियत के हैं। उसके बाद भी अगर मेरे कपड़े खराब लगें, अच्छे न लगें तो मैं क्या करूँ! मेरे लिखने में धब्बा दिखे तो मैं क्या करूँ!

मेरी यह ढीढता है कि किसी दूसरे को पढ़ता हूँ तो अपने रचनाकार को अलग नहीं कर पाता। मुझको बार-बार ये लगता है कि शायद वह बहुत पीछे किसी कोने में छिपा रहता है कि मैं लिखता तो कैसा लिखता? दूसरे का अच्छा लिखा हुआ पढ़ने के बाद मगन होकर मैं कुछ देर पढ़ना बंद कर देता हूँ। तब बैठे रहना अच्छा नहीं लगता। मैं चहलकदमी करने लगता हूँ। खुश हो जाता हूँ। किसी दूसरे से बात करने की बिल्कुल इच्छा नहीं होती कि अच्छा लगने का एहसास खो न जाए। पर अपनी रचना का मैं संतुष्ट लेखक और पाठक नहीं हूँ। मैं बार-बार अपनी रचना को लिखना चाहता हूँ। सारी जिन्दगी एक ही रचना लिखना चाहता हूँ। लेकिन पिछले लिखे को मिटाकर नहीं। मैं जहाँ भी लिखना समाप्त करता हूँ वहाँ असमाप्त बहुत-सा बचा होता है। कोई कविता ऐसी नहीं जो समाप्त पूरी हो। रचना असमाप्त पूरी होती है। दूसरी रचना शुरू होती है तो एक-आध जोड़ सिलसिले में जरूर होता है। पर पहले का लिखा हुआ दूसरे लिखे हुए के साथ इस तरह नहीं कि फिर लिखा गया।

यदि कल्पना करता हूँ तो मेरा कल्पना करना यथार्थ है। यद्यपि कल्पना यथार्थ नहीं। मैं यथार्थ से कभी दूर नहीं। मालूम को जीता हूँ। नामालूम को भी जीता हूँ। मेरा कल्पना करना मेरा सच है।

छुटपन में न मालूम कितनी बार हमने लड़ाई का खेल खेला है। खुद ठाँय बोलते थे। खुद गोली लगने से गिर जाते। खेल में यही सचमुच होता है। लकड़ी की तलवार से लड़ते। लकड़ी की बंदूक से जिसे निशाना लगाते, ठाँय कहते वह गिर जाता। बड़े हो जाने की पूरी समझदारी में भी कुछ न कर सकने की असहायता में मन में आ जाता है कि जो बुरा है उसे एक इशारे जैसी उँगली की नली से ठाँय कर दूँ और वह मर जाय। बुरे आदमी की ठाँय को मैं किसी तरह रोक दूँ।

अफ्रीका के जो आदिवासी थे, अंग्रेजों को लगता था कि जेल में ये बंद आपस की बातचीत से भी क्रांति को फैला सकते हैं। गुलाम कोई बात न करें। किसी दूसरे को कुछ न बता सकें इसलिए उनको 'डायफन बेकिया' की पत्ती खिला देते थे। जिससे उनकी जबान को लकवा मार जाता था। 'खिलेगा तो देखेंगे' में सिपाहियों की ठाँय बोलने की बंदूक से डेहरीन को बचाना

था। सिपाहियों के पान में यही डायफन बेकिया की पत्ती थी। उनकी जबान को लकवा मार जाता है। और डेरहिन बच जाती है। उसका प्रेम बच जाता है।

योगेश तिवारी : आप कविताओं का शीर्षक नहीं देते।

विनोद कुमार शुक्ल : कविता का शीर्षक, कविता से थोड़ा हटकर ऊपर दिया जाता है। मुझको लगता है कि यह हिलते हुए सिर की तरह है। कविता के साथ जुड़ा हुआ नहीं कटे हुए सिर की तरह। शीर्षक में कविता अर्थों में बंद और सीमित हो जाती है। शीर्षक कविता का ढक्कन है। शीर्षक से मान लिया जाता है कि इसे कविता में सिद्ध किया गया होगा। इसी के अनुसार इसी के इर्द-गिर्द कविता है। जैसे कविता की सार्थकता शीर्षक है।

पाठक को इतनी छूट देनी चाहिए कि वह अपनी स्वतंत्रता के साथ रचना में शामिल हो। रचना की सीमा में कैद होने की बाध्यता पाठक में न हो।

मौखिक परम्परा में भी रचना अपने शीर्षक के साथ नहीं होती होगी। भूमिका हो सकती है। भूमिका कविता का हिस्सा नहीं है। शीर्षक कविता का हिस्सा है।

योगेश तिवारी : आपने अपनी एक अलग भाषा गढ़ ली है। यह कब और कैसे संभव हुआ? कहीं पहले इस तरह की भाषा का कोई सूत्र मिला था क्या आपको?

विनोद कुमार शुक्ल : मैंने क्या गढ़ा, भाषा तो दूसरों से मिलती है। दूसरों से मिली भाषा का पूरा उपयोग भी नहीं कर पाते। कोई नहीं कह सकता कि उसने भाषा का पूरा उपयोग किया। सभी बने शब्द न तो पढ़ पाते हैं न बोल पाते हैं। जो एक भी शब्द बोल नहीं पाता वह गूँगा होता है तो थोड़े बहुत गूँगे सभी होते हैं। मैं कुछ अधिक गूँगा हूँ। एक तो मैं हिन्दी का उस तरह से विद्यार्थी नहीं रहा। बाबा उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले से नाँदगाँव आए थे। घर में बैसवाड़ी बोली जाती थी। खड़ी बोली भी बोली जाती, छत्तासगढ़ी भी। मिला-जुला स्वरूप था भाषा का। साहित्य की पत्रिकाएँ घर में आती थीं। 'चाँद', 'माधुरी', 'सरस्वती' आदि। मेरे लिखने में भी ऐसा शब्द नहीं है जिसके लिए डिक्शनरी देखनी पड़े। स्थानीय शब्दों के लिए किसी को अटकना पड़े शायद। मेरी भाषा बोली की है। वही लिखने की भाषा भी। यह मेरी असमर्थता है कि मैंने हजारों शब्दों का लिखने-बोलने में उपयोग नहीं किया।

योगेश तिवारी : बातों को कहने का तरीका भी एकदम नया है। वाक्यों का गठन अनूठा होता है।

विनोद कुमार शुक्ल : जब हम लिखने की कोशिश करते हैं तो शतरंज की तरह अभिव्यक्ति को पाने की बिसात बिछ जाती है। इस कोशिश में दूसरा हमारा साथी नहीं होता, अपने से ही जूझते हैं। अभिव्यक्ति पाने की कोशिश शब्द को हटाकर, शब्द को रखकर, वाक्य को बदलकर होती है। रचना में शब्द को पाना एक कठिन काम है। कठिन इसलिए कि आप शब्द को स्वाभाविकता में पाने की कोशिश करते हैं। उसी तरह अभिव्यक्ति को गढ़ते नहीं, पाने की कोशिश करते हैं। जो कहना चाहते हैं उसको शब्दों से गढ़ते नहीं, शब्दों से खोलने की कोशिश करते हैं। जो बताना है उसे बताना चाहते हैं। रचना के शब्द खाली डिबिया की तरह नहीं इसमें न मालूम कितने अर्थ, दृश्य, अनुषंग भरे जा सकते हैं। बातचीत में भी मुझसे शब्द बिखर जाते हैं। जो बात मैं कहना चाहता हूँ उस बात को मैं सँभाल नहीं पाता। कहने के पहले मिट्टी के बर्तन की तरह बात मुझमें टूटकर शब्दों में बिखर जाती है। और इस बिखर जाने में मेरा ध्यान चला जाता है। बेतरतीब एक-एक टुकड़े की तरह एक-एक शब्द कहने की कोशिश करते हैं। जाने-पहिचाने तरीके में एक उथल-पुथल होती। शब्द आगे-पीछे होने लगते हैं। भाषा की उथल-पुथल में वाक्य तो होते हैं पर शब्द पूर्व या परम्परा निर्धारित जगह से हटे हुए।

सिर्फ अभिव्यक्ति की दिशा नहीं बदलती कि अभिव्यक्ति उस तरफ है। व्याकरण की थोड़ी बहुत अनदेखी तो हुई होगी। भागदौड़ में अर्द्ध विराम न भी होता हो। थोड़ा सुस्ताने का मैंने समय न लिया हो। और पूर्णविराम ज्यादा ले लिए हों। मुख्य कोशिश तो अभिव्यक्ति की दिशा की तरफ जाने का है।

योगेश तिवारी : रेणु का 'मैला आँचल', श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' दोनों में, खासकर 'मैला आँचल' में पात्रों की जो भाषा है उन पर आंचलिकता की छाप है। बल्कि गहरा रंग है। उनका 'टोन' भी पूरी तरह उनके अनुकूल है। आलोचना में भी रचना में पात्रोनुकूल भाषा को सराहा जाता रहा है। बल्कि इसे एक कसौटी की तरह इस्तेमाल किया जाता रहा है। पानवाला पानवाले की तरह ही बोलेंगा। रिक्शेवाला रिक्शेवाले की तरह व्यवहार करेगा। ड्राइवर की भाषा ड्राइवर जैसी ही होगी। आपकी रचनाओं में यह बात नहीं है। इसके बावजूद आपके पात्रों में अस्वाभाविकता भी नहीं है। आपने पात्र और भाषा के बीच की खाई को पाटने का काम किया है।

विनोद कुमार शुक्ल : हमेशा के हूबहू से जिन्दगी में भी ऊब चुके हैं। यथार्थ को छोटा या बड़ा दिखाने के बदले लेंस को कुछ नतोदर या उन्नतोदर होना चाहिए। जिससे यथार्थ टेढ़ा-मेढ़ा दिखे कि लेंस में मैं अपने को देखूँ तो जोकर दिखूँ। यथार्थ जोकर दिखे। चीजें हट कर दिखें। भारी-भरकम यथार्थ को सरका कर आगे पीछे के जाले और धूल को कभी-कभी साफ करने की कोशिश करनी चाहिए। जैसे बरामदे का मोटा तख्ता हटाकर पोंछा लगाते हैं।

योगेश तिवारी : आप जब लिखते हैं तब आपके सामने कोई होता है या स्वांतः सुखाय लिखते हैं?

विनोद कुमार शुक्ल : स्वांतः सुखाय तो मैंने कभी नहीं लिखा। लिखे हुए को किसी को बता देने का सुख तो पहली कविता के साथ भी था लेकिन दुख को लिखने में मुझे सुख नहीं मिलता। दुख सहने की ताकत बढ़ जाती है, दुख से लड़ने की ताकत आ जाती है। यह तो रहता है कि जो लिखा जाएगा वह पढ़ा भी जाएगा। कौन पढ़ेगा, यह नहीं जानता। इसलिए स्पष्ट कुछ नहीं होता। लेकिन तब भी कुछ होते हैं जिनके बारे में लगता है कि मेरी रचना पढ़ी या नहीं। लिखा हुआ पढ़ा जाए, यह कहीं न कहीं मन में होता है। प्रत्येक के साथ होता है। मैं तो यह चाहूँगा कि अच्छी पत्रिका में छपूँ। मुझे लगता है कि मैं लघु पत्रिका में अधिक छपूँ।

जो यह कहा जाता है कि साहित्यकार एक-दूसरे को आपस में पढ़ते और चर्चा करते हैं, यह ठीक है। इसमें बुरा कुछ नहीं है। मैं अपने को पाठक पहले मानता हूँ लेखक बाद में। हिन्दी में पाठक का संसार नहीं बसा। कुछ लोग इधर-उधर हैं। जिस तरह रचना का विरोध होता है, उससे रचना के पाठक कम हैं।

आदर्श पाठक के रूप में मेरे सामने लेखक जरूर होते हैं। मैं पाठक हुए बिना लेखक नहीं। यह लगता है कि मेरी रचना नामवर जी शायद पढ़ लें। अशोक वाजपेयी पढ़ लें। केदार जी, विष्णु खरे, भगवत रावत, ज्योत्सना जी, अरुण कमल पढ़ लें। सारे रचनाकार पढ़ लें। किसी की प्रतिक्रिया कौन कितनी जान पाता है। पर कभी- कभी जान पाता हूँ। और युवा लेखक भी पढ़ें। मैंने अपने आप को लेखन की बुजुर्गियत में शामिल नहीं किया। दरअसल लेखन के मामले में उस तरह की परिपक्वता नहीं कि आप लंबे समय से लिख रहे हैं। रचना प्रक्रिया में अपनी रचना का जो मैं पाठक, आलोचक और लेखक हूँ उसे हर बार नौसिखियापन के साथ लिखने में युवा होना पड़ता है। रचना उसी तरह लिखी जाती है कि पहले नहीं लिखी

गई। रचना उस्तादी के साथ नहीं लिखी जाती। खेल में तो कोच या उस्ताद तब होते हैं जब खेलना बंद हो जाता है।

योगेश तिवारी : आधुनिकता का प्रतिविमर्श या उत्तर-आधुनिकता जैसे कोई विचार लिखते समय आपके ध्यान में होते हैं क्या?

विनोद कुमार शुक्ल : यह सब मैं लिखते समय जानता नहीं। नया का विरोधी मैं नहीं। जिस तरह की जैसी आधुनिकता रहने-खाने में धनी लोगों में है वैसी आधुनिकता मीडिया में दिखती है। पहनने-ओढ़ने में, खाने-पीने में मैं पुराना हूँ। आधुनिकता के नाम पर पाश्चात्य हमारी परम्परा को खारिज कर हमारे द्वारा ही हावी होने लगता है। जबकि आधुनिकता का पर्याय पाश्चात्य का वर्तमान नहीं। मिले अनुभव की जो आदत पड़ गई उससे तत्काल कुछ नहीं बदलता। वैज्ञानिक सत्य और सत्य लगने वाले विचार स्वीकार हो जाते हैं। विकल्प और विमर्श की संभावना रहती है। आधुनिकता की समझ परम्परा से होती है। भौगोलिकता विभाजित होती है तो परम्परा आसानी से विभाजित नहीं होती। विभाजन से शरणार्थी हुए जैसे लोगों में भी जिनके पास कुछ नहीं बचा होता, पूरी परम्परा बची होती है। बाजार हमेशा परम्परा का विरोधी रहेगा। पर बाजार में परम्परा की एक छोटी-सी दुकान मनहारी जैसी जरूर होगी जिसमें आलता, टिकुली, होरसा, बेलन, लाख की चूड़ी इत्यादि बिकती हो। यह दुकान पुराने इलाके में होगी। मेरे आँगन में दीया जलता है।

योगेश तिवारी : 'हिंद स्वराज' में व्यक्ति पर जोर है। नैतिकता पर जोर है। आपके उपन्यासों में भी व्यक्ति पर जोर है। कोई नारेबाजी नहीं है। जीवन जिया जा रहा कि जीवन इस तरह भी जिया जा सकता है का उदाहरण। गरीबी के बावजूद हम सुखी हो सकते हैं का उदाहरण। 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' उपन्यास में तो ऐसे उदाहरणों का मेला लगा है।

विनोद कुमार शुक्ल : दूसरे को दुखी किए बिना, सुख मनुष्य का अधिकार है। अगर कोई जान-बूझकर हमको सुखी होने से रोकता है तो जान-बूझकर हमको सुखी होना चाहिए, उसके रोकने को हमें रोकना चाहिए। सुख छोड़कर हम जीना नहीं छोड़ सकते। हमें जीना है और साथ जीना है। हम अपने व्यवहार के सुख को तो छोड़ नहीं सकते। हम अपने स्पर्श के सुख को तो छोड़ नहीं सकते। जो कुछ भी हमारे पास है उसको बाँटने का सुख हम नहीं छोड़ सकते। अपने हक को पाने का सुख हम नहीं छोड़ सकते। सुख के रास्ते पर साथ की भीड़ होनी चाहिए। और चल पड़ना चाहिए।

'खिलेगा तो देखेंगे' तब लिखा जब 'निराला सृजन पीठ' में था। उन दिनों मेरी तबीयत खराब रहती थी। ठीक से खा नहीं पाता था। दस सालों से मुँह के छालों से परेशान था। पानी पीते हुए लगता था कि गले में और पेट में भी छाले हैं। पानी का पीना लगता था। मैं अकेला था। मैंने अपने पात्रों को अपना परिवार बना लिया था। उनके साथ रहने लगा था। अच्छा लगता था। 'खिलेगा तो देखेंगे' त्रासदी का उपन्यास है। अँधेरे में देर तक रहो तो थोड़ा दिखने भी लगता है। अँधेरे में ऐसा दिखना उजाला नहीं होता। इस विराट अँधेरे में चिनगारी भर का उजाला हो सकता है। अँधेरे में आग लगाने का उजाला हो सकता है। कंदील के उजाले को तो पालतू बनाया जा सकता है कुछ अँधेरे की दूरी तक जाने में। जहाँ जाऊँ उसे लेकर जाऊँ। किसी की छोड़ी एक टुकड़ा मोमबत्ती को फिर से जला लूँ। सोचा 'सुख' का एक उपन्यास लिखूँ और 'दीवार में एक खिड़की' लिखा गई।

योगेश तिवारी : गगन गिल से बातचीत (बहुवचन) में भी इस तरह का जिक्र है।

विनोद कुमार शुक्ल : मैं सुधा, बच्चों के साथ जगन्नाथ पुरी गया था। लौटते समय

गलती से बिलासपुर में सुपरफास्ट ट्रेन में बैठ गए। बिलासपुर में गाड़ी बदलनी पड़ती थी। रायपुर लौट रहे थे। मेरे पास रायपुर तक का मेल का टिकट था। जिस गाड़ी में थे, उससे शाम सात बजे तक रायपुर पहुँच जाते। जब टी.टी. आया तो उसने पैसे माँगे। पैसे हमने नहीं दिए। भाटापारा में उतरने के लिए उसने कहा, उतर गए। भाटापारा छोटा-सा स्टेशन है। उस समय बहुत छोटा। वहाँ पास में एक गरीब सुंदर स्त्री बैठी थी। चार बच्चे थे उसके। गरीबी उसकी सुंदरता को बिगाड़ नहीं पाई थी। हँसती तो अच्छा लगता था। केले जो गरीबों के होते हैं। काले, गले होकर भी बिकते हैं। उसने एक केला खरीदा। चार हिस्से किए और बच्चों को दिया। वह दुखी नहीं लगी। मुझे दुख हुआ। और अपने ऊपर तरस आया। 'लाउड' लिखना कई बार अपने ऊपर तरस खाना होता है। जितना लाउड होते हैं लगता है अपने ऊपर अधिक तरस खाते हैं कि लिखने के सिवाय क्या किया?

'दीवार में एक खिड़की रहती थी' उपन्यास मैंने लिखा और मैंने सोचा इस उपन्यास में दांपत्य के सारे सुख भर दूँगा। यह एक अत्यंत साधारण के दांपत्य के सुख का उपन्यास है।

योगेश तिवारी : 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' का समर्पण भी 'पत्नी के लिए' है। साहित्यिक मित्रता पर क्या कहेंगे आप?

विनोद कुमार शुक्ल : मैंने सबका आदर किया है। चाहे वह छोटा क्यों न हो। मुझमें इस तरह का बड़प्पन नहीं आया कि दूसरे मुझे छोटे लगे। मैं चाहता कि आलोचक हैं तो उनके आलोचक बने रहने की दूरी बनी रहे। मैंने समीपता पाकर दूरी को पाटने की कोशिश नहीं की। मेरा कोई मित्र नहीं है। मुझे लगता है कि मित्रता कोई बचपने की चीज थी। बाद में नहीं दिखी। परंतु पूरी कोशिश की कि मेरा कोई दुश्मन न हो। लेकिन साहित्य में मित्रता, सामान्य शिष्टाचार की मेल-मुलाकात है। अधिक होने पर गुट समझ लिए जाते हैं। जहाँ अच्छा लगता वहाँ मैं रहा। जिस पत्रिका में मुझे रचना भेजना होता है मैं भेज देता हूँ। कम लिखता हूँ इसलिए कम भेज पाता हूँ। मैंने किसी का अपमान नहीं किया। पर मैं कहीं जाने और मिलने में शंकालु हूँ। अकेले में अपमानित होना बहुत दुखदायी है। इतने खौफनाक दौर में भी अजनवियों से मिलना ज्यादा सुरक्षित है। सार्वजनिकता में अजनबी अधिक होते हैं।

योगेश तिवारी : विवाह आपका कब हुआ?

विनोद कुमार शुक्ल : विवाह देर से हुआ। देर से मतलब परिवार की सृष्टि में कि मेरी उम्र तीस वर्ष हो गई थी। शादी करने से बचता था। एक तो लगता था कि परिवार में खर्च का सामर्थ्य शादी के बाद समाप्त या कम हो जाए। पिता नहीं थे। चाचाजी जोर देते थे। जीजाजी बार-बार कहते थे। उनको लगने लगा था कि मैं कहीं और शादी करना चाहता हूँ। लेकिन ऐसा कुछ था नहीं। होता तो भी किसी भी जाति की लड़की के साथ बिना दहेज के मेरी शादी करने के लिए तैयार थे। मैं बच नहीं सका। सुधा मेरी पत्नी हुई। शादी होने के पहले 'धर्मयुग' में मेरी कहानी प्रकाशित हुई थी 'भीड़ का फालतू वक्त' और 'आदमी की औरत'। उसमें मेरी तस्वीर भी थी। सुधा ने दोनों कहानियों को पढ़ा था। शादी होने के बाद कहानी पढ़ना घटना की तरह उसे याद आई थी। अभी भी जब-तब उसे याद करती है। पर ऐसे जैसे शादी के पहले कहानी पढ़ना ज्यादा बड़ी घटना थी, बजाय शादी के।

योगेश तिवारी : आप की जो अपनी एक अलग-अनूठी भाषा है कहीं वह इसी अति सतर्कता की ही देन तो नहीं? उपलब्धि कहें तो ज्यादा ठीक होगा।

विनोद कुमार शुक्ल : उपलब्धि या सतर्कता सोचकर तो कभी नहीं। पर मैं ऐसा ही लिख सका। लिखने में बोलने के शब्द हैं। रोजमर्रे के। पत्नी से बातचीत में, बेटे से बात करने

में। गुस्सा होने या पास-पड़ोस से बात करने में जिन शब्दों का इस्तेमाल किया, लिखने में उन्हीं शब्दों का इस्तेमाल किया। ढूँढ़ने में शायद कोई ऐसा शब्द मिले जिसे मैंने तीन-चार महीने से उपयोग न किया हो। ताजे रोज के शब्द। पर मैं यह नहीं कह रहा कि जो शब्द बहुत दिनों बाद आते हैं वे बासी हो जाते हैं। शब्द की ताजगी अभिव्यक्ति में वाक्य और संदर्भों से बनती है।

योगेश तिवारी : इस समय आप क्या लिख रहे हैं?

विनोद कुमार शुक्ल : दो उपन्यास बहुत दिनों से लिखने से छूट गए। 'बंद टाकीज के सामने' - इसका बहुवचन में एक अंश प्रकाशित हुआ था। 'नाचा' का अंश 'रंग-प्रसंग' में आया था। कविताएँ लिख रहा हूँ। बच्चों के लिए मैं लिखना चाहता हूँ। मेरी बड़ी इच्छा है कि 'हरी घास की छप्पर वाली झोपड़ी और बौना पहाड़' का दूसरा हिस्सा भी लिखूँ। तीसरा भी।

योगेश तिवारी : कौन से लेखक या पुस्तकें ऐसी रहीं जिन्हें आप बार-बार पढ़ना चाहेंगे।

विनोद कुमार शुक्ल : अपने अधिकतम प्रयत्नों में मैंने बड़े लेखकों को पढ़ा पर बहुत कम। न मालूम कितने छूट गए होंगे। ऐसे में मनुष्य की उम्र पर गुस्सा आता है। पाँच सौ साल केवल किताब पढ़ने के लिए चाहिए। घर का वातावरण किताब पढ़ने का था। बड़े भाई बैकुंठनाथ शुक्ल कम्युनिस्ट पार्टी में सक्रिय थे। मुक्तिबोध जी के मित्र थे। मैक्सिम गोर्की की तस्वीर मैंने उनकी टेबल पर देखी थी जब मैं नवीं-दसवीं में था। रूसी साहित्य, बहुत पहले पढ़ लिए थे। रसूल हमजातोव की किताब 'मेरा दागिस्तान' मैंने कई बार पढ़ी थी। गालिब जैसे सप्ताह के इतवार की तरह कई दिन रोज पढ़े जाते कि कोई दूसरा काम नहीं। किताब पढ़ने के लिए पूरी जिन्दगी इतवार होनी चाहिए। फिर मुक्तिबोध जी से मिलना हुआ था। किताबों में कुछ खास ढूँढ़ता और धनी होता हूँ।

योगेश तिवारी : क्या कारण थे? उदाहरण के तौर पर।

विनोद कुमार शुक्ल : लिखे में खजाने को ढूँढ़ने जैसा। खोजना तो बचपन की आदत रही। गोर्की के 'जुलूस' को पढ़ता और मैं जुलूस में शामिल हो जाता। अपनी तरह से नारे लगाता जिसे गोर्की ने नहीं लिखा होता। मैं कथाओं के अंदर उतर कर अपना हिस्सा पा लेता। यह मेरे पाठक होने का काम है। लेखकों को आप पढ़ते हैं तो कमाते हैं। खोते भी हैं। ताजमहल जब मैंने पहली बार देखा तो उसे साधारण देखा। अपेक्षा से कम। क्योंकि पढ़कर उसके देखे हुए को इतना अधिक जान चुका था कि देखने के बाद कम लगा। ताजमहल का वर्णन ताजमहल की सजावट हो गई थी। देखने के बाद पढ़े की सजावट अलग हो गई थी। अब यदि ताजमहल के बारे में मैं कोई बात कहूँगा तो उसमें मेरी सजावट होगी।

योगेश तिवारी : इस समय हिन्दी आलोचना की स्थिति पर टिप्पणी।

विनोद कुमार शुक्ल : मैंने आलोचना को कम पढ़ा। दूसरों की रचना को पढ़ने की अपनी राय की ईमानदारी पर शक करने का मुझे कोई कारण दिखा नहीं। मुझे लगता रहा है कि रचना की समझ रचना को पढ़ने से आएगी। उसकी आलोचना पढ़ना परीक्षा देने की पढ़ाई लगती। अपने बारे में लिखी आलोचना पर जरूर ध्यान देता हूँ। कोई अच्छा लिख रहा है जानकर उसे पढ़ने का मन होता है। अच्छी आलोचना अच्छी रचना को बचाती है।

योगेश तिवारी : साहित्य जगत में राजनीति पर आपकी क्या टिप्पणी है?

विनोद कुमार शुक्ल : जिस तरह सत्ता की राजनीति में पार्टी की राजनीति होती है, साहित्य में उस तरह की राजनीति नहीं हो सकती। साहित्यकारों में हो सकती है। बड़े लेखक हो सकने की कोशिश किसी राजनैतिक तरीके से हो सकती है, शायद। पर कुछ समय तक। हमेशा

की ताकत अच्छा लेखन है। साहित्य में लकीर नहीं खींच सकते कि इस तरह का लेखन इस पार्टी का है। मनुष्य के पक्षधर सभी होते होंगे, साहित्य ऐसा मान कर चलता है। राजनैतिक मापदंड साहित्य के मूल्यांकन के लिए कितना जरूरी होगा? क्या पूरा जरूरी होगा? लेकिन मैं मानता हूँ कि राजनैतिक और सामाजिक सरोकारों की कविताएँ हो सकती हैं। वे हों पर कविता भी जरूर हों। राजनीति में लोगों का कहां बदल जाता है और झंडा भी। साहित्य में विचार कम बदलता है। साहित्य का झंडा नहीं है। यदि कोई मुझे प्रगतिशील कहे तो अच्छा लगेगा। अगर प्रगतिशील नहीं कहता तो बुरा नहीं लगेगा।

अधिकतर लोग मीडिया के अनुसार राजनैतिक राय बनाते हैं। मीडिया पर भरोसा नहीं किया जा सकता। लेकिन, राजनीति एक बड़ी ताकत है। इस ताकत से एक बड़ा बदलाव कम समय में किया जा सकता है। यदि कविता राजनैतिक ताकत अर्जित करती है तो बड़ा काम हो सकता है। तथा एक अच्छे पाठक-समय में, साहित्य में कहे हुए का राजनैतिक महत्व हो सकता है। और सजग पाठक की बहुमत आबादी हो। रचना से मंतव्य लोगों में बहुत धीरे बदलते हैं। लोग पाठक नहीं हैं। और साहित्य लोगों के लिए लिखा जाता है। जो पाठक हैं वे बहुत नहीं हैं। प्रायः बड़ी राजनैतिक घटना भी तात्कालिक तौर पर रचना के लिए प्रेरित नहीं करती। राजनैतिक जानकारी जिस तरह माध्यम से हमारे पास आती है वह कितनी सच्ची है, इस पर शक बना रहता है। मनुष्य का सच बिना मीडिया के भी समझ में आता है।

योगेश तिवारी : आपको मिले पुरस्कारों और उनकी राजनीति पर आप क्या कहेंगे?

विनोद कुमार शुक्ल : पुरस्कार मुझे मिले। मैंने उनको लिया। पहला पुरस्कार शायद मुक्तिबोध पुरस्कार था। जिसकी औपचारिक सूचना मेरे पास नहीं थी। परसाई जी ने बताया था। मैंने उस पुरस्कार को लेने से इनकार कर दिया था। क्योंकि तब चाचाजी मंत्रिमंडल में थे। पुरस्कार जो मिले निर्णायक मंडल के प्रति आदर और संकोच से, कि गलती नहीं कर रहा हूँ समझ कर लिया।

योगेश तिवारी : देश की राजनीति पर क्या कहना चाहेंगे आप?

विनोद कुमार शुक्ल : राजनीति एक बड़ी ताकत है। राजनीति के बिना सत्ता संभव नहीं। जनता के पास अपनी रक्षा का कवच होना चाहिए पर जिस तरह का प्रजातंत्र है उसमें जनता ठगाकर निरीह है। जनता के प्रतिनिधि या सत्ता में जो होते हैं वे राजा-महाराजा हैं और जनता प्रजा। असल में जनता को ठीक-ठीक जनता होना चाहिए। भ्रष्ट राजनीति ने नौकरशाहों को भी भ्रष्ट बना दिया। और मीडिया ने पूरी सहायता की। एक सत्ता सरकारी है। दूसरी मीडिया की। दोनों अपनी भ्रष्ट और झूठ की सत्ता बनाए रखने में एक-दूसरे का साथ देते हैं। प्रादेशिक राजनीति तथा राजनीति में धर्म, जाति, क्षेत्र, भाषा में इतने गिर गए कि थोड़ी-थोड़ी रोज राष्ट्रीयता को बेचकर देश चलता है।

सम्पर्क : योगेश तिवारी, 170, साबरमती छात्रावास, जे.एन.यू., नई दिल्ली-67 मो.-9711263905

रामलीला : धर्मसत्ता और हमारा समय

जीवन सिंह

जैसे-जैसे सभ्यता का विकास एवं परिवर्तन हुआ है, वैसे-वैसे 'रामलीला' के प्रति कलाकार, प्रबन्धक एवं दर्शकों की भावनाओं में भी परिवर्तन आया है। सामान्यतः, बुजुर्ग दर्शकों से यह सुनने में आता है कि अब वह पहले जैसी बात नहीं रही। यह सही भी है कि समय-परिवर्तन के साथ-साथ परम्पराओं में परिवर्तन अवश्यम्भावी हो जाता है। इसका दूसरा कारण, लोगों की धारणाओं में होते परिवर्तन को भी माना जा सकता है। 'रामलीला' एक ऐसा लीला-लोकनाट्य है, जिसको चलते हुए लगभग चार शताब्दियाँ बीत चुकी हैं। इस बीच गंगा में बहुत पानी बह चुका है। जिस समय 'रामलीला' की शुरुआत हुई, उस समय कृषि-व्यवस्था के साथ पशुपालन तथा कृषि-उत्पादन से सम्बन्धित वाणिज्य-व्यापार एवं कुटीर उद्योगों से सम्बन्धित शिल्प-तकनीक आदि की व्यवस्थाएँ थीं। उस समय सामन्ती एवं निरंकुश मुगल सत्ता का शासन था। दुनिया में सभी जगह अज्ञान के अंधकार का साम्राज्य था, यद्यपि यूरोप में नवजागरण की प्रक्रिया आरम्भ हो चुकी थी। हमारे यहाँ की यूरोप-सरीखा नवजागरण तो नहीं हुआ था, किन्तु उसकी प्रकृति 'जागरण' जैसी अवश्य थी। इसीलिए डॉ. रामविलास शर्मा ने 14वीं सदी से लगाकर 17वीं सदी तक के समय को 'लोकजागरण' का समय कहा है। इस युग में कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, रैदास, मीरा आदि रचनाकारों ने साहित्य-रचना करके लोकजागरण का काम किया। कबीर ने भारतीय समाज की जातिवादी संरचना एवं आग्रहों पर सर्वाधिक प्रहार किया और उसके स्थान पर सामाजिक समता एवं समरसता पर आधारित एक नए प्रेम मार्ग का विकल्प सुझाया। जायसी और सूर ने सामान्य जीवन के सरोकारों से निसृत जीवन-मूल्यों का प्रेम-पथ-आविष्कृत कर भावों का परिष्कार किया। तुलसी ने, यद्यपि पुरातन पद्धति की सामाजिक संरचना का औचित्य बतलाते हुए समाज के रिश्तों का सम्पूर्ण जीवन के स्तर पर चित्रण किया, तथापि मनोवैज्ञानिक स्तर पर व्यक्ति की आन्तरिक वृत्तियों का संघर्ष-निरूपण कर अपनी तरह से सत्य को भी प्रस्तुत किया। मीरा ने स्त्री-पुरुष के रिश्ते में पहली बार स्त्री-पक्ष की स्वाधीनता का पक्ष-निरूपण किया। इससे समाज में निर्गुण और सगुण रूपों में व्यक्त, भक्ति-आन्दोलन ने पूरे उत्तर भारत को आलोड़ित-विलोड़ित किया। हिन्दी प्रदेश में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन की जमीन अपेक्षाकृत ज्यादा मजबूत रही, जिससे राम और कृष्ण को केन्द्र में रखकर सूर और तुलसी ने लोकजीवन

सम्पर्क : 1/14, अरावली विहार, अलवर-301002 (राजस्थान) मो.-09828694395

को दूर तक प्रभावित किया। इनमें जो प्रभाव तुलसी का कायम हुआ, वैसा दूसरे किसी रचनाकार का नहीं हो पाया।

तुलसी के लोक-व्यापक प्रभाव का सबसे बड़ा कारण, सामाजिक वर्चस्व के रूप में वह वर्ण-व्यवस्थावादी संस्कार भी रहे, जिनको 'रामचरितमानस' की रचना करके उन्होंने पुष्ट किया। सच तो यह है कि हमेशा से सामाजिक-राजनीतिक एवं सांस्कृतिक वर्चस्व उसी वर्ग का रहता आया है, जो आर्थिक प्रक्रियाओं पर अपना प्रभुत्व बनाकर रखता है। यही वजह रही है कि आर्थिक प्रक्रिया को अलग मानकर जब-जब जिन्होंने भी केवल सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रियाओं को विचार, रचना एवं आन्दोलन को केन्द्र में रखा है, तब-तब ऐसे आन्दोलन, एक निश्चित समयावधि तक चलकर या तो मन्द एवं शिथिल पड़ गए हैं या उनका स्वरूप भी आर्थिक-प्रक्रिया पर प्रभुत्वकारी ताकतों की मानसिकता के अनुरूप बनकर, उन्होंने भी कर्मकाण्डीय आनुष्ठानिक रूप धारण कर लिया है। कबीर, नानक आदि के सन्त-आन्दोलन के साथ यही हुआ है। तुलसी की सफलता इस तथ्य में निहित है कि उन्होंने जो रचना की, उसका सम्पूर्ण वैचारिक परिप्रेक्ष्य आज तक भी वर्चस्वकारी ताकतों के अनुकूल रहा है। खासतौर से, वे ताकतें जिनका भारतीय सामाजिक संरचना पर लगातार प्रभुत्व बना रहा है। सामाजिक संरचना पर प्रभुत्व का मतलब है—राजनीतिक एवं आर्थिक-संरचनाओं पर वर्चस्व। आज जब देश में एक तरह का लोकतांत्रिक राजनीतिक-प्रशासनिक ढाँचा बन गया है, उसके निर्माण में भी देश की सामाजिक बनावट में घुला-मिला जातिवाद, जिस तरह की वर्चस्वकारी भूमिका अदा करता है, वह सर्वविदित है। यह कहना गलत नहीं होगा कि आज की लोकतांत्रिक-राजनीतिक संरचना का मुख्य आधार एवं स्रोत—जाति व्यवस्था एवं सम्प्रदाय हैं। राज्य एवं केन्द्रीय विधायिकाओं के गठन में इनकी प्रमुख भूमिका रहती है। इससे ग्राम-स्तर पर भी राजनीतिक आग्रहों के कारण जातिवाद और सम्प्रदायवाद की धारणाएँ एवं व्यवहार पहले की तुलना में और सुदृढ़ हुए हैं। पारम्परिक तौर पर पहले से ही ग्रामीण समाजों की संरचना जातिवादी रही है। जहाँ एक धर्म से ज्यादा धर्मों के अनुयायी रहते हैं, वहाँ सम्प्रदायवाद भी कई स्तरों की सामाजिकता का निर्माण करता है। कैसी विडम्बना है कि एक ओर जिस तरह की आर्थिक प्रक्रियाएँ विश्व एवं राष्ट्रीय स्तर पर चल रही हैं, उनसे जाति-विरादरी के बन्धन शिथिल हुए हैं, जबकि दूसरी ओर राजनीतिक दृष्टि से जातिवाद पहले से अधिक संगठित एवं सतर्क हुआ है। जगह-जगह जातियों के संगठन और समय-समय पर होने वाले उनके उत्सव-समारोह, जलसों-जुलूसों की प्रवृत्ति में तेजी से उभार आया है। इसका सबसे कुरूप पहलू यह है कि देश का शिक्षित कहलाने वाला वर्ग, अशिक्षित समुदाय की तुलना में ज्यादा जातिवादी एवं सम्प्रदायवादी हुआ है। इसका परिणाम यह हुआ है कि एक स्तर पर बन्धनों और जकड़न में शिथिलता आ रही है, जबकि दूसरे स्तर पर वे पहले से ज्यादा मजबूत एवं कट्टरता की हद तक सुदृढ़ हो रहे हैं। इसी कट्टरता की राजनीतिक दृष्टि से एक लाभकारी भूमिका रहती है।

रामलीला, सामाजिक वर्चस्व और हमारा समय

'रामलीला' की आधारकृति है तुलसीकृत 'रामचरितमानस'। 'रामचरितमानस' एवं तुलसी के अन्य साहित्य की रचना की प्रेरणा वह वैष्णव भक्ति-आन्दोलन रहा है, जिसने सबसे ज्यादा जातिवादी संरचना पर प्रहार किया। सामाजिक तौर पर इस आन्दोलन ने 'समता' के लिए जगह बनाने का प्रयास किया। यह अलग बात है कि तत्कालीन राजनीतिक और आर्थिक-सांस्कृतिक प्रभुत्ववादी शक्तियों के नियन्त्रण की वजह से इन एकांगी आन्दोलनों से सफलता हासिल नहीं

हो सकी। इसी आन्दोलन में तुलसी एक अलग कोटि और अलग पाँत के कवि की तरह आए, जिन्होंने 'रामचरित' को केन्द्र में रखकर अपनी मान्यताओं एवं धारणाओं का प्रतिपादन इस रूप में किया कि उसको लोकस्वीकृति मिलने में कोई दिक्कत नहीं आई। उनकी बातों को हिन्दी इलाके के ऊपरी तबकों और खासतौर से किसान वर्ग ने हाथों-हाथ लिया। यद्यपि उन्होंने सामाजिक समरसता सम्बन्धी धारणाओं को भक्ति के आवरण में जिस तरह प्रस्तुत किया और समन्वयवाद को जिस रूप में स्थापित किया उसने सन्त-काव्य परम्परा की धारणाओं का सारा टाट उलट दिया। उनकी बातें तत्कालीन वर्चस्ववादी लोक को अपने संस्कारों के ज्यादा अनुकूल प्रतीत हुईं।

'रामलीला' के आयोजन, व्यवस्था आदि में आज तक जो भी सामाजिकता काम करती रही है, उसका अनुकूलन 'रामचरितमानस' से रहता आया है। तुलसी को विरासत से जो कुछ भी प्राप्त हुआ या फिर उन्होंने स्वयं जो कुछ प्राप्त किया, उसमें अनेक तरह की रूढ़ियाँ भी उनको प्राप्त हुई थीं। उनसे पहले धर्म, दर्शन, कला, शिल्प आदि क्षेत्रों में अनेक रूढ़ प्रतीक एवं धारणाएँ जन-मन में बद्धमूल हो चुकी थीं। इन रूढ़ियों का पालन तुलसी ने किया है, लेकिन इनके साथ उन्होंने कुछ छोड़ने, जोड़ने और बदलने का काम भी किया है। मसलन, सबसे बड़ी है समय की रूढ़ि। आज समय के बारे में जो वैज्ञानिक विचार—'विकासवादी सिद्धान्त'—स्वीकृत है, वह तुलसी के समय तक अन्वेषिक नहीं हुआ था। इससे उनके यहाँ समय की गति विकास के क्रम में न होकर पतनशीलता के क्रम में रही है। यह क्रम सतयुग, त्रेता, द्वापर से होकर कलियुग तक आता है। तुलसी स्वयं को और अपने समकालीन समाज को कलियुगी जीवों की श्रेणी में मानते हैं। इसी कलियुग की रुग्णताओं और दैहिक, दैविक एवं भौतिक तापों को दूर करने का एकमात्र उपाय वे राम-भक्ति को बतलाते हैं और इसी के लिए 'रामलीला' सरीखे आयोजनों की शुरुआत कराते हैं। उनके अनुसार यह रामकथा लोक-कल्याण करने और कलियुग के पापों का हरण करने वाली है। वे कहते हैं कि मेरी इस भद्दी कविता रूपी नदी की गति, पवित्र जल वाली गंगा जी की भाँति टेढ़ी-मेढ़ी है। किन्तु मुझे विश्वास है कि यह श्री राम के सुयश का संग पाकर भली और सज्जनों के मन को भाने वाली हो जाएगी। जैसे श्मशान की अपवित्र राख शंकर जी के शरीर पर सुहावनी हो जाती है। उनका इस बारे में लिखा प्रसिद्ध छंद इस प्रकार है—

*मंगल करनि कलिमल हरनि, तुलसी कथा रघुनाथ की।
गति कूर कविता सरित की ज्यों सरित पावन पाथ की॥
प्रभु सुजस संगति मनिति भलि होइहि सुजन मनभावनी।
भव अंग भूति मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी॥*

तुलसी ने कहा है कि—यह कलियुग का ही प्रताप है कि यहाँ लोगों की वेशभूषा तो हंस जैसी है और करनी कौवे जैसी। ये लोग वेद मार्ग छोड़कर कुमार्ग पर चलते हैं क्योंकि ये कपट की मूर्ति और कलियुग के पापों के भाँड़े हैं। ऐसे लोग वेद मार्ग पर तभी आ सकते हैं, जबकि ये राम के चरित्र-सरोवर में अवगाहन करें। इसीलिए कवियों और पंडितों ने कलियुग के पापों को दूर करने के लिए हरियश गायन का मार्ग अपनाया है—

*कवि कोविद अस हृदय विचारी।
गावहिं हरि जब कलि मल हारी॥*

रामलीला-दर्शन करने से सामान्य दर्शक भी यही समझता रहा है कि इसके माध्यम से उसके कलियुग के पाप कट जाएँगे। कहने का तात्पर्य यह है कि युग-धारणा के मामले में जो धारणा तुलसी की रही है, वही धारणा बहुत कुछ आज तक भी समाज की बनी हुई है। नई और आधुनिक शिक्षा भी इन धारणाओं को नहीं बदल पाई है। आधुनिक शिक्षा का उपयोग लोग व्यावसायिक सम्पन्नता के लिए जितना करते हैं, उतना मानसिकता में बदलाव के लिए नहीं। कुछ अपवाद ही होंगे, जो इस सम्बन्ध में आधुनिक एवं वैज्ञानिक ढंग से सोचकर व्यवहार करते हैं।

दूसरी रूढ़ि है वर्ण-व्यवस्था। तुलसी ने 'रामचरितमानस' में न केवल भारतीय सामाजिक-संरचना में 'वर्ण-व्यवस्था पद्धति' का समर्थन किया है, वरन् अपने कथा-प्रसंगों में कई स्थानों पर उनकी अभिव्यक्ति प्रत्यक्षतः की है। पहली बात तो यह है कि भगवान राम के मनुज अवतार लेने के पीछे विष्णु, धेनु, सुर और सन्तों का हित सर्वोपरि है, यद्यपि रामकथा में इनके अलावा भी उन्होंने उन सभी का हित किया है, जो उनके भक्त रहे हैं। वर्ण-व्यवस्था से सम्बन्धित रूढ़ि का पहली बार स्पष्ट उल्लेख दशरथ की मृत्यु के पश्चात् गुरु वशिष्ठ द्वारा भरत के प्रति दिए उपदेश में किया गया है, जिसमें वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के क्रम से यह बतलाते हैं कि राजा दशरथ सोच करने के योग्य नहीं हैं क्योंकि उस ब्राह्मण का सोच करना चाहिए, जो वेद नहीं जानता और जो अपना कर्तव्य छोड़कर विषय-वासनाओं में लीन रहता है। उस क्षत्रिय राजा का सोच करना चाहिए, जो नीति नहीं जानता और जिसे अपनी प्रजा प्राणों के समान प्रिय नहीं है। उस वैश्य का सोच करना चाहिए, जो धनवान होकर भी कृपण है और जो अतिथि सत्कार और शिव भक्ति करने में कुशल नहीं है। उस शूद्र का सोच करना चाहिए, जो ब्राह्मण का अपमान करने वाला, वाचाल, मान-बड़ाई चाहने वाला और ज्ञान का घमंड करने वाला है। इससे स्पष्ट है कि वेद-विहित होने के कारण वर्ण-व्यवस्था-पद्धति को उनका पूरा समर्थन प्राप्त है। इसमें भी ब्राह्मण को जिस तरह वे विशेष स्थान देते हैं, वह सब भी यही बतलाता है कि ये सभी उनके लिए न केवल मान्य हैं बल्कि सामाजिकता का प्रतिमान भी हैं। यह तुलसी को रूढ़ि के रूप में प्राप्त हुआ है, जिसे उन्होंने छोड़ा नहीं।

तीसरी रूढ़ि है स्त्री का माया रूप। तुलसी ने रूढ़ि के रूप में प्राप्त स्त्री के माया रूप की लगातार भर्त्सना की है यद्यपि उनके रचना-संसार में कौशल्या, सुमित्रा, सीता, मन्दोदरी, सबरी आदि अनेक स्त्रियाँ हैं, जिनके प्रति उनका सम्माननीय एवं पूज्य-भाव रहा है। लेकिन स्त्री-सम्बन्धी कथनों में पहले से चली आती हुई रूढ़ि विद्यमान है। इससे हम कह सकते हैं कि 'रामचरितमानस' में जो कई तरह की सामाजिक संरचना सम्बन्धी धारणाएँ दिखलाई देती हैं, उनका सम्बन्ध समाज के रूढ़िवाद से है, जिसे तुलसी ने अपने तरीके से रामकथा में सूत्रबद्ध करके व्यक्त किया है। हमारा आज का समय भी इस रूढ़ि से मुक्त नहीं हो पाया है। आज भी भारतीय समाज की मानसिकता बहुत बदली हुई नहीं है। समय, जाति, लिंग और धर्म को लेकर आज भी बहुत बड़ा और बुनियादी परिवर्तन नजर नहीं आता। इस कारण से 'रामचरितमानस' की धारणाओं के प्रति सहमति का भाव रहता है।

हमारा समय इस मामले में अत्यन्त जटिल है कि एक तरफ उत्पादन के साधनों में परिवर्तन होने तथा राजनीतिक-प्रशासनिक व्यवस्थाओं के बदल जाने से प्राचीन सामाजिक संरचना के तार ढीले हुए हैं। इससे देश में औद्योगीकरण की प्रक्रिया तीव्र होते जाने से शहरीकरण की प्रक्रिया तेज हुई है। व्यक्ति को अपने रोजगार तथा साधन-सुविधाओं के लिए गाँवों को छोड़कर शहरों की तरफ जाना पड़ता है। शहरी जीवन की वैसी मर्यादाएँ एवं आवश्यकताएँ नहीं होतीं, जैसी कृषि पर आधारित ग्रामीण जीवन की होती हैं। कृषि पर आधारित जीवन की गति इतनी

मन्द रहती है कि वहाँ शताब्दियों में भी बदलाव हो पाना कठिन रहा है, जबकि औद्योगिक एवं प्रौद्योगिकी से संचालित जीवन अत्यन्त गतिशील होता है। इससे सामाजिक-आर्थिक संरचना में परिवर्तन की प्रक्रिया बेहद गतिशील हो जाती है। इसी से आज भारतीय समाज की कृषि-निर्भरता के बावजूद औद्योगिक एवं प्रौद्योगिकी पद्धतियों के आ जाने से ग्रामीण समाज भी वैसे नहीं रह गए हैं, जैसे तीस-चालीस साल पहले थे। गाँवों का अर्द्ध-शहरीकरण हुआ है। खेती से जुड़े लोगों ने खेती करने के साथ व्यवसाय, दुकानदारी, नौकरी, सर्विस सेक्टर आदि को अपनाकर अपनी भौतिक स्थितियों में परिवर्तन किया है। इसके अलावा नए राजनीतिक माहौल में हरेक जाति-समुदाय में अपनी पहचान स्थापित करने की होड़ मची हुई है। राजनीति ने व्यवहारिक तौर पर भारतीय सामाजिक संरचनात्मक विभाजन से फायदा उठाकर जातिगत विभाजन को और तीव्र किया है। इन बदली हुई परिस्थितियों में वर्ण व्यवस्थावादी पुराना ऊँच-नीच का ढाँचा पहले की तुलना में एक ओर कमजोर एवं शिथिल हुआ है, किन्तु दूसरी ओर वह अपनी जगह पर पहले की तरह दृढ़ता से कायम है। कृषि-सम्बन्धों की बुनियाद हमेशा से पुरातनवादी एवं पिछड़ी हुई मानसिकता से निर्मित होती है। यही कारण है कि 'रामलीला' सरीखे नाट्य-रूप का ढाँचा आज भी पुरानी बुनियाद पर टिका हुआ है। हिन्दी-प्रदेशों में होने वाली लगभग सभी पारम्परिक रामलीलाओं में आज भी ब्राह्मण-बालकों को ही राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न और सीता का 'स्वरूप' बनाया जाता है। काशी के चित्रकूट स्थान पर होने वाली, रामनगर, काशी के अस्सी, अयोध्या, काशी की लाटभैरव, लखनऊ, मथुरा, दिल्ली आदि मुख्य-मुख्य स्थानों की पारम्परिक रामलीलाओं में आज तक भी ब्राह्मण-किशोरों के स्थान पर अन्य किसी जाति के कलाकार-अभिनेता को जगह नहीं मिली। यही है भारतीय समाज की वर्ण-व्यवस्थापरक बुनियाद, जो कृषि-सम्बन्धों वाली मानसिकता से आज तक मुक्त नहीं हो पाई।

इसका एक कारण 'रामचरितमानस' में विप्र-समाज के प्रति विशेष श्रेणीगत आदर की प्रतिष्ठा होना भी है। भगवान राम का मनुज अवतार लेने का एक कारण विप्र-हित भी है। राम स्वयं परशुराम से कहते हैं—

*विप्रवंस कै असि प्रभुताई
अभय होहि जो तुम्हहिं डेराई॥*

'ब्राह्मण वंश की यह महिमा है कि जो आपसे डरता है वह सबसे निर्भय हो जाता है।' राजा प्रतापभानु को ब्राह्मण-शाप ही लगता है कि वह परिवार-सहित राक्षस बनता है। ब्राह्मणों को जब यह पता लग जाता है कि राजा इस मामले में निर्दोष है, तब भी वे यही कहते हैं—

*भूपति भावी मिटहि नहिं, जदपि न दूषन तोर।
किएँ अन्यथा होइ नहिं, बिप्रश्राप अति घोर॥*

ब्राह्मण-पंडित की इस प्रतिष्ठा की मुख्य वजह हिन्दू-समाज की कर्मकाण्डीय एवं आनुष्ठानिक व्यवस्था में, ब्रह्म-समाज की विशिष्ट एवं पूज्य भूमिका होना भी है। जन्म, विवाह, संस्कार, मृत्यु सभी अवसरों पर हिन्दू का ब्राह्मण के बिना काम नहीं चलता। मन्दिरों में ठाकुर-सेवा का काम, पांचांग-मुहूर्त-लग्न आदि बतलाने का काम, सभी ब्राह्मण-समाज के हाथ में है। इससे भी इन स्थितियों में किसी तरह का बदलाव आ पाना या ला पाना बहुत कठिन हो जाता है। चूँकि 'रामलीला' का एक रिश्ता हिन्दू-समाज की कर्मकाण्डीय एवं आनुष्ठानिक व्यवस्था से

रहा है, इसलिए रामलीला का हिन्दू-सामाजिक संरचना के अनुसार संचालित होना इसकी प्रक्रिया का हिस्सा बना हुआ है।

धर्मसत्ता, रामलीला और रामचरितमानस

सम्पूर्ण विश्व-परिदृश्य को देखने पर पता चलता है कि विज्ञान, तकनीक, प्रौद्योगिकी, आधुनिकता, प्रगति, विकास, बाजार, वस्तुवैभव, चाकचिक्य, विश्वग्राम, कम्प्यूटर, सूचना प्रौद्योगिकी, मनोरंजन, शहरीकरण, भोग विलास, सुविधा-सम्पन्नता, वैभव, ज्ञान-कोष आदि के प्रचार-प्रसार के बावजूद धर्मसत्ता की जड़ें कमजोर नहीं हुई हैं। परमाणु बम से भी विकसित अस्त्र-शस्त्रों को आज उतना डर नहीं है, जितना धर्म-सत्ता का। धर्म के मामले में लगभग सारा विश्व एक जैसा है। यद्यपि विज्ञान की प्रक्रियाओं की समझदारी एवं विकासवादी सिद्धान्त की भूमिका से दुनिया में 'आधुनिकता' आई और उसका लाभ भी पूरे विश्व को प्राप्त हुआ, किन्तु विज्ञान-दृष्टि की अवधारणात्मक व्यवस्था तथा सामूहिक मानसिकता का वस्तुपरक-संयोजन उतना नहीं हो पाया, जितना अब तक हो जाना चाहिए था। आधुनिक काल की अग्रगामी स्थितियों में जब आज उत्तर-आधुनिक और उत्तर-पूँजीवादी व्यवस्था की परिस्थितियाँ लगभग बन चुकी हैं, तब तो यह लगने लगा है कि 'धार्मिकता' के विलोपन की जगह एक नए तरह की कर्मकाण्डीय एवं आनुष्ठानिक धर्मसत्ता का पुनरुत्थान तेजी से हो रहा है। आज 'धर्म' अपवादों को छोड़कर लगभग सभी जगह एक 'अग्रगामी व्यवसाय' का रूप धारण कर, विश्वसत्ता की बुनियाद को जिस तरह हिलाने की लगातार कोशिश कर रहा है, उसके विनाशकारी परिणाम हो सकते हैं।

हमको मालूम है कि मानव जाति ने सहस्राब्दियों तक धर्म, ईश्वर, भक्ति एवं दर्शन की मार्फत अपनी मुक्ति का रास्ता तलाशने का प्रयास किया है। धर्म अनुभूति व्यक्ति को वैसी ही लगती है जैसी उसके शरीर में रक्त, मज्जा इत्यादि। धर्म के संस्कार उसे जन्म घुट्टी की तरह मिलते हैं। धर्म की एक ऐसी भावात्मक सत्ता रही है, जो व्यक्ति-मन को एक सीमा तक राहत देती आई है। भले ही यह मिथ्या राहत हो, किन्तु, जब 'राहतें' हों ही नहीं, तो 'मिथ्या राहत' भी बहुत बड़ी 'राहत' महसूस होती है। कुछ अपवादों को छोड़ दें, तो अभी तक जिस तरह की समाज-व्यवस्थाएँ निर्मित हुई हैं और जिस तरह का चारित्रिक एवं अर्थसत्ता का विकास हुआ है, उसमें 'व्यक्ति' को सुकून और शान्ति का अवकाश बहुत कम रहता आया है। छल-कपट, स्वार्थ, आपाधापी, कथनी-करनी के अन्तर, शक्ति का आतंक, लूट-खसोट, भ्रष्टाचार, अनैतिक समृद्धियाँ, राजनीतिक अन्तर्विरोध आदि के माहौल में एक सामान्य बुद्धि-व्यक्ति को सिवाय धर्म, ईश्वर और भक्ति के कोई विकल्प नहीं सूझता। धर्म-ईश्वर आदि की भावात्मक सत्ता तब तक बनी रहेगी, जब तक व्यवस्थाओं में गम्भीर विभेदकारी अन्तर्विरोध बने रहेंगे। धर्म-ईश्वर को मिथ्या-चेतना कह देने से काम नहीं बनता। चेतना एवं चरित्र की दृढ़ता के उच्चतम स्तर पर ऐसे कितने लोग होते हैं, जो 'मिथ्या-चेतना' के सत्य को हृदयंगम कर उसके अनुसार 'मानवीय' आचरण करने में सक्षम हैं। व्यक्ति-चेतना की उन्नत दशा में ही यह सम्भव है कि ईश्वर और उससे सम्बन्धित धर्मसत्ता का सर्वथा निषेध तथा पदार्थ-सत्ता के द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन-प्रणाली के अनुसार व्यवहार किया जा सके। बहरहाल।

आज तक 'धर्म', 'ईश्वर' और 'भक्ति' का जो परिप्रेक्ष्य रहा है, उसमें धर्म की रसात्मक अनुभूति करने वालों में ऐसे सन्त एवं भक्त भी रहे हैं, जिन्होंने अपने आचरण से उच्चतर मानवीय स्थितियों का प्रमाण प्रस्तुत किया है। ऐसे लोग राजनीति में भी रहे हैं, जिन्होंने धार्मिक अनुभूति के साथ मनुष्यता का आदर्श प्रस्तुत किया है। सच तो यह है कि इस तरह के उदाहरण

एक तरह की रहस्यानुभूति के ढाँचे में लौकिकता के उदाहरण ही ज्यादा होते हैं। आधुनिक काल में महात्मा गाँधी का उदाहरण इसी कोटि में आता है। भक्ति काव्य में भी धर्म एवं ईश्वरीय सत्ता के समानान्तर, लौकिक जीवन मूल्यों का समग्र बोध ज्यादा व्यक्त होता है। यद्यपि भक्तिकाव्य को विशुद्ध ईश्वरीय भक्ति के स्तर पर समझने वालों का बहुमत आज भी विद्यमान है तथापि उसके लौकिक पाठ को भी अब लोग समझने लगे हैं।

समाज का नुकसान एवं अहित, धर्मसत्ता के उस रूप से होता है जो सांस्थानिक रूप में संगठित होकर केवल कर्मकांड और अनुष्ठान बनकर रह जाता है। कहना न होगा कि आज जितने भी 'धर्म' हैं, उन सभी का कर्मकाण्डीय रूप, जितना प्रभावी है, उतना नैतिक एवं आध्यात्मिक रूप नहीं। साथ ही, 'धर्मसत्ता' जब अपने रूढ़िवाद को आधुनिक समय पर थोपती है और मानवीय रिश्तों का निर्धारण उसी के अनुसार करने लगती है, तो धर्मसत्ता का रूप आतंककारी होने लगता है। धर्म से निष्पन्न धारणाओं का सबसे बड़ा नुकसान यह हुआ है कि व्यक्ति को अपने 'कर्म' पर विश्वास न रहकर तथा वस्तुसत्ता को न मानकर वह भाग्य एवं प्रारब्धवादी हो जाता है। आज जब वित्तीय पूँजी के वर्चस्व का दौर चल रहा है, तब अनुत्पादक पूँजी ऐसे अनेक तरह के छल-छद्मों का जाल भी फैलाती जा रही है, जिसमें व्यक्ति को संयोगात्मक लाभ होने से उसकी धर्म में आडम्बरी आस्था होने लग जाती है। वह समझने लगता है कि उसे जो भी अतिरिक्त, अकूत एवं आकस्मिक धन-प्राप्ति हुई है, वह सब उसके द्वारा किए गए छल-छद्मों से न होकर किसी दैवीय शक्ति या उनकी धर्मप्राणता से हुआ है। इससे समाज में ढोंग, पाखण्ड एवं अन्धविश्वास तीव्र गति से बढ़ने लगते हैं। तरह-तरह के बनावटी सन्तों, बाबाओं, महात्माओं का जाल फैलने लगता है। नई-नई तकनीकें, सूचना-प्रौद्योगिकी, मीडिया आदि इसका प्रसार करने में पूरी शक्ति लगा देते हैं। अनुत्पादक वित्तीय तंत्र एवं मीडिया का ऐसा गठजोड़ हो जाता है कि जो 'धर्म' इससे पूर्व आधुनिकता के दबाव में सार्वजनिक से 'निजी' हो गया था, वही वित्तीय पूँजी के दौर में निजी से सार्वजनिक होता जाता है। इस दौर में अन्य व्यवस्थाओं की तरह 'धर्म' भी पूरे व्यवसाय और उद्योग में बदल जाता है।

'धर्मसत्ता का विकास, अन्य कारोबारों की तरह हुआ है।' 'धर्म' सामन्ती व्यवस्था का उत्पाद है, जिसने व्यापारिक पूँजी के दौर में सांस्थानिक रूप लिया है और राजसत्ता एवं धर्म-संस्थानों के बीच गठजोड़ कायम हो जाने से समाज में 'धर्म' के नाम पर कर्मकाण्डों का बोलबाला होने लगता है। धर्म की इसी सांस्थानिकता के विरुद्ध भक्ति-आन्दोलन हुआ, जिसमें 'धर्म' भावना को रसात्मक अनुभूति के रूप में प्रस्तुत किया गया। विज्ञान एवं नई तकनीकों के आविष्कार से जब औद्योगिक पूँजी-श्रम के सहयोग से—का प्रभुत्व कायम होता है, तो धर्मसत्ता सिकुड़कर निजी स्तर पर रह जाती है। इस दौर में 'लोकतंत्र' की नई राजनीतिक व्यवस्था का उद्भव होने से राज्यसत्ता और धर्म का गठजोड़ टूटने लगता है। वैज्ञानिक दृष्टि के दबाव से सेक्युलर भावना को स्वीकृति मिलती जाती है। इस दौर में धर्म की सार्वजनिक सत्ता का प्रभाव क्षीण होने लगता है लेकिन वित्तीय पूँजी के उत्तर आधुनिक दौर में धर्मसत्ता का पुनरुत्थान होने की स्थितियाँ बनती हैं। आज यही दौर विश्व स्तर पर चल रहा है।

रामलीला और धर्मसत्ता का गहरा रिश्ता उन्हीं दिनों से रहा है, जब से रामलीला की शुरुआत हुई। उस समय हमारे देश में मध्यकालीन परिस्थितियाँ थीं, जिनमें कृषि-व्यवस्था में नए शिल्पतंत्र का विकास होने की वजह से श्रम की ताकतों का महत्व बढ़ने लग गया था। इसी से भक्ति-आन्दोलन में भावात्मक स्तर पर श्रम का महत्व स्थापित हुआ। कबीर, सूर, तुलसी आदि कवियों की सहानुभूति अपने समय के किसान, शिल्पी एवं श्रमिक वर्ग के साथ

रही। 'रामचरितमानस' में कवि की पूरी सहानुभूति इन्हीं वर्गों और समुदायों के साथ देखी जा सकती है। 'रामचरितमानस' में जितने भी सामान्य चरित्र हैं, वे सभी राम के समर्थक और उनके अनुगामी हैं। वे राम के चरित्र, उनके स्वभाव, शक्ति, शील और सौन्दर्य को समझते हैं। यहाँ जो भी अहंकारी है, उसका पतन हुआ है। जिसमें समाज को अलग करके 'आत्म' का अभिमान उत्पन्न हुआ है, उसको या तो उखाड़ दिया गया है, या फिर उसका ध्वंस कर दिया गया है। नारद जी जैसे सन्त के मन में भी जब अपनी सत्ता का अभिमान हो गया, तो उसको भी उखाड़ दिया गया—

*उर अंकुरेउ गरब तरु मारी।
बेगि सो में डारियउँ उपारी॥*

साधारण जनता अपने आसपास के इस तरह के गर्बीले तरुओं से परेशान रहती है। 'रामचरितमानस' में चित्रित इन प्रवृत्तियों के ध्वंस को जब वह 'रामलीला' में देखती है, तो उसे अपनी साधारणता पर विश्वास होता है। तुलसी का मन भी बार-बार अपनी ग्राम्यता की ओर जाता है। वे जानते हैं कि उन्होंने अपनी कविता, पंडितों की भाषा संस्कृत में न लिखकर, उस ग्रामीण भाषा में लिखी है, जिसे देहाती किसान, कारीगर, शिल्पी और श्रमिक व्यवहार में लाते हैं। तुलसी को यह खूब अहसास था कि वे संस्कृत की जगह 'भाषा भनिति' कर रहे हैं—'भाषा भनिति मोरि मति मोरी।' वे यह भी जानते थे कि उस समय के पढ़े-लिखे, ज्ञानी-पंडित-संस्कृतज्ञ उनको मजाक बनाते थे। इस बात को उन्होंने स्वयं स्वीकार कर लिया है कि निस्सन्देह मेरी यह भाषा हँसने के योग्य ही है—'हँसिबे जोग हँसें नहिं खोरी।' लेकिन तुलसी बहुत भोले नहीं हैं। वे भीतर की बात को समझते हैं। वे जानते हैं कि इस दुनिया में अच्छे और बुरे, दुष्ट और सज्जन दोनों तरह के लोग मौजूद हैं। उन्हें दुष्टों और बुरे लोगों की परवाह नहीं है। वे उन लोगों को अच्छा नहीं मानते, जिनका न तो राम के चरणों में प्रेम है और जिनकी समझ भी सही नहीं है—

*प्रभु पद प्रीति न सामुझि नीकी।
तिन्हहि कथा सुनि लागिहि फीकी॥*

इस कथा को जनने की दो शर्तें हैं—'प्रभु पद प्रीति' तथा 'नीकी समझ'। जिन लोगों में ये दोनों बातें हैं, उनको तुलसी ने 'सुजन' कहा है। ऐसे लोग ही तुलसी की कविता के पाठक, श्रोता और 'रामलीला' के दर्शक हो सकते हैं—

*राम भगति भूषित जियँ जानी।
सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी॥*

तुलसी को पूरा भरोसा है कि इस तरह के लोग समाज में मौजूद हैं। उनको अपने राम पर भी पूरा विश्वास है। राम का प्रताप इसमें वर्णित है। राम का वह प्रताप, जो लोकरक्षणकारी है और जो अहंकारियों तथा सत्ता, प्रभुता और वैभव के मद में लिप्त लोगों से टकराकर, पृथ्वी से पापों के भार को दूर करता है। राम अकेले ही इस काम को नहीं करते। वे साधारण लोगों को सजग करके संगठित करते हैं और उनके सहयोग से उनकी मुक्ति के द्वार खोलते हैं। यही भरोसा महाकवि को है—

जदपि कवित रस एकउ नाही।
 राम प्रताप प्रगट एहि मांही॥
 सोइ भरोस मोरें मन आवा।
 केहिं न सुसंग बडप्पनु पावा॥

आज के सन्दर्भों में, यद्यपि 'रामचरितमानस' की कई आधारभूत बातें विश्वसनीय नहीं रही हैं। क्योंकि विश्व-ज्ञान और धारणाओं में पिछली तीन-चार शताब्दियों में बुनियादी परिवर्तन हो गए हैं। अब तुलसी की तरह शायद ही कोई यह मानने को तैयार हो कि ईश-भजन के प्रभाव से मनुष्य का बेड़ा इस भवसागर से पार हो जाएगा। एक सजग और विश्वदृष्टि सम्पन्न व्यक्ति इस बात का भी समर्थन नहीं कर पाता कि व्यापक विश्वरूप भगवान ने दिव्य शरीर धारण करके नाना प्रकार की लीला की है और इसी से संसार का हित हुआ है और दरअसल, इस तरह की धारणाएँ पूरी दुनिया में उस समय तक रही हैं जब तक कि यह पता नहीं चल गया कि इस सौरमण्डल के केन्द्र में पृथ्वी न होकर, सूर्य है। इसी अनुसंधान के बाद अनेक वैज्ञानिक खोजें हुईं, जिनसे पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति का विकासवादी सिद्धान्त अस्तित्व में आया और जिसने ईश्वर की सत्ता के स्थान पर, मनुष्य की सत्ता को कायम किया। 'रामचरितमानस' में भी ईश्वर स्वयं लीला के रूप में मनुष्य शरीर धारण करते हैं। इस तरह देखा जाए तो आधे रूप में, इसमें भी मनुष्य की प्रतिष्ठा कर दी गई है अन्यथा ईश्वर की सत्ता के सामने मनुष्य की सत्ता को लाने की आवश्यकता क्या है? इसमें बार-बार तुलसी को ईश्वर की याद दिलाकर कहना पड़ता है कि 'राम को मनुष्य-रूप मत समझ लेना, वे तो नर रूप में 'लीला' कर रहे हैं।' परन्तु उनका यह नरत्व ही है जो सर्वाधिक आकर्षक एवं मोहक है और यही शील, भक्ति और सौन्दर्य का कोश है। सच तो यह है कि जो मनुष्य, मनुष्यत्व की सीमाओं से ऊपर उठकर एक अत्यन्त उदात्त स्थिति को प्राप्त कर लेता है, वह भगवद् तत्व को ही प्राप्त कर लेता है। विधाता भी तो यही करता है—सृष्टि को पालन, पोषण, रंजन और रक्षण। दुनिया में उत्पन्न हुए महापुरुषों ने समय-समय पर इस तरह के प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। जिन्होंने अपने जीवन की परवाह न करके, दूसरों के जीवन की परवाह की है, ऐसे लोग ईश्वरीय-सत्ता के ही जागतिक रूप हैं। हमारे लिए महात्मा बुद्ध, भगवान महावीर, गुरु नानक, महात्मा गाँधी, भगत सिंह इसी श्रेणी में आते हैं। इसी तरह महात्मा, ईसा और मुहम्मद साहब भी। इसलिए जब मनुष्य का, मनुष्य की ऐसी उदात्त ईश्वरीय शक्ति पर विश्वास हो गया तो उसने ईश्वर को नर-रूप प्रदान किया। राम और कृष्ण सरीखे ईश्वरीय रूपों का नर रूप में अवतार लेना इसी तथ्य का सबूत है। ईश्वर की यह नर-लीला, नरों की तरह, नरों के लिए ही है इसलिए इसमें नरत्व-प्राधान्य है, ईश्वरत्व गौण है। तुलसी को उसकी बीच-बीच में याद दिलानी पड़ती है। राम और कृष्ण के अवतारों में मनुष्य रूप की प्रधानता को आज हम इसी रूप में देख सकते हैं।

'धर्म' के सम्बन्ध में तुलसी के जितने भी कथन हैं, उनमें 'परहित की भावना' को ही 'धर्म' बतलाया गया है। राम के प्रति भक्ति भावना रखने वाले लोगों के मन में यदि परहित की भावना और क्रियाशीलता उत्पन्न न हो तो तुलसी की दृष्टि में, राम की मूर्ति स्थापित कर उसका पूजा-पाठ कर या भव्य राम मन्दिर का निर्माण कर उसकी आनुष्ठानिक एवं कर्मकांडीय आराधना व्यवस्था को राम-भक्ति नहीं कहा जा सकता। उनके लिए राम-भक्ति, सुरसरि की धारा की तरह है—'राम भगति जहँ सुरसरि धारा।' और 'सुरसरि' का मतलब है सबका हित साधने वाली सरिता। जहाँ न विधर्म का निषेध है, न किसी विजातीय का, न लिंग का भेद

है, न पद-प्रभुता का, न दलित का, न ब्राह्मण का—उनके लिए 'कविता' और 'सुरसरि' का एक ही प्रयोजन है—

कीरति मनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होइ॥

'सब कहँ' हित होने का मतलब है—समाज-हितैषी लोगों का हित, समाज-विरोधियों का हित नहीं। जो लोग 'रावण' की तरह सामान्य जन का शोषण-उत्पीड़न करके अपना घर भरते रहते हैं, ऐसे लोगों का हित नहीं। ऐसे लोगों और वर्ग से तुलसी की कविता लड़ने और संघर्ष करने की सीख देती है। इस रूप में तुलसी की भक्ति एवं धर्म अपने सारतत्व के रूप में बहुत व्यापक एवं आलातीत स्थिति प्राप्त कर लेते हैं। जो लोग रूढ़ि के रूप में प्राप्त विचारों से तुलसी की कविता का मूल्यांकन करने का प्रयास करते हैं, वे देश-काल की विकास-प्रक्रिया की अवहेलना कर हर युग की तस्वीर को एक रंग में रंगी हुई देखने के अभ्यस्त हो जाते हैं। तुलसी के लोकधर्म और भक्ति के सारतत्व की गहराई में उतरने पर पता चलता है कि उसके बाहरी ढाँचे और भीतरी संरचना में आकाश-पाताल जितना अन्तर है। उसकी बाहरी संरचना देश-काल से प्रभावित है, जबकि भीतरी संरचना देशकालजयी है। उसकी यही आन्तरिक अर्थवत्ता आधुनिक जनों को प्रभावित करती है और यही बात उनकी कविता को कालजयी परम्परा के शीर्ष पर बिठाती है।

'रामचरितमानस' की आन्तरिक संरचना

जैसा कि हम कह चुके हैं कि 'रामचरितमानस' की संरचना का स्वरूप अत्यन्त जटिल है। एक है—उसकी बाह्य संरचना और दूसरी है आन्तरिक। जैसे आधुनिक काल में प्रसाद जी ने 'कामायनी' की संरचना दो स्तरों पर की है, एक बाह्य सभ्यता के रूप में, दूसरी व्यक्ति-मन की स्थिति के रूप में। 'रामचरितमानस' का प्रणयन चूँकि मध्यकाल में हुआ, इसलिए उसकी संरचना पर मध्यकालीन लोकरूढ़ियों का प्रभाव दिखाई देता है तो यह कोई अचरज की बात नहीं है। दुनिया के समस्त साहित्य पर इस तरह के प्रभाव विद्यमान हैं। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में रचनाशील महान उपन्यासकार टालस्टाय और बीसवीं सदी के विख्यात कवि-समीक्षक टी.एस. इलियट की जीवन-दृष्टि पर जब मध्यकालीन प्रभाव मौजूद हैं, तो तुलसी जैसे सोलहवीं सदी में उत्पन्न हुए कवि की जीवन-दृष्टि पर इस तरह की रूढ़ियों का प्रभाव होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। तुलसी के यहाँ ईश्वर का अवतारी रूप, युग की पतनशीलता, वर्णव्यवस्था, स्त्री के मायावी रूप का विरोध जैसी कुछ बातें हैं, जो उनको रूढ़ि के रूप में प्राप्त हुईं। मध्यकाल के हरेक कवि को इस तरह की रूढ़ियों को अपना पड़ा है। कबीर जिनको हम 'वर्णवस्था' के प्रश्न पर तुलसी से बड़ा और आगे का कवि मानते हैं, स्त्री और ईश्वरीय सत्ता के मामले में वे भी उतने ही रूढ़ि-पोषक दिखाई देते हैं। इस तरह देखने पर बड़े से बड़ा रचनाकार भी अपने समय की सीमाओं और रूढ़ियों में बँधा हुआ दिखाई देगा। इसलिए, अपनी परम्परा के सारतत्व को देखकर उनका मूल्यांकन किया जाना ही भविष्य के लिए स्वस्थकर होता है।

सारतत्व की दृष्टि से, तुलसी की कविता और 'रामचरितमानस' का मूल्य आज किसी भी रूप में कम नहीं हुआ है। सच तो यह है कि जैसे-जैसे हमारी मौजूदा विश्व सभ्यता अपनी अतियों की ओर बढ़ रही है, वैसे-वैसे संयम, मर्यादा, संतुलन, सामंजस्य, साधारणता, सत्य और समन्वय की भावना को रूपायित करने वाली 'रामचरितमानस' सरीखी कृतियों का महत्व पहले

से ज्यादा बढ़ गया है। 'रामचरितमानस' की अन्य बातों—धर्म, संस्कृति आदि को छोड़ दें और केवल उसकी 'कविता' और 'लोकमंगल की भावना' को ही ध्यान में रखें तो वह भारत की ही नहीं, समस्त विश्व की महान कृतियों की परम्परा में एक बेजोड़ कृति साबित होगी।

'रामचरितमानस' की पहली विशेषता है उसका देशकाल। यह इतना व्यापक एवं विविध है कि मानवीय जीवन एवं प्रकृति के अधिकतम रूपों की छवियों और दृष्टियों को अंकित करने का पूरा अवसर कवि को मिला है। कोई साधारण प्रतिभा, मेधा और सीमित जीवनानुभवों वाले रचनाकार द्वारा इतना बड़ा काम कर पाना सम्भव नहीं हो सकता। तुलसी ने स्वयं को जितने तरह की जीवन-परिस्थितियों में डाला है, वह एक सीमित जीवन-परिधि में रहने वाले रचनाकार के लिए सम्भव नहीं हो सकता था। यही कारण है कि उनके बाद आज तक हिन्दी में इतना बड़ा जीवनधर्मी कवि पैदा नहीं हुआ। जीवन की व्यापकता अन्यत्र भी हो सकती है किन्तु उस व्यापकता को साध लेना हरेक के वश की बात नहीं है। इसमें व्यक्त राम-कथा का प्रवाह एक नदी जैसा प्रवाह है। जैसे नदी-प्रवाह, पहाड़, मैदान, जंगल आदि अनेक तरह की प्राकृतिक संरचनाओं के बीच से चलती है, वैसे ही राम का चरित्र भी कथा के साथ प्रवाहमान रहता है। यह आकस्मिक नहीं है कि स्वयं कवि ने कई स्थलों पर राम कथा का रूपक, सरिता के अप्रस्तुत से जोड़कर बनाया है। नदी की चाल सीधी नहीं होती, वह टेढ़ी-मेढ़ी दशाओं में प्रवाहित होती है। स्वयं गंगा जी भी ऐसे ही बहती हैं, तो तुलसी को अपनी भाषा के टेढ़े-मेढ़े होने का अच्छा रूपक मिल गया—'गति कूर कविता सरित की ज्यों सरित पावन पाथ की।' यहाँ कविता और सुरसरि दोनों एक साथ मौजूद हैं। इतना ही नहीं, तुलसी ने एक जगह हिन्दी-प्रदेश की दो अन्य बड़ी नदियों—यमुना और नर्मदा से भी रामकथा का सादृश्य बतलाया है—

जम गन मुँह मसि जग जमुना-सी।
जीवन मुकुति हेतु जनु-कासी॥
सिवप्रिय मेकल सैल सुता-सी।
सकल सिद्धि सुख सम्पत्ति रासी॥

इस कथा के देश में इतना ही नहीं, और भी बहुत कुछ है। इसका कारण है इस कथा का निरन्तर विचरणशील एवं गतिशील होना। यह एक देश और एक समय की कथा नहीं है इसलिए इसके भूदृश्य और मानवीय दृश्य दोनों सतत् प्रवाहशील बने रहते हैं। इसके चरित्र नायक राम यदि किसी देश के राजा-महाराजा, सम्राट होकर रह जाते तो शायद यह इतनी अर्थवान् कृति नहीं बन पाती। रामकथा का ही प्रताप है कि यह अपने भीतर इतने बड़े देशकाल को समाविष्ट किए हुए है। तभी तो कवि ने इसके बारे में लिखा है—

रामकथा मन्दाकिनी, चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुमग सनेह बन सिय रघुवीर बिहारु॥

यही इस कथा की आन्तरिक संरचना का सांगरूपक है। यही है इसका वास्तविक देशकाल। यह मन्दाकिनी, चित्रकूट और वन और कहीं नहीं हैं बल्कि हमारा हृदय-क्षेत्र ही है। इसके लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। इसका सम्पूर्ण सौन्दर्य-विन्यास हमारे चित्त में है। जैसे चित्रकूट में पर्वत, नदी और जंगल तीनों की स्थिति एक स्थान पर विद्यमान है, वैसे ही व्यक्ति-चित्त में भी यही सब कुछ मौजूद है। वस्तुतः तुलसी का उद्देश्य है व्यक्ति-व्यक्ति के हृदय में रामकथा को स्थापित करना। इस काम में उनको सफलता भी मिली। हम देखते हैं कि आज हिन्दी-प्रदेश

के लोगों के चित्त पर, यदि किसी कृति का वास्तविक प्रभाव है, तो वह 'रामचरितमानस' का है। लेकिन खेद के साथ लिखना पड़ता है कि यह प्रभाव जितना उसकी बाहरी और मिथकीय संरचना का है उतना उसकी उस आन्तरिक संरचना का नहीं, जो चित्त रूप चित्रकूट के लिए रची गई है। इसके लिए व्यक्ति और परिस्थिति दोनों ही जिम्मेदार हैं कि 'रामचरित' को चित्त रूपी चित्रकूट के सुभग वन-विहार से दूर रखकर, उसकी मिथक-कथा को ही वास्तविक बनाकर प्रचारित किया गया। या फिर उसे राजनीति के हवाले कर दिया गया, जो उसके मन-मन्दिर की बजाय, एक स्थान पर मन्दिर बनाने की सत्तावादी राजनीति में लग गई।

व्यक्ति-मन की एक खास प्रवृत्ति रही है कि वह वास्तविकता और यथार्थ से ज्यादा मिथकों और चमत्कारों पर विश्वास करता है। यथार्थ की प्रकृति दुखद और प्रक्रिया श्रममयी होती है, इसलिए व्यक्ति यथार्थ से दूर भागता है। उसके बारे में कुछ सुनना तक उसे अच्छा नहीं लगता। दूसरे, जिस काम को करने में श्रम और समय लगे, उसे भी वह नहीं करना चाहता, इस वजह से चमत्कारवादी लोगों ने जान-बूझकर या परिपाटी से अद्भुत की रचना कर उसको इतना और इतनी तरह से प्रचारित किया है कि उसके ऊपर सामान्य बुद्धि लोगों को तुरन्त विश्वास जम जाता है। 'रामचरितमानस' की मिथकीय संरचना की लोक स्वीकृति इसी वजह से हुई कि उसके त्रासों, पीड़ाओं और तापों को दूर करने वाले भगवान, मनुज अवतार धारण करके यह काम पूरा कर देंगे। उसका काम केवल एक है उनकी भक्ति करना। भक्ति का फल है त्रासों-तापों से मुक्ति। इस तरह की कथा-रूढ़ियाँ लम्बे समय तक दुनिया के समस्त समाजों में प्रचलित रही हैं, किन्तु समय हमेशा एक समान नहीं रहता। मनुष्य की क्रियाशीलता और विवेक ने नई राहें बनाई हैं और समय को बदला है। इससे उसका अपने ऊपर भरोसा बढ़ा और अति प्राकृतिक शक्तियों पर विश्वास कम हुआ। इसी प्रक्रिया से मनुष्य ने भौतिक स्तर पर प्रगति की तथा राजतन्त्र का खात्मा करके उसके स्थान पर लोकतन्त्र को स्थापित किया। किन्तु अभी तक पूरी दुनिया की विवेकशीलता का स्तर समान नहीं है। आज भी ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम है जो ईश्वर के अवतार लेने की धारणा से अपनी सहमति नहीं रखते हों। ईश्वर के अवतार लेने की धारणा में आस्था रखने वाले आज भी इस तरह की बातों को सत्य मानते हैं—

*जब जब होइ धरम के हानी। बाढहिं असुर अधम अभिमानी॥
तब तब धरि प्रभु मनुज सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥*

इसका परिणाम यह हुआ कि 'रामचरितमानस' के वास्तविक काव्यार्थ का भली-भाँति उद्घाटन नहीं हो पाया। इसके विपरीत 'भक्ति-व्यवसाइयों' ने इस ग्रन्थ के अखण्ड पाठ की रूढ़ि को चलाकर, इसकी प्रतिष्ठा एक धर्मग्रन्थ के रूप में करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। 'रामलीलाओं' में तो धार्मिक अनुष्ठान की प्रवृत्ति पहले से ही चली आ रही थी। अतः इसके वास्तविक काव्यार्थ एवं अन्तर्पाठ को समझने एवं विश्लेषित करने की जरूरत बनी रही। 'मानस' के अरण्य काण्ड में राम ने लक्षण से, मनुष्य जीवन की आन्तरिक दुर्बलताओं को बतलाते हुए कहा है—

*तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिग्यान धाम मन करहिं निमिष मुहुँ छोभ॥*

लगभग यही बात रावण को समझाते हुए विभीषण के मुख से कहलवाई गई है—

काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।
सब परिहरि रघुबीरहिं भजहु भजहिं जेहि सन्त॥

इन्हीं बातों को 'उत्तरकाण्ड' में काकभुशुण्डि के मुख से गरुड़ के प्रति पुनः कहलवाया है—गरुड़ अपने मोह सम्बन्धी प्रश्न को काकभुशुण्डि के समक्ष रखते हैं। तब काकभुशुण्डि इस तरह उत्तर देते हैं—

ग्यानो तापस सूर कबि कोबिद गुन आगार।
केहि कै लोभ बिडम्बना कीन्हि न एहि संसार॥
श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि प्रभुता बधिर न काहि।
मृगलोचनि के नैन सर को अस लागि न जाहि॥

उक्त सभी दुर्बलताएँ मानव-जीवन से सम्बन्धित हैं। इन्हीं कमजोरियों से व्यक्ति और समाज अनेक तरह के त्रासों और आपदाओं से गुजरते हैं। वैसे काम, क्रोध, लोभ आदि अवगुण किसमें नहीं होते? 'मानस' में पाँच उदाहरण इस तरह के हैं, जहाँ राम ने या तो इनको सही दिशा दी है या फिर जो अपने हठ पर रहे हैं, उनका ध्वंस किया है। इनमें 'काम' और 'मोह' की विकृतियों नारद जैसे देव-चरित्र में दिखलाई हैं तथा 'क्रोध' के प्रतीक परशुराम में इस प्रवृत्ति का असंतुलन दिखलाया है। तीसरा उदाहरण बाली का है जो अपनी ताकत के अहंकार में अपनी मृत्यु को आमन्त्रित करता है। चौथा उदाहरण कैकेई का है, जो सत्ता पाने के लोभ में अपने पति तक को खो देती है। पाँचवाँ और सभी प्रवृत्तियों—काम, क्रोध, मद और लोभ का पुंज रावण है, जो अपनी जिद के आगे किसी की सलाह को नहीं मानता। मनुष्य की काम-प्रवृत्ति इतनी जटिल और आकर्षक है कि इसके सामने अच्छे-अच्छे वीरों का धैर्य डिंग जाता है। तुलसी ने तो दशरथ तक के लिए कहा है—'सूल कुलिस असि अंगविहारे, ते रतिनाथ कुसुम सर मारे।' वस्तुतः 'रामचरितमानस' इन्हीं मानवीय प्रवृत्तियों के संघर्ष और सन्तुलन को दर्शाता है। इनके लिए जो कथा-विन्यास तैयार किया गया है, वह इसका बाहरी आवरण है। सामान्य जन के मन में रामकथा का यही बाहरी पाठ बसा हुआ है। 'रामलीलाओं' का संचालन भी इसी पाठ के आधार पर किया गया है, जबकि इसके मुख्य कथा-प्रसंग एवं पात्र मनुष्य की सद्-असद् प्रवृत्तियों के संघर्ष को उद्घाटित करते चलते हैं। नारद का अभिमान और उससे उत्पन्न काम उन जैसे देवर्षि की हँसी उड़वाते हैं। प्रतापभानु का लोभ उसे राक्षसत्व की ओर ले जाता है। प्रतापभानु की वृद्धावस्था, मृत्यु और रोगों से मुक्ति, युद्ध में सदैव विजय और पृथ्वी पर सौ कल्प तक एकछत्र अकण्टक राज्य करने की साम्राज्यवादी कामना ही उसे पतन की ओर ले जाती है। वह शत्रु तपस्वी से यही वरदान माँगता है—

जरा मरन दुख रहित तुन समर जितै जनि कोड।
एकछत्र रिपुहीन यहि राज कल्प सत होड॥

यही लोभ-पाश है जो उसे वंश-नाश की दिशा में ले जाता है। व्यक्ति की इसी तरह की साम्राज्यवादी आकांक्षाएँ उसका पतन कराती हैं। यह इस प्रसंग का सारतत्व है, न कि यह, कि वह अगले जन्म में रावण के रूप में कैसे जन्मा? हर युग में काम, क्रोध, मद, लोभ के पुतले होते रहे हैं। ऐसे लोगों की गणना रावण की परम्परा में की जाती है। दरअसल, रावण कोई व्यक्ति न होकर मनुष्य की खल प्रवृत्तियों—काम, क्रोध, मद, लोभ का एक समुच्चय और

उनका प्रतीक है। मनुष्य की ये प्रवृत्तियाँ, उसे उसकी प्रकृति और परिवेश से प्राप्त होती हैं और इन्हीं में ये फूलती-फलती हैं। इसका मतलब यह कतई नहीं है कि इन प्रवृत्तियों का सर्वथा निषेध होने पर ही सामाजिक समरसता एवं सन्तुलन पैदा होता है। इनमें काम-क्रोध तो ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं, जो समाज में गति और सन्तुलन बनाए रखने के लिए जरूरी हैं, बशर्ते कि इनकी दिशा सामाजिक अर्थवत्ता लिए हुए हों और ये मर्यादा में हों। राम को जो हमारे यहाँ मर्यादा पुरुषोत्तम की संज्ञा दी जाती है, वह 'मर्यादा' और कुछ नहीं, यही प्रवृत्तिगत सन्तुलन है। रावण में असन्तुलन है, जिससे उसका लोभ और अहंकार इतना बढ़ जाता है कि वह अपनी सबसे निकटस्थ पत्नी मन्दोदरी की सलाह की भी अनसुनी करता है। यही हाल बाली का है, उसे भी अपनी शक्ति, बल, पौरुष का भारी अहंकार है। वह भी अपनी स्त्री तक की सीख नहीं मानता। कहा है—

*मूढ़ तोहि अतसय अभिमाना ।
नारि सिखावन करास न काना॥*

राम का एकमात्र कार्य है सामाजिक समरसता के लिए अमर्यादित प्रवृत्तियों को मर्यादित करना। इसके लिए पहले वे स्वयं मर्यादा का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। 'मर्यादा' की कसौटी पर वे कितने खरे हैं, उनकी कदम-कदम पर परीक्षा होती है। जहाँ तक 'काम' का सवाल है, वे पिता की तरह 'बहुपत्नी' की परम्परा को आगे नहीं बढ़ाते। एक पत्नी की मर्यादा रखते हैं। वन में जाकर भी किसी औरत के जाल में नहीं फँसते। उनको राज्य सत्ता का लोभ नहीं और न ही ऐश्वर्यमय जीवन का भोग करने का। दशरथ तो कैकेई से कहते ही हैं कि 'लोभ न रामहिं राज कर बहुत भरत पर प्रीति'—किन्तु जब उनको वनवास की बात कैकेई से सुनने को मिलती है तो वे इससे विचलित नहीं होते बल्कि इसे अपने लिए हितकारी मानकर कहते हैं—

*मुनिगन मिलन बिसेषि वन सबहिं भाँति हित मोरि ।
तेहि महँ पितु आयसु बहुर जननी सम्मत तोरि॥*

यह पूरा प्रकरण राम के उदात्त निर्लोभी व्यक्तित्व का उदाहरण है। यही राम का ईश्वरत्व है। हर मनुष्य जब अपनी ओर देखता है तो स्वयं को काम, क्रोध, मद, लोभ आदि के जालों में जकड़ा हुआ पाता है। आज का मनुष्य भी चाहे स्वयं को लोकतान्त्रिक समय का नागरिक क्यों न मानता हो परन्तु आज वह जिस तरह की साम्राज्यवादी वित्तीय पूँजी और उसके बाजार के जाल में फँसा हुआ है, उसमें दुनिया और देश के उच्च एवं मध्य वर्ग की जिन्दगी एवं आकांक्षाओं को देखने पर पता चलता है कि मनुष्य की ये प्रवृत्तियाँ निरन्तर मर्यादा से बाहर आती जा रही हैं, जिससे व्यक्ति की उपभोग-वृत्ति इतनी ज्यादा बढ़ गई है कि प्रकृति-पर्यावरण पर भी संकट के बादल मँडरा रहे हैं। आतंकवादी प्रवृत्तियों का विश्व स्तर पर फैल जाने का मुख्य कारण भी यही है कि व्यक्ति, समाज और देशों की इसी प्रवृत्तिगत मर्यादा का असन्तुलित होते जाना। व्यक्ति की भोगाकांक्षा की कोई सीमा ही नहीं। इसीलिए आधुनिक युग में महात्मा गाँधी को रामराज्य का आदर्श प्रासंगिक लगा और उन्होंने उसे ही अपना आदर्श बनाया। 'रामराज्य' होते ही सबसे पहली बात हुई कि आपसी वैर-भाव खत्म हो गए और विषमता मिट गई। दरअसल, विषमता ही सारे दुखों-त्रासों और पीड़ाओं की जननी है। विषमता में ही ताकतवर वर्ग, कमजोर वर्ग को अपने अधीन कर अपनी ताकत को बढ़ाता है और यही विषमता, समाज में असन्तुलन उत्पन्न करती है। राम के राजा बनते ही पहली बात तुलसी ने लिखी—

बयरु न कर काहू सन कोई।
राम प्राप विषमता खोई॥

समाज में जब एक निश्चित समता आ जाती है, तभी लोग अपनी-अपनी मर्यादा में रहकर काम कर पाते हैं। विषम समाजों में मर्यादा-भंग सबसे ज्यादा होता है। जनता में पारस्परिक सौहार्द और प्रेम भी समता के परिवेश में ही हो पाता है। विषमताओं में कोई किसी से प्रेम नहीं करता। विषमता से घृणा भाव पैदा होता है। दरिद्रता में व्यक्ति दुखी एवं दीन बन जाता है और लक्षणहीनता-अवगुण आदि की जननी भी दरिद्रता ही होती है, जो विषमता के कारण रहती है। राम राज्य में विषमता नहीं रही तो दरिद्रता, दुख, दीनता, अबोधता, लक्षणहीनता आदि अभावों से उत्पन्न दुर्गुण स्वतः ही समाप्त हो गए—

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना।
नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥

‘रामचरितमानस’ के आन्तरिक पाठ की यह दिशा हमको इस कृति के सारतत्व से परिचित कराती है। इसके मिथकीय पाठ पर, आधुनिक व्यक्ति का मन टिक नहीं पाता। राम का मुनजत्व इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि इस पृथ्वी पर जितना भी प्रपंच है, वह मनुष्य के द्वारा है और मनुष्य के लिए है। अब इसमें उनके ईश्वरत्व की कोई आवश्यकता नहीं रह गई है क्योंकि मानवीय विकास की गति में जितने भी परिवर्तन हुए हैं, वे सभी मनुष्य की मेधा, प्रतिभा, श्रम, कौशल, साहस, संगठन और चेतना-स्तरों के सतत उन्नयन के फल हैं, न कि ईश्वरीय अवतार या सत्ता के परिणाम। सच तो यह है कि मनुष्य की उदात्ता ही उसका ईश्वरत्व भी है। यदि, इस अर्थ में ईश्वरत्व भी रहे तो इसके आन्तरिक पाठ में किसी गत्यवरोध की सम्भावना शायद रहे।

रामलीला और हमारा समय

सच तो यह है कि देश में अनेक स्थानों पर रामलीला-प्रदर्शन की परम्पराएँ तथा दशहरा के दिन रावण-दहन की रीति बनी रहने के बावजूद ‘रामलीला’ के प्रति शहरी, सम्पन्न एवं शिक्षित दर्शक की अभिरुचि लगभग खत्म हो चुकी है। अभी लोगों के मन में एक मिथकीय विश्वास एवं आस्था का भाव है या कहेँ उसकी रूढ़िबद्ध मानसिकता है कि जो इस परम्परा का निर्वाह करा रही है। परम्परा के निर्वाह का एक मनोवैज्ञानिक पहलू यह भी है कि दैहिक, प्राकृतिक और भौतिक तापों से मुक्ति के कोई ठोस विकल्प लोगों की समझ में नहीं आते। वह अभी यही समझता है कि इस जग-मंगल करने वाली रामकथा का पाठ, श्रवण या रामलीला-दर्शन से उसकी मुक्ति हो जाएगी। एक लोकेतर छाया एवं स्वप्नलोक उसकी मानसिकता का अंग बना हुआ है, जिसे नई एवं आधुनिक कहलाने वाली शिक्षा-व्यवस्था भी अपनी जगह से नहीं डिगा पाई है।

इसका धार्मिक पहलू ही इसकी सत्ता व अस्तित्व को बचाए हुए है। दुनिया में ईसाई, मुसलमान, बौद्ध आदि अनेक तरह की धर्मसत्ताएँ अपना काम कर रही हैं, इसी तरह हिन्दू-सत्ता की अभिव्यक्ति भी उसके कई तरह के पर्वो-उत्सवों एवं कर्मकाण्डीय-अनुष्ठानों से होती रही है। इन्हीं में एक ‘रामलीला’ भी है, जिसका सम्बन्ध वैष्णव भक्ति आन्दोलन से रहा है।

जैसाकि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि ‘रामलीला’ का आधारग्रन्थ ‘रामचरितमानस’

है, जो एक महान काव्यकृति है। यह तुलसी के भक्तिभाव के समानान्तर रची हुई एक महत्वपूर्ण कलाकृति है, जिसने 'हिन्दी-जाति' के गौरव एवं सम्मान में श्रीवृद्धि की है। यह एक कालजयी रचना है, जो अतीत, वर्तमान एवं भविष्य तीनों समयों को साधने वाली है। यह जितनी मिथकीय प्रतीत होती है, उतनी ही यह यथार्थपरक भी है। इसके मिथक की आत्मा में यथार्थ का निवास है। इसमें पुरातन संस्कृति की रूढ़ियों का निर्वाह होते हुए भी, इसमें ऐसा कुछ शेष रह जाता है, जो आधुनिक पाठक के सम्मोहन का कारण बनता है। 'रामचरितमानस' के नाट्यरूप 'रामलीला' की में भी अपार सम्भावनाएँ हैं बशर्ते कि 'रामलीला' को पुरातन रूप से बाहर निकालकर उसके आधुनिक अर्थ को अन्वेषित कर इसे सीमित अवधि—चार-पाँच दिन का आधुनिक नाट्य रूप प्रदान किया जाए। 'भारत : एक खोज' धारावाहिक में श्याम बेनेगल ने 'रामायण-महाभारत' के प्रसंगों में यह करके दिखला दिया है।

आदिम साम्यवाद, रामराज्य और रामलीला

'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड के आरम्भ में वर्णित 'रामराज्याभिषेक' के पश्चात् रामलीला का समापन कर दिया जाता है। जबकि इसके पश्चात् ही तुलसी अपने विकल्प को प्रस्तुत करते हैं। तुलसी के दर्शन और आदर्श इसके बाद ही आते हैं। यद्यपि, यहाँ आकर लीला के संघर्षपूर्ण दौर की समाप्ति हो जाने की वजह से इसका नाट्य पक्ष गौण हो जाता है। देखा जाए तो इससे पूर्व जो घटना-प्रसंग चलते हैं, उनसे ऐसा मालूम होता है कि इस कथा-प्रसंग का सम्बन्ध, मानव-सभ्यता के उस आदिम काल से है, जब मनुष्य जंगलों में रहता था। वह पूरी तरह प्रकृति पर निर्भर था। ऐसी कोई मानवीय उत्पादन-प्रक्रिया नहीं थी, जिससे सरप्लस उत्पादन हो सके और उससे कोई विनिमयकारी व्यवस्था बन सके। इसके बाद जब मानव-सभ्यता उत्पादन प्रक्रिया के सरप्लस से अगले चरणों में पहुँची होगी, तो इस कथा का बीजारोपण हुआ होगा, जो सामन्तकालीन परिस्थितियों में राम-रावण संघर्ष की कथा के रूप में प्रस्तुत हुई। आरम्भ में इसके न जाने कितने रूप रहे हैं, जिनको हम बौद्ध जातकों तथा जैन महाकाव्यों में देखते हैं। वाल्मीकि ने इसे पहली बार एक सम्पादित, व्यवस्थित एवं काव्यात्मक रूप प्रदान किया। उन्होंने ही पहली बार इसको एक सामाजिक आदर्श का रूप प्रदान किया, जिसे मध्यकाल में तुलसी ने वैष्णव भक्ति आन्दोलन के चलते, फिर से वेद-परिपाटी के अनुरूप वर्ण-व्यवस्थाकारी स्वरूप प्रदान किया। तुलसी ने रामराज्य का इसमें जो आदर्श-रूप अंकित किया है, वह 'समता' जैसे आदर्श पर आधारित है। इसका सम्बन्ध और स्रोत उस आदिम साम्यवादी समय से बैठता है, जब आदमी के पास न साधन-स्रोत थे, न सभ्यतागत जटिलताएँ थीं। नर-वानरों की दोस्ती की कहानी और इसका मूलाधार 'वन की कथा' होने से भी यही समझ में आता है। एक तरह से यह आदिम साम्यवाद के आदर्शों का सामन्ती व्यवस्था से संघर्ष है, जिसमें सामन्तवाद के भी दो रूप हैं। एक रूप वह है जो आदिम साम्य की परिस्थितियों के पक्ष में आदर्शवादी सामन्तवाद से प्रेरित एवं परिचालित है, अन्यथा सामन्तवाद में विषमता खो देने की बात शायद ही की जाती। यह सामन्तवाद ही है, जो सर्वप्रथम विषमता के औचित्य को अवधारणात्मक स्वरूप प्रदान करता है।

राष्ट्रीय काव्यधारा और राजनीति

सुधीर रंजन सिंह

राजनीति से कविता के सम्बन्ध की बात आती है तो प्रायः कवि और आलोचक किस्म-किस्म की पहेलियों की भाषा में दलीलें पेश करने लगते हैं, जो अपने परिणाम में पिटी-पिट्टाई ही बात लगती है। वस्तुतः राजनीति विचारधारात्मक भ्रान्ति से युक्त होती है। उसमें कविता और कला-व्यापार से जुड़ी अन्य संस्थाओं की तुलना में ढाँचागत सुसंगति का अभाव होता है। दूसरे शब्दों में, राजनीतिक सिद्धान्त अमूर्त होते हैं और लागू करने की दृष्टि से अत्यन्त सरलीकरण के शिकार। आचार के स्तर पर बड़बोलेपन और बयानबाजी में भिड़े हुए। इसके विपरीत कविता विचारधारा के सफल रूपान्तरण की क्षमता रखती है। राजनीतिक सिद्धान्तों से अधिक गूढ़ और समृद्ध इसलिए भी है कि वह विचारधारा से समान रूप से एकता और दूरी पैदा करने की क्षमता रखती है। इस रूप में वह राजनीति और दूसरी सामाजिक संस्थाओं की तुलना में अधिक उन्नत सामाजिक संस्था होने का आदर्श पेश करती है।

एक कवि अपने समय के जिस राजनीतिक वातावरण में साँस लेता है, उसका सीधा प्रभाव ग्रहण करे, इस बात में भी कोई दोष नहीं है। किसी समय की यह माँग भी हो सकती है। हिन्दी में राष्ट्रीय काव्यधारा, प्रगतिशील कविता और नक्सल कविता के बड़े हिस्से को इसी रूप में देखा जा सकता है। यह हिस्सा कविता की कलात्मकता और मार्मिकता से अधिक उसकी राजनीतिक क्रान्तिकारिता को महत्व देता है। उसमें यह समझ निहित होती है कि राजनीतिक परिवर्तन को उद्देश्य बनाकर कविता लिखी जाए और इस कारण उसकी कलात्मकता को कुछ नुकसान भी हो तो कोई बात नहीं। इस समझ पर आधारित कविता का अपना महत्व है, लेकिन राजनीतिक उद्देश्यों से प्रत्यक्ष उत्प्रेरणा के बावजूद वह भी पहले कविता है। इसलिए कि उसकी रचना कविता के नियमों से हुई है, किसी राजनीतिक सिद्धान्त से नहीं। दूसरे शब्दों में, कविता उपजती है कविता की समझ से, न कि राजनीतिक सिद्धान्त और इच्छाओं से। इसमें किसी न किसी रूप में काव्यगत रुचियों और नियमों का ख्याल रखा जाता है।

हिन्दी में राजनीतिक आन्दोलन से प्रभावित पहले महत्वपूर्ण कवि मैथिलीशरण गुप्त हैं। उनकी पहली प्रबन्ध-रचना है 'रंग में भंग' (1909)। इसमें राजनीतिक राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति हुई है। यह अभिव्यक्ति तिलक, गोखले या गाँधी के सिद्धान्तों के बखान से नहीं, ऐतिहासिक आख्यान का रूपक खड़ा करने के द्वारा हुई है। प्रत्यक्षतः उसमें कोई राजनीतिक संकेत नहीं है।

सम्पर्क : 65, सुभालय विला, पिपलानी, भोपाल-46200 (म.प्र.) मो.-09406542866

एक बड़े सदमे की कथा है। संक्षेप में, चित्तौड़ के राजा लाखा ने अपने राज्याभिषेक के बाद अपने बड़े भाई राणा की हत्या के जवाब में जब तक बूँदी का दुर्ग नहीं तोड़ लेते, अन्न-जल ग्रहण नहीं करेंगे, जो तत्काल सम्भव नहीं था। समाधान निकला कि बूँदी-दुर्ग का प्रतिरूप बनाया जाए और राजा उसी को तोड़कर अपने प्रण की रक्षा करें। दुर्ग का प्रतिरूप शीघ्र तैयार किया गया। उसे तोड़ने का अनुष्ठान शुरू हुआ। चित्तौड़ में ही बूँदी-निवासी राणा का भृत्य कुम्भ रहता था। उसे जब सारा हाल मालूम हुआ तो उसका मातृभूमि प्रेम जाग उठा। दुर्ग जरूर कृत्रिम था, लेकिन कुम्भ के स्वदेश से उसका प्रतीकात्मक सम्बन्ध था। कुम्भ दुर्ग की रक्षा में सशस्त्र आगे आ खड़ा हुआ।

*तोड़ने दूँ क्या इसे नकली किला मैं मान के,
पूजते हैं भक्त क्या प्रभु-मूर्ति को जड़ मान के?*

*है न कुछ चित्तौर यह, बूँदी इसे अब मानिये,
मातृ-भूमि-पवित्र मेरी पूजनीया जानिए।*

‘रंग में भंग’ और गाँधी जी के ‘हिन्द स्वराज’ का रचनाकाल एक ही है। ‘हिन्द स्वराज’ कुछ महीने बाद की है। उसमें बहुत साफ है कि गाँधी जी एक दूसरी ज़मीन (दक्षिण अफ्रीका) पर लड़ाई लड़ते हुए भारत की स्वाधीनता की चिन्ता कर रहे थे। बूँदी के कुम्भ के बलिदान के पीछे भी यह दृष्टि है। ‘हिन्द स्वराज’ का पहला अध्याय है ‘काँग्रेस और उसके कर्ता-धर्ता’। उसमें प्रश्न रखा गया है : “क्या स्वराज की भावना हिन्द में पैदा हुई आप देखते हैं?” गाँधी जी का उत्तर है, “वह तो जब से नेशनल काँग्रेस कायम हुई तभी से देखने में आई है। ‘नेशनल काँग्रेस’ क्या नेशनल काँग्रेस प्रतिरूपित बूँदी के दुर्ग के समान नहीं है—राष्ट्रीयता की चेतना का प्रतीक?”

यह दूर की कौड़ी लाने की बात नहीं है। कविता पर जबर्दस्ती अर्थ थोपना ठीक भी नहीं; यहाँ केवल उस युग की मानसिक संरचना को पहचानने की बात है, जो काल्पनिक और वास्तविक चरित्रों और दो भिन्न पाठों में एक जैसी दिखाई पड़ रही थी। समान राजनीतिक अन्तर्वस्तु!

मैथिलीशरण गुप्त की दूसरी प्रबन्ध-रचना है ‘जयद्रथ वध’। सभी जानते हैं यह ‘महाभारत’ की प्रसिद्ध कथा है। अभिमन्यु की वीरता का वर्णन, जयद्रथ का हृदयहीन आचरण, अर्जुन द्वारा जयद्रथ वध की प्रतिज्ञा और उसका वध-पूरा प्रसंग वीरता, करुणा और लक्ष्य-प्राप्ति की भावना से इस प्रकार ओत-प्रोत है कि पराधीन भारत में लिखी गई इस कविता में स्वतः स्फूर्त ‘पॉलिटिकल अपीलिंग’ दिखाई पड़ने लगती है।

वर्तमान परिस्थितियों के विश्लेषण के द्वारा ही अतीत का वर्णन ‘अपीलिंग’ हो सकता है। राष्ट्रीय काव्यधारा के कवि इसी समझ के आधार पर काव्य-रचना कर रहे थे। राजनीतिक उद्देश्यों के कवि होते हुए भी वे कमजोर कवि नहीं कहे गए। यह बहुत बाद की बात है, जब उनके कवि को छोटा करके देखा जाने लगा।

मैथिलीशरण गुप्त हाल की ‘मुसद्दस’ के वजन पर ‘भारत भारती’ लिखे जाने के लिए महावीर प्रसाद द्विवेदी और राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों द्वारा आमन्त्रित कवि थे। ‘भारत भारती’ एक प्रकार से प्रायोजित काव्य-रचना है। यह कविता की दृष्टि से कमजोर है। इसके द्वारा कविता का राजनीतिक उपयोग अधिक हुआ है।

‘भारत भारती’ से एकाधिक राजनीतिक कार्यसिद्धियाँ प्राप्त हुई थीं। खड़ी बोली कविता को लोकप्रियता दिलाने की दृष्टि से यह सबसे समर्थ रचना साबित हुई। खड़ी बोली हिन्दी, हम सभी जानते हैं, एक राजनीतिक परिस्थिति की उपज थी और इसे सर्वमान्य भाषा का दर्जा दिलाने के पीछे पुनरुत्थानवादी राजनीतिक प्रयासों की बड़ी भूमिका थी। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक तक खड़ी बोली हिन्दी चल पड़ी, लेकिन उसमें कविता का मार्ग अब भी अवरुद्ध था। यह ‘भारत भारती’ है, जिससे वास्तविक मायने में खड़ी बोली कविता की सफलता का दौर शुरू होता है। इस तरह, भाषा सम्बन्धी एक बड़े राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति हुई।

‘भारत भारती’ की तुलना में जयद्रथ वध’ कविता ज़्यादा है। कलात्मक निखार की दृष्टि से मैथिलीशरण गुप्त ने बाद की कविता में उल्लेखनीय उपलब्धि हासिल की—विशेष कर ‘साकेत’, ‘झंकार के गीतों’, ‘यशोधरा’ और ‘द्वापर’ में; लेकिन उनकी सबसे लोकप्रिय रचना ‘भारत भारती’ ही है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि न तो राजनीति और कविता की परस्पर विरोधी और एकान्तिक भूमिका होती है और न ही सभी परिस्थितियों में कला पक्ष की भूमिका सर्वोपरि होती है।

‘भारत भारती’ की सफलता का रहस्य है वर्तमान राजनीति के विश्लेषण के द्वारा अतीत में आशा की साँस फूँकना। ‘भारत भारती’ कलात्मक नहीं है, लेकिन इस दृष्टि से सफल है।

वर्तमान परिस्थितियों की पकड़ से, जिनमें राजनीतिक—सांस्कृतिक गतिविधियों का गहरा योगदान होता है और जो व्यापक जनसमुदाय को विचारधारात्मक भ्रान्ति से अपने काबू में कर चुकी होती है, कमज़ोर कला भी महत्वपूर्ण हो उठती है। ‘भारत भारती’ इसका उदाहरण है। यह आधुनिक कला की पहली क्लैसिक है।

कविता में इतिहास का राजनीतिक उपयोग और स्वयं कविता का राजनीतिक उपयोग—यह कविता में हिन्दू इतिहास के बखान से सम्भव हुआ। फ्रेंचेस्का ओरसिनी की टिप्पणी सही है कि मैथिलीशरण गुप्त ने कविता की शक्ति के समान ही इतिहास के बखान की शक्ति को पहचाना।² वे आर्यसमाजी नहीं थे, लेकिन इस काम में उन्हें निश्चित ही आर्यसमाजी विचार और गतिविधियों से प्रेरणा मिली थी। ओरसिनी का ज़ोर इसी बात पर अधिक है। उससे भिन्न ‘भारत भारती’ में समन्वित हिन्दू-दृष्टि दिखाई पड़ती है। इसमें नवजागरण काल की सभी मान्य हिन्दू-दृष्टियों को ढूँस-ढूँस कर भरा गया है। आर्यसमाज का प्रभाव एक पक्ष है।

‘भारत भारती’ स्वाधीनता के विचार से ओत-प्रोत है, लेकिन इसमें अँगरेज़ी साम्राज्य से लोहा नहीं लिया गया है। दूसरे दशक में स्वाधीनता आन्दोलन की जैसी संरचना थी, इसकी संरचना उसके अनुरूप है।

*शासन किसी पर—जाति का चाहे विवेक विशिष्ट हो,
सम्भव नहीं है किन्तु जो सर्वांश में वह इष्ट हो।
यह सत्य है, तो भी ब्रिटिश—शासन हमें सम्मान्य है,
वह सु-व्यवस्थित है तथा आशा—प्रपूर्ण, वदान्य है।*

(भारत भारती, पृ.—91)

नवजागरण के चिन्तकों के द्वारा यह लगभग मान्य दृष्टिकोण था। अतीत पर गर्व के साथ-साथ यह विचार भी उनमें प्रबल था कि भारत पुनर्रचित हुआ अँगरेज़ी राज में। ‘भारत भारती’ के अन्त में इस विचार की पुष्टि की गई है—

है ब्रिटिश शासन की कृपा ही यह कि हम कुछ जग गए,
स्वाधीन हैं हम धर्म में, सब भय हमारे भग गए
निज रूप को फिर हम सभी कुछ-कुछ लगे हैं जानने,
निज देश भारतवर्ष को फिर हम लगे हैं मानने।

(वही, पृ.—186)

दूसरे दशक का यह राष्ट्रबोध था। यह बात काँग्रेस की सोच और गतिविधियों में भी विद्यमान थी। इस प्रकार यह युग की मानसिक संरचना का मामला था। मैथिलीशरण गुप्त ने कविता में उसका निर्वाह—मात्र किया है।

अतीत, वर्तमान और भविष्य—‘भारत भारती’ के तीन खण्ड हैं। तीनों पर ‘अतीत राग’ ही हावी है, इस घोषणा के बावजूद—‘बैठे हुए हो व्यर्थ क्यों? आगे बढ़ो, ऊँचे चढ़ो’ (पृ.—166)—खुद कवि की पीठ भविष्य की ओर है। वह अतीत में तूफान पैदा करके भविष्य की रचना करना चाहता है। यह तूफान भविष्य को भारी पड़ेगा, इसकी सुध न मैथिलीशरण गुप्त को है न नवजागरण के अधिकांश चिन्तकों को।

‘भारत भारती’ के उदार हिन्दू का मुसलमानों से आग्रह है—‘पीछे हुआ सो हो गया, अब सामने देखो सभी।’ (पृ.—111) भारत-भारतीकार, कितना बड़ा यह अन्तर्विरोध है, खुद सब कुछ पीछे को देखता है! भविष्य की ओर देखने की नई राजनीतिक दृष्टि के प्रति वह बहरा है।

‘भारत भारती’ अल्प और अन्तर्विरोधग्रस्त वैचारिक पूँजी के सहारे बड़ा असर पैदा करने की मंशा का काव्य है। यह कलहवादी राजनीति को आगे नहीं करती। इसी बात से सन्तोष किया जा सकता है।

वस्तुतः मैथिलीशरण एक जटिल हिन्दू थे। मुंशी अजमेरी उनके घनिष्ठ मित्र थे। कहते हैं कि एक बार वे किसी मौके पर मुंशी अजमेरी के साथ अपने ससुराल गए। मुंशी अजमेरी को मुसलमान होने के कारण सुसुराल वालों ने पंगत से उठा दिया था। उस घटना के बाद मैथिलीशरण गुप्त कभी अपने ससुराल नहीं गए। इससे सन्देश बनता है कि गुप्त जी की हिन्दू दृष्टि मुसलमानों को अपनी पंगत से अलग नहीं करती। ‘भारत भारती’ के बारह-तेरह साल बाद मैथिलीशरण गुप्त ने ‘हिन्दू’ की रचना की। उसमें जहाँ ‘केवल हिन्दू-हिन्दुस्तान’ की घोषणा की, वहीं भारतेन्दु की उक्ति के सहारे यह भी कहा—

मुसलमान रसखान-समान,
कर निज ‘ब्रज गोकुल’ का गान,
अब भी द्वार खुला है, आयँ
‘कोटिन हिन्दू’ वारे जायँ

(हिन्दू, पृ.-98)

वस्तुतः मैथिलीशरण गुप्त की दृष्टि नवजागरण के उन ‘उदार’ चिन्तकों की संगति में है, जो मुसलमानों को हिन्दू आचरण के अनुरूप देखना चाहते थे। यह दृष्टि आज भी राजनीतिक मुद्दे के रूप में जीवित है और उसमें उदारता वाली कोई बात नहीं बची है।

मैथिलीशरण गुप्त की कविता में सुसंगत राजनीतिक विवेक का अभाव है, लेकिन उसमें राजनीतिक भ्रान्ति भी नहीं है। भ्रान्ति हो भी कैसे सकती है उस कवि को, जो सदा इस बात के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ रहा हो—“धनुर्बाण वा वेणु लो श्याम रूप के संग/मुझ पर चढ़ने से रहा

राम! दूसरा रंग।” गुप्त जी ने सिख गुरुओं का वृत्तान्त लिखा, मार्क्स पर कविता लिखी, लेकिन वह अपनी ‘समझ’ और ‘ईमान’ से आगे-पीछे नहीं हुए। अपने ‘ईमान’ पर टिके रहने का महत्व होता है।

राष्ट्रीय काव्यधारा के कवियों में सबसे आधुनिक रामधारी सिंह दिनकर हैं। इतिहास में बी.ए (ऑनर्स) किए व्यक्ति देश-विदेश के इतिहास का ज्ञान बटोर रखा था। इनकी आँख नेहरू युग में खुली थी। लेकिन इतिहास को आत्मसात करने की प्रक्रिया नेहरू से इनकी उलटी रही। नेहरू पश्चिम से देश की ओर लौटे थे। दिनकर ने ठेठ देशी दुनिया में रहते हुए इतिहास और पौराणिक आख्यानों के लिए अनुभूति के क्षेत्र का द्वार खोला था। नेहरू इतिहास-बोध के व्यक्ति थे, दिनकर इतिहास के काव्यात्मक बोध के। नेहरू एक ऐसा इतिहास गढ़ने की कोशिश कर रहे थे जो वर्तमान की जरूरतों के मुताबिक हो। दिनकर ने काव्य-रचना के अपने प्रथम दौर में ही ‘हिमालय’ (1933) जैसी कविता लिखी। ‘मेरे नगपति! मेरे विशाल!’—हिमालय के लिए यह सम्बोधन दिलों पर छा गया। हिमालय के बहाने भारत के गौरव और पतन का आख्यान और एक प्रभावी सन्देश—‘नव-युग-शंख ध्वनि जाग रही/ तू जाग, जाग, मेरे विशाल!’ (संचयिता, पृ.—27) इसी क्रम में ‘आलोक धन्वा’ कविता आती है। जागरण के सन्देश से लबालब—‘मैं विभा-पुत्र, जागरण गान है मेरा/जग को अक्षय आलोक दान है मेरा।’ (वही, पृ.—43) एक कविता का शीर्षक ही है ‘जागरण’—‘मैं शिशिर शीर्णा चली अब जाग ओ मधुवास वाली।’ ये सारी कविताएँ ‘रेणुका’ (1935) की हैं।

‘रेणुका’ से राष्ट्रीय धारा का नया वसन्त शुरू हुआ। इसमें नेहरू युग का युवापन और ताजगी है। नेहरू और दिनकर में एक भारी अन्तर है। नेहरू राष्ट्रीयता और अन्तरराष्ट्रीयता में गहरे संवाद के पक्षपाती थे। यह बात दिनकर में नहीं है। पराधीन जाति के लिए उन्होंने अन्तरराष्ट्रीयता की उपासना अनुचित मानते हुए कहा कि “जो लोग हमें अन्तरराष्ट्रीयता के भुलावे में डालकर हमारी आँखों को दिल्ली से हटाकर अन्यत्र ले जाना चाहते हैं, वे अवश्य ही हमें धोखा दे रहे हैं।”³ इशारा कम्युनिस्टों की ओर है। प्रसंग द्वितीय विश्वयुद्ध और ‘भारत छोड़ो’ आन्दोलन का है। 8 अगस्त, 1942 को गाँधी जी ने ‘भारत छोड़ो’ आन्दोलन का नारा दिया था। कम्युनिस्ट फासीवाद से मुकाबला के लिए स्वाधीनता आन्दोलन को शिथिल करने के पक्ष में थे। साम्यवादी रूस पर नाजी सेना ने हमला कर दिया था। इस दृष्टि से कम्युनिस्टों का कर्तव्य बनता था कि वे रूस को बचाने का नारा दें। लेकिन स्वाधीनता आन्दोलन के प्रति वे सन्तुलित दृष्टि नहीं रख पाए। यह दुर्भाग्यपूर्ण था। लेकिन दिनकर ने उपर्युक्त लेख और ‘दिल्ली और मास्को’ कविता में संकीर्णता का जवाब संकीर्णता से ही दिया है।

तात्कालिक परिस्थितियों में दिनकर सही थे, लेकिन राष्ट्रवाद सम्बन्धी उनकी राजनीतिक दृष्टि की सीमा भी सामने आई। उनमें आधुनिकता का अभाव और थोड़ा अन्धत्व है। वस्तुतः तात्कालिकता दिनकर पर ऐतिहासिक विषयों के प्रति उनके विशेष आग्रह के बावजूद हावी रही है। इस कारण वे ऐतिहासिक ‘विजन’ हासिल करने में असफल रहे।

तात्कालिकता राजनीति पर अक्सर भारी पड़ती है। इस कारण उसमें विचारधारात्मक भ्रान्ति उत्पन्न होती है। यही बात दिनकर में है।

दिनकर राष्ट्रीय काव्यधारा के कवियों में ही आधुनिक हैं, लेकिन अपने समय के कवियों की कतार में आधुनिक नहीं हैं। उन पर इस अभियोग में सचाई है कि उनके ज्यादातर काव्य-प्रयास उपयोगितावादी हैं।

उपयोगितावादी प्रयास भी बड़े हो सकते हैं। इकबाल इसके उदाहरण हैं। दिनकर पर इकबाल का पर्याप्त प्रभाव है। इकबाल बड़े विज्ञान के कवि हैं। दिनकर में विज्ञान की कमी है। इतिहास और अभीपन के बीच दिनकर के यहाँ यह कमी हमें सताती है। अभिव्यक्ति भी उनकी कम आधुनिक है। जो है, वह भी आरोपित है। आधुनिक कम होने की वजह से लगभग पूरी राष्ट्रीय धारा ही राजनीतिक कविता का सही मायने में उदाहरण पेश नहीं कर सकी।

दिनकर सहित लगभग समूची राष्ट्रीय धारा में जीवन-अनुभव को काव्य-विषय बनाने की प्रवृत्ति कम रही। किसी भी वैचारिक ढाँचे का निर्माण होता है स्वानुभूत सत्य के आख्यान के भीतर। ऐतिहासिक सत्य और स्वानुभूति के मेल से विचारधारा, चाहे वह जैसी हो, अपना स्थान तैयार करती है। दूसरे शब्दों में, अनुभूत सत्य की अभिव्यक्ति कविता है, जिसमें राष्ट्र की खोज और राजनीतिक दृष्टि हासिल करने का भी काम चलता है। राष्ट्रीय धारा के कवियों को ध्यान में रखकर रघुवीर सहाय ने युक्तियुक्त प्रश्न उठाया है, “यदि कवि राष्ट्र की बनी-बनाई अवधारणा के साथ मेल खाने लगा तो फिर खोजने का क्रम कैसे चलेगा और कविता कैसे बचेगी?”⁴ इसमें जोड़ने की ज़रूरत है कि राजनीतिक त्वरा भी कैसे पैदा होगी?

इस दृष्टि से हमारा ध्यान सुभद्रा कुमारी चौहान पर जाता है। सुभद्रा अपने ‘परिचय’⁵ में कहती हैं—‘मेरे प्राणों का सौदा, करती अन्तर की ज्वाला।’ यह केवल कहने के लिए नहीं है, उनकी कविताओं में दिखाई भी पड़ती है। खास बात है यह ‘अन्तर की ज्वाला’ स्त्री की है। मुक्तिबोध ने उनकी कविता में निहित जीवन के मौलिक उद्देश्य को नोट करते हुए स्वाधीनता आन्दोलन के सन्दर्भ में स्त्री स्वर को रेखांकित किया है।⁶

नारी-मुक्ति की स्पष्ट ध्वनि सुभद्रा कुमारी चौहान की कविता में है। स्वाधीनता की लड़ाई में स्त्री और दलितों की स्वाधीनता का प्रश्न जुड़ा हुआ था। नारी-मुक्ति का प्रश्न सुभद्रा की कविता में आरोपित नहीं है, स्वाभाविक रूप से जुड़ा हुआ है। दूसरे शब्दों में, विषय कोई हो, उसमें स्त्री-पक्ष उपस्थित होता है और वह स्वाधीनता के प्रश्न से जुड़ पाया है। ‘झाँसी की रानी’ की अति लोकप्रियता ने उनकी अन्य कविताओं की खूबियों को दबा दिया। सुभद्रा उपयोगितावादी मूल्य से प्रेरित भी रही हैं। इसके बावजूद साहित्यिक दायरे में उनका सम्मान और सहज स्वीकृति है।

प्रलय की छाया

प्रत्यक्षतः जो रचना उपयोगितावादी नहीं होती, उसका भी राजनीतिक उपयोग होता है। यह बात आरोपित राजनीतिक परिस्थितियों को लॉघ गई रचना के साथ भी घटित हो सकती है। उपयोगितावाद वर्तमान राजनीतिक यथार्थ और उसकी ज़रूरतों के अधीन रचना को लक्ष्य बनाता है। वर्तमान राजनीतिक निहितार्थ (वेस्टिड इन्टरेस्ट) के अधीन रचना का चुनाव और महत्व प्रतिपादन उपयोगितावाद है। लेकिन उपयोगितावादी दृष्टि से चयनित रचना आवश्यक नहीं कि राजनीतिक पूर्वग्रह को उसके मनोनुकूल विचारधारा की आपूर्ति करती ही हो।

हमें हाल में आधुनिक कविता के बी.ए. का एक पाठ्यक्रम देखने को मिला। उस पर आधारित छिहत्तर पृष्ठों की पाठ्य पुस्तक तैयार की गई है, जिसमें भूमिका और कवि-परिचय के हिस्से में पच्चीस पृष्ठ हैं। बड़ा हिस्सा प्रसाद और निराला की कविताओं से घिरा हुआ है।

प्रसाद की 'पेशोला की प्रतिध्वनि' और 'प्रलय की छाया' पर बीस पृष्ठ खर्च किए गए हैं। पाँच पृष्ठों में निराला की 'जागो फिर एक बार' है। बाकी आधे में भारतेन्दु से लेकर शेष छायावादी कविताएँ हैं। पन्त और महादेवी शामिल नहीं हैं। हरिऔध की एक अनजानी-सी कविता है 'हिन्दुओं के प्रति'। उसे पढ़ने के बाद प्रसाद की 'प्रलय की छाया' जैसी कविता को प्रमुखता से रखे जाने की पीछे की मंशा का पता चलता है।

*'हरिऔध' चल होते अचल बने ही रहे,
बार-बार बैरियों का होता बोलबाला है।
पाला कैसे मारें पाला पड़ा है कचाइयों के
हिन्दुओं के लहू पर पड़ गया पाला है।
हरिऔध हिन्दुओं में हिम्मत रही है नहीं
हार को सदा ही हार गले को बनावेंगे
चोटी काट-काट वे सचाई का सबूत देंगे,
यूनिटी को पाँव चाट-चाट के बचावेंगे॥*

पाठ्यक्रम के केन्द्र में, कहने की आवश्यकता नहीं, हिन्दू उत्तेजना पैदा करना है। 'प्रलय की छाया', 'पेशोला की प्रतिध्वनि' और 'जागो फिर एक बार' जैसी कविताओं को साधन बनाया गया है। 'प्रलय की छाया' को छोड़कर बाकी दोनों कविताएँ अपने अर्थ और प्रयोजन में स्पष्ट हैं। 'प्रलय की छाया' राजनीतिक अभिप्राय से ही लिखी गई है, यह दावे के साथ नहीं कहा जा सकता। सामान्यतः आलोचक भी इसकी व्याख्या के लिए कम ही आगे बढ़ते हैं। कठिन कविता है। बी.ए. के छात्रों को पढ़ाने की दृष्टि से इसका चुनाव कितना उपयुक्त है, कहना मुश्किल है। कुछ खटकता है।

अगर 'प्रलय की छाया' जैसी बड़ी रचना के चुनाव के पीछे कोई राजनीतिक पूर्वग्रह है और खुद कविता वैसी विचारधारा की आपूर्ति नहीं करी हो, तो उसके कथ्य का विश्लेषण एक ज़रूरी काम हो जाता है। कुत्सित उपयोगितावादी प्रयासों का भंडाफोड़ करना आखिर आलोचना का ही दायित्व है।

'प्रलय की छाया' एक नारी-चरित्र के माध्यम से इतिहास में 'शॉक' पैदा करती है। अलाउद्दीन खिलजी ने गुजरात के राजा कर्णदेव (कर्ण बघेला) को परास्त किया था। कर्णदेव अपनी जान बचाकर देवगिरि चले गए थे। रानी कमला को अलाउद्दीन के हरम में पहुँचा दिया गया था। कविता में रानी कमला की मनोदशा को विषय बनाया गया है। चारित्रिक पतन से उपजी मनोदशा! रानी की मनोदशा के वर्णन से एक ऐसे आपातकाल की तस्वीर पेश की गई है, जिसे मानसिक संरचना के रूप में इतिहास की दूसरी घटनाओं में भी पहचाना जा सकता है। नामवर सिंह ने 1923 में बनी स्वराज पार्टी और उसकी कार्य-नीतियों से इसे जोड़कर व्याख्या का दुर्लभ उदाहरण पेश किया है।

स्वराज पार्टी और उसकी नीतियों से 'प्रलय की छाया' का क्या, प्रसाद का भी दूर तक सम्बन्ध नहीं रहा होगा। नामवर सिंह की व्याख्या इतनी युक्तिसंगत है कि मानना पड़ता है सामूहिक चेतना को नियंत्रित करने वाली मानसिक संरचना और कवि-कल्पना में गहरा सम्बन्ध होता है। यहाँ मतीस का यह कथन याद आता है कि "प्रत्येक कला अपने ऐतिहासिक युग की छाया लिए होती है।" नामवर सिंह ने 'प्रलय की छाया' की व्याख्या के द्वारा उस छाया को उजागर करने का दुर्लभ प्रयत्न किया है। लेकिन मतीस के उपर्युक्त कथन में ध्यान देने योग्य

यह उपवाक्य भी जुड़ा हुआ है, “किन्तु महान कला वह होती है जिस पर वह छाया सबसे ज्यादा स्पष्ट हो।”⁸ यह बात ‘प्रलय की छाया’ के साथ नहीं है। इससे मानना पड़ता है कि छाया आखिर छाया होती है, स्पष्ट रूप से उसे देखने के लिए आलोचना-दृष्टि होनी चाहिए।

जो लोग मृत्यु के बारे में नहीं सोचते, उनका किसी और बात से रिश्ता नहीं होता लेकिन मृत्यु से होता है।⁹ ‘प्रलय की छाया’ की कमला इस विडम्बना को रूप-गर्व में समय पर समझने में चूक करती है। रूप-ज्वाला से सुल्तान को जलाने की पतित रूमानी इच्छा!

पद्मिनी जली थी स्वयं किन्तु मैं जलाऊँगी—
वह दावानल ज्वाला
जिसमें सुल्तान जले।
देखे तो प्रचण्ड रूप—ज्वाला-सी धधकती
मुझमें सजीव वह अपने विरुद्ध!

(लहर, पृ.—61)

‘अपने विरुद्ध’—‘जीवित मृत्यु’ का यह चुनाव व्यक्ति—सत्य ही नहीं इतिहास-सत्य भी है। नामवर सिंह ने इसे उद्धृत करते हुए स्वराज पार्टी को याद किया है, जो असहयोग आन्दोलन की असफलता के बाद ‘सहयोग-संघर्ष’ की नीति के आधार पर खड़ी हुई थी। चुनाव लड़कर काउंसिलों में जाना और सरकार के अंग के रूप में उस पर दबाव बनाने की उसकी योजना थी। लेकिन 1924 में काँग्रेसी और क्रान्तिकारी नेताओं समेत स्वराजवादी भी गिरफ्तार कर लिए गए। स्वराज पार्टी की यह विडम्बनापूर्ण परिणति कमला के उपर्युक्त निर्णय से मिलती-जुलती है।

‘प्रलय की छाया’ की कमला अपने मंसूबों में असफल है। मृत्यु के भय ने उसमें जिस भ्रम की सृष्टि की है, वही उसे ‘दोहरी मृत्यु’ देती है। आत्मप्रवंचना के अहसास के भीतर मृत्यु!

पुण्य ज्योतिहीन कलुषित सौन्दर्य का—
गिरता नक्षत्र नीचे कालिमा की धारा-सी
असफल सृष्टि सोती—
प्रचल की छाया में।

(वही, पृ.—75)

असफलता और पराजय की पीड़ा! ‘प्रलय की छाया’ समेत प्रसाद की दूसरी कविताओं (‘शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण’, ‘पेशोला की प्रतिध्वनि’ और ‘चढ़कर मेरे जीवन-रथ पर’ गीत) में एक गहरा ‘शॉक’ है, जो एक साथ ऐतिहासिक और कवि के वर्तमान से उद्भूत प्रतीत होता है। नामवर सिंह ने तीसरी बात जोड़ दी है, “‘प्रलय की छाया’ का एक सीधा राजनीतिक सन्दर्भ है जिसमें राजनीतिक अर्थ ध्वनित होता है और यह राजनीतिक अर्थ स्वाधीनता संग्राम के उस दौर की मनोदशा से सम्बद्ध है।”¹⁰

सामान्य रूप से इस बात को मान लेने में कोई हर्ज नहीं है। लेकिन तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों को कविता पर आक्षेपित करने के बजाय खुद परिस्थितियों में कविता का अर्थ खोजना ज्यादा उचित होगा। किसी काल-परिस्थिति में रहने के अनुभव का प्रभाव रचनात्मक लेखन पर पड़ता है; लेकिन इससे ऊपर एक साहित्यिक रचना की शक्ति इस बात में है कि राजनीति समेत सभी सामाजिक संस्थाओं में उसके अर्थ ध्वनित हों। दूसरे शब्दों में, ‘परिस्थितियों’ को रचना के उजाले में देखने की जरूरत है। एक महत्वपूर्ण साहित्यिक रचना प्रकाश का वह

दायरा पैदा करने की क्षमता रखती है जिसमें उसके निर्माण-काल से आगे-पीछे की कई परिस्थितियाँ अपनी छवि दिखा सकती हैं।

परिस्थिति—अनुरूप कविता की कई व्याख्याएँ हो सकती हैं। दूसरे शब्दों में, कई अर्थ आरोपित किए जा सकते हैं। नीत्शे ने कहा है, “तथ्य नहीं होते, केवल व्याख्याएँ होती हैं।” इससे व्याख्या के अनेक शास्त्रों के द्वार खुले। नामवर सिंह द्वारा ‘प्रलय की छाया’ की व्याख्या उन्हीं में से निकलकर हिन्दी आलोचना को नई तकनीक देने का प्रयास करती है। निस्सन्देह यह काम ‘विचार’ को धोखा दिए बगैर हुआ है। इसकी बड़ी उपलब्धि यह है कि इसमें आलोचक अतीत के टीकाकार के रूप में उपस्थित नहीं होता, प्रसंगानुकूल पाठ से सामंजस्य स्थापित करने का काम करता है। लेकिन इसकी कुछ सीमाएँ हैं, उन्हें भी नज़रअन्दाज़ नहीं किया जाना चाहिए।

“कविता के मूल पाठ जैसी कोई चीज़ होती ही नहीं”, नामवर सिंह ने कहा, “यहाँ से वहाँ तक व्याख्या ही व्याख्या है।...सृजन से ग्रहण तक सम्प्रेषण की समग्र प्रक्रिया में काव्यकृति निरन्तर उपजती और उपजाई जाती है।...किसी कृति को उसके जड़ पाठ से मुक्त करना ही उसकी प्रासंगिकता है।”¹¹ बात मानने योग्य है। लेकिन खुद नामवर सिंह ने ‘प्रलय की छाया’ में जो नई ‘उपज’ पैदा की है, वह सरलीकृत निष्कर्ष के रूप में ‘जड़’ होने से नहीं बच पाती।

*राजसत्ता को तोड़ने के इरादे से उसके अन्दर जाने वाले दरअसल एक
खतरनाक खेल खेलते हैं और अक्सर विडम्बना के शिकार होते हैं।
‘प्रलय की छाया’ का यह ‘त्रासद’ सत्य भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के
असहयोगोत्तर दौर के एक सीमित सन्दर्भ से पैदा होकर भी इतिहास का
जीवित सत्य और इसलिए आज भी उतना ही प्रासंगिक है।¹²*

प्रासंगिकता की खोज की चेष्टा के भीतर निष्कर्ष सार्वभौमिक निकला। प्रासंगिकता की खोज की आलोचना की विडम्बना है कि ‘मूल पाठ’ की व्याख्या से उसका ध्यान हट जाता है। वस्तुतः मूल पाठ में सब कुछ व्याख्येय नहीं होता, ‘स्पष्ट अर्थ’ भी होता है। व्याख्या की यह चूक है कि वह स्पष्ट अर्थ और बदले हुए प्रसंग के बीच के फ़र्क को पहले से ही मानकर चलती है। यदि हम मूल पाठ की व्याख्या पर ही अड़कर काम करें तो इतिहास के जीवित सत्य को अनेकानेक स्थितियों में ज़्यादा बेहतर ढंग से देख सकते हैं। दूसरे शब्दों में, यह एक ऐसा तरीका है जिससे मूल पाठ की स्वायत्तता को सुरक्षित रखते हुए उसे अनेकानेक परिस्थितियों में जाकर देखने की गुंजाइश बनती है। कहना चाहिए कि रचना के माध्यम से विश्व को अनुभव करने के मार्ग पर चलना ही जायज तरीका हो सकता है।

‘प्रलय की छाया’ की प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं, नामवर सिंह ने भी इसे स्वराज पार्टी के इतिहास के सन्दर्भ में याद किया है—

*कृष्णागरुवर्तिका
जल चुकी स्वर्ण पात्र के ही अभिमान में
एक धूम-रेखा मात्र शेष थी,
उस निस्पन्द रंग मन्दिर के व्योम में
क्षीण-गन्ध निरवलम्ब।*

(वही, पृ.—72)

एक तीखी आत्मानुभूति अथवा आत्मसाक्षात्कार (स्वराज पार्टी से इस चीज़ की उम्मीद कम की जा सकती है)! उसी रूप का नाश है यह—

कमनीयता थी जो समस्त गुजरात की
हुई एकत्र एक मेरी अंगलतिका में।
पलकें मंदिर भार से थीं झुकी पड़ती।

(वही, पृ.—58)

जिस रूप के प्रति गुजरात के लोगों के मन में गर्व और आदर का भाव था, वह अपने अभिमान में ही जल गया।

यह वही स्वाधीनता आन्दोलन और गाँधी जी का नेतृत्व था जिसके पीछे देश की जनता दीवानी थी; लेकिन 1930 के आसपास उसके 'आखिरी लड़ाई' के दावे के बावजूद समझौतापरस्ती ने उसे 'क्षीण-गन्ध निरवलम्ब' बना दिया था। इसे समझने के लिए नेहरू की टिप्पणी पर्याप्त है, "दुनिया का अन्त इसी तरह होता है। विस्फोट से नहीं, गिड़गिड़ाने से।"

प्रसंग को ज़रा विस्तार से देखें। यह सविनय अवज्ञा आन्दोलन का दौर था। 1930 में गाँधी जी ने इरविन को ग्यारह सूत्री चेतावनी दी थी, जिसमें स्वराज का प्रस्ताव तो दूर, डोमिनियन स्टेट की भी माँग नहीं थी। 'प्रलय की छाया' की कमला के मिथ्याभिमान को ध्यान में लाने पर उस भव्य ग्यारह सूत्री चेतावनी की कमज़ोर अन्तर्वस्तु का अनुभव आसानी से हो सकता है।

इसी दौर में 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन' के क्रान्तिकारी नौजवान जानबाज खेल खेल रहे थे। भगत सिंह को फाँसी 23 मार्च, 1931 में 'प्रलय की छाया' के प्रकाशन से डेढ़-दो महीने बाद हुई थी, लेकिन उस समय देश एक प्रलय की आंशका से ग्रस्त था। गाँधी-इरविन समझौते में असहयोग आन्दोलन के कैदियों को छोड़ने की बात उठाई गई थी, लेकिन भगत सिंह के मामले में चुप्पी साधी गई। देश की जनता को यह बात खल गई थी।

'प्रलय की छाया' की कमला अपनी तुलना पद्मिनी से करती हैं, जो अपने मान के लिए सती हो गई थीं। तुलना में गहरा आत्मसाक्षात्कार है—

आह! कैसी वह स्पष्ट थी?
स्पष्ट थी रूप की
पद्मिनी की वाह्य रूप-रेखा चाहे तुच्छ थी,
मेरे इस साँचे से ढले हुए शरीर के
सन्मुख नगण्य थी।
देखकर मुकुर चित्र पद्मिनी का
तुलना कर उससे,
मैंने समझा था यही।
वह अतिरंजित-सी तूलिका चितेरी की
फिर भी कुछ कम थी।
किन्तु था हृदय कहाँ?
वैसा दिव्य

अपनी कमी थी इतरा चली हृदय की
लघुता चली थी माप करने महत्व की।

(वही, पृ.—62)

“किन्तु था हृदय कहाँ?
वैसा दिव्य”

काँग्रेस की राष्ट्रीय भव्यता क्रान्तिकारियों की शहादत के आगे फीकी दिखाई पड़ने लगी थी। सरकार के गुप्त रिपोर्ट ने भी माना कि भगत सिंह के हिरावल राजनीतिक व्यक्तित्व ने कुछ समय के लिए गाँधी को भी पछाड़ दिया। नेहरू ने अपनी ‘आटोबायोग्राफी’ में नोट किया—‘अचानक ही आश्चर्यजनक रूप से लोकप्रिय’। पद्मिनी के समान ‘दिव्य’ हृदय का चमत्कार!

उच्च साहित्यिक पाठ वास्तव में जो घटित हुआ है अथवा किसी विचारधारा का अनुवाद नहीं होता है। वह परिस्थिति अथवा युग की मानसिक संरचना का दर्पण नहीं, उसे देखने वाली आँख है। आँख जो देखती है, मस्तिष्क में उसकी उलटी छवि बनती है। साहित्यिक कृति के सन्दर्भ में न केवल उलटी, बल्कि शब्द-स्मृतिबद्ध होकर आश्चर्य की श्रेणी की। साहित्यिक आलोचना का काम उसके मूल धन की रक्षा करते हुए सिर्फ ब्याज से विविध प्रसंगों में व्याख्या करना है।

एक बड़ी साहित्यिक कृति केवल बाह्य परिस्थितियों की ही व्याख्या के लिए सामग्री प्रस्तुत नहीं करती, उसका एक स्वदेश होता है जिसमें सबसे अधिक कवि का अन्तरंग शामिल होता है। प्रसाद की कविता कवि-छवि और अनुभव के रूपान्तरण की दृष्टि से हिन्दी में मानदण्ड स्थापित करती है। ‘प्रलय की छाया’ की कमला और पद्मिनी, हमें लगता है, एक ही ‘व्यक्तित्व’ के दो हिस्से हैं। कमला का अर्थ केवल पराजय नहीं, पराजय की अनुभूति के भीतर उत्तेजना और बेचैनी है। न्यूरोसिस से पीड़ित व्यक्ति के समान कमला में अपूर्णता और निरर्थकता का बोध है, जिसकी क्षतिपूर्ति के रूप में पद्मिनी का स्मरण है। ऐतिहासिक घटनाओं का कविता में गड्ढमड्ढ पैदा किया गया है। कमला जिस पद्मिनी के सती होने का स्मरण करती है, वह कमला के हरम में जाने के बाद की घटना है। नामवर सिंह ने इसे सोद्देश्य माना है विडम्बना पैदा करने के रूप में।¹³ इसे सही मानते हुए इसमें जोड़ा जाना चाहिए—विडम्बनापूर्ण क्षतिपूर्ति। यह बात स्वयं गाँधी जी में देखी जा सकती है। समझौता और आत्मबलिदान की विडम्बना से बना एक महान राजनीतिक व्यक्तित्व!

जर्मन कवि-आलोचक श्लेगल ने कहा है, “प्रत्येक कवि आत्ममोहित (नार्सिसस) होता है।” छायावादी काव्य में प्रसाद इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। निराला भी हैं, लेकिन दूसरे ढंग से। प्रसाद अन्तर्लीन व्यक्तित्व हैं। यह बात बिल्कुल शुरू की कविताओं से ही है—‘बात कुछ छिपी हुई है गहरी/मधुर है स्रोत मधुर है लहरी।’ (झरना) आन्तरिकता चिन्तन-मनन और सांस्कृतिक चेतना के मार्ग से अभिव्यक्त होती है—‘झरना’ की कविताओं से लेकर ‘कामायनी’ तक में। यह एक ऐसी विशेषता है जो उनकी कविताओं को अनेकानेक सन्दर्भों में प्रासंगिक बनाती है। दूसरे शब्दों में, प्रसाद की कविता आन्तरिकता अथवा आत्ममोह के मार्ग से उद्भूत होकर राजनीतिक अथवा दूसरे प्रकार का अर्थ प्राप्त करती है।

‘प्रलय की छाया’ में जो घटना-व्यतिक्रम है—यानी कमला के द्वारा पद्मिनी के सती होने को याद किया जाना, उसे लेकर यही कहना होगा—‘बात कुछ छिपी हुई है गहरी’। जो घटित

हुआ ही नहीं, उसकी स्थापना सघन आन्तरिकता में अपने को पहचानने का तरीका है। यह तरीका अपने परिणाम में आत्ममोह से मुक्ति का होता है। इसकी समझ के द्वारा कविता को सरलीकृत राजनीतिक अर्थ से मुक्त किया जा सकता है। श्लेगल के उपर्युक्त कथन—‘प्रत्येक कवि आत्ममोहित होता है’—को उद्धृत करते हुए ब्लैचोट ने लिखा है, जो हमारी समझ से, ‘प्रलय की छाया’ जैसी बड़ी काव्य-कृति को समझने में मददगार हो सकता है, “कवि उस हद तक नार्सिसस है जहाँ नार्सिसस भी नार्सिसस-विरोधी हो जाता है। वह खुद से दूर चला जाता है। वह जैसे चक्करदार मार्ग को पकड़ता है जो उसे खुद के सामने खड़ा कर जाता है और इस तरह उसे अपने को नहीं पहचानने में खपाना पड़ता है। इसी प्रक्रिया से जो घटित हुआ ही नहीं है, वह उसकी निशानदेही करता है।”¹⁴ यह निशानदेही मूल्यवान है। दूसरे शब्दों में, सच्ची कलाकृति का यह बड़ा गुण है।

प्रश्न है, जहाँ से हमने बात शुरू की थी, ‘प्रलय की छाया’ की वर्तमान राजनीतिक उपयोगिता क्या हो सकती है? बी.ए. स्तर के सामान्य पाठ्यक्रम में शामिल किए जाने की दृष्टि से यह उपयुक्त नहीं है। निराला की ‘जागो फिर एक बार’ एक बार तक समझ में आती है। वह एक गौरव-आख्यान है, जिसमें नवजागरण की चेतना शामिल है। ‘प्रलय की छाया’ तो पतन और पराजय की कथा है। आज उसे पाठ्यक्रम में पढ़े-पढ़ाए जाने के पीछे क्या दृष्टि हो सकती है?

इतिहास में कई बार अवसर आए हैं जब पतन और पराजय के अर्थ उलट जाते हैं। पराजय का आघात बदले की भावना पैदा करता है। साम्प्रदायिक दंगों को इस बात के बड़े सबूत के रूप में देखा जा सकता है। ‘प्रलय की छाया’ की उपयोगिता को भी इसी रूप में लिया गया है। 2002 के गुजरात दंगों की मानकिसता इस कविता के चुनाव का आधार बनी है। इसके पीछे मंशा यह दिखाने की है कि गुजरात की रानी के साथ ऐसा हुआ था। इस तरह कट्टर सोच के निर्माण में इसके इस्तेमाल की कोशिश हुई है। वर्तमान को इतिहास के रूप में देखने की यह कोशिश राजनीति को खूँखार संस्कृति की ओर धकेलती है।

उक्त पाठ्य पुस्तक में प्रसाद और निराला की कविताएँ हैं, लेकिन पन्त और महादेवी शामिल नहीं किए गए हैं। यह देखकर हमें ज़रा भी आश्चर्य नहीं हुआ। ब्रेष्ट बेंजामिन से बातचीत (5 अगस्त, 1934) में ‘उपयोगी बनने की यातना’ को लेकर किसी चीनी दार्शनिक का उल्लेख करते हैं। सन्दर्भ कफका का है, जो भिन्न ढंग से आधे छायावाद पर यानी पन्त और महादेवी पर लागू होती है। जंगल में किस्म-किस्म के वृक्षों के तने हैं। सबसे मोटे तनों से जहाज के तख्ते बनाए जाते हैं। कुछ मोटे हालाँकि काफी मजबूत तनों से बक्से और ताबूत के ढक्कन बनाए जाते हैं, सबसे पतले तनों की लाठियाँ बनती हैं। लेकिन जो आड़े-तिरछे होते हैं उनसे कुछ भी नहीं बनता। वे उपयोगी बनने की यातना से बचे रहते हैं। पन्त और महादेवी कफका के समान आड़े-तिरछे नहीं, सुन्दर टहनियों के सामान हैं; लेकिन महत्वपूर्ण यह है कि अपनी तरह से उपयोगी बनने की यातना से बचे हुए हैं। छायावादोत्तर पन्त से कोई कुछ साध ले तो बात अलग है। छायावादी पन्त ने सेकुलर कविता का आदर्श पेश किया है।

सन्दर्भ

1. गाँधी जी, हिन्द स्वराज, पृ.-3.
2. देखें, फ्रेंचेस्का ओरसिनी, द हिन्दी पब्लिक स्फीयर, पृ.-195.
3. रामधारी सिंह दिनकर, मिट्टी की ओर, पृ.106.

4. रघुवीर सहाय, यथार्थ यथास्थिति नहीं, पृ-112.
5. कविता का शीर्षक ही 'परिचय' है। देखें, सुभद्रा कुमारी चौहान की श्रेष्ठ कविताएँ, सम्पा.-चन्द्रा सदायत, पृ.-46.
6. देखें, मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड-5, पृ.-387.
7. उद्धृत, टेरी इगल्टन, मार्क्सिज़्म एंड लिटररी क्रिटिसिज़्म, पृ.-3.
8. वही.
9. मॉरिस ब्लैंचोट, दी राइटिंग ऑफ़ द डिजास्टर, पृ.-40.
10. नामवर सिंह, वाद विवाद संवाद, पृ.-69.
11. वही, पृ.-69-70.
12. वही, पृ.-70.
13. वही, पृ.-69.
14. मॉरिस ब्लैंचोट, दि राइटिंग ऑफ़ द डिजास्टर, पृ.-135.

पंत और अज्ञेय : प्रकृति काव्य और काव्य-प्रकृति

अवधेश प्रधान

अज्ञेय ने कहीं कहा था कि प्रसाद पढ़ाए जाएँगे, निराला पढ़े जाएँगे और पंत से सीखा जाएगा। इस तरह के सरलीकृत निष्कर्षों में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति जैसे दोषों का खतरा हमेशा रहता है फिर भी किसी न किसी सत्य की ओर उनका संकेत तो रहता ही है। ऐसा नहीं है कि प्रसाद पढ़े नहीं जाते या उनसे सीखने को कृच्छ्र है ही नहीं क्योंकि ऐसा होता तो 'आँसू' इतना लोकप्रिय न होता और 'कामायनी' को मुक्तिबोध एक स्पृहणीय चुनौती की तरह नहीं देखते। निराला पढ़े जाते हैं लेकिन 'गीतिका' और तुलसीदास' की शब्दार्थ-टिप्पणियों के बावजूद उनकी कविताओं को पढ़ाने की जरूरत बनी रहेगी और जहाँ तक सीखने की बात है, नई से नई पीढ़ी के कवि जितना निराला को अपने करीब पाते हैं, उतना किसी को नहीं।

जब अज्ञेय ने पंत जी से सीखने की बात पर जोर दिया तो उन्होंने अपनी एक मान्यता को ही आगे बढ़ाया कि पंत में स्वर-ध्वनियों की अचूक पहचान थी और इसीलिए उन्होंने पंत जी को 'स्वरसिद्ध' कहा था। इस प्रसंग में अज्ञेय ने लिखा है, "स्वर-ध्वनियों के प्रति जैसी सजगता सुमित्रानंदन पंत में थी वैसी मैंने हिन्दी के किसी दूसरे कवि में नहीं देखी, निराला में भी नहीं। रीतिकाल के कुछ कवियों में उसी तरह की कुछ सजगता मिलती है लेकिन जैसा कि पंत जी ने लक्ष्य किया था, उन कवियों का ध्यान व्यंजन ध्वनियों की ओर अधिक था। काव्य में शब्द संगीत का आधार व्यंजन ध्वनियों नहीं, बल्कि स्वर-ध्वनियों हैं, इसकी अचूक पहचान पंत जी को थी और आधुनिक हिन्दी को यह उनकी बहुत बड़ी देन है कि उन्होंने अपने समकालीन और परवर्ती कवियों को स्वर-सौन्दर्य की पहचान करा दी। यह बात दुहराने की जरूरत है कि पंत जी इस मामले में अद्वितीय थे। ...स्वर-ध्वनियों पर पंत जी का ऐसा अधिकार था कि उन्हें सच्चे अर्थ में स्वर-सिद्ध कवि कहा जा सकता है।" (स्मृति-लेखा, पृ. 78)

शब्द-सौन्दर्य को लेकर पंत और निराला की मान्यताएँ परस्पर भिन्न भले हों लेकिन इस तथ्य में तो किसी को संदेह नहीं हो सकता कि दोनों कवियों ने शब्द-चयन के प्रति जो एक कलात्मक जागरूकता अपनाई उससे हमारी काव्यभाषा में अभूतपूर्व निखार आया। खड़ी बोली में कविता हो ही नहीं सकती, खड़ी बोली खड़खड़ाती है-जैसी बातें कहनेवाले भी छायावादी कविता का शब्दसंगीत सुनकर अवाक् रह गए।

प्रश्न उठता है कि स्वयं अज्ञेय ने पंत से क्या सीखा? पंत जी स्वरों को काव्य-संगीत का मूल तंतु मानते हैं और व्यंजनों को भावाभिव्यक्ति के लिए केवल गौण रूप से सहायक-मात्र।

सम्पर्क : प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005 मो. 08400925082

पक्षधर / 55

इसके विरोध में यह तर्क दिया गया कि व्यंजन संगीत के बिना विराट चित्र देना संभव नहीं। इसका खंडन करते हुए पंत जी ने 'कामायनी' के विराट चित्रों की याद दिलाई जिनमें 'विशेषतः व्यंजन-संगीत नहीं मिलता।' उन्होंने केशवदास की 'रामचंद्रिका' का उदाहरण देकर कहा कि जहाँ केशवदास ने युद्धदि के प्रसंग में परुषा वृत्ति से काम लिया है वहाँ विराट चित्र नदारद हैं। पंत जी को इस बात की शिकायत थी कि उनकी स्वर-संगीत-संबंधी मान्यता को गलत समझा गया। उन्होंने सिर्फ यह कहना चाहा था कि कुशल कवि स्वरों की योजना के द्वारा, अभिव्यक्त भाव को प्रेषणीय बना देता है। उदाहरण के लिए—

“नीरव सन्ध्या में प्रशांत
डूबा है सारा ग्राम प्रांत”

इसमें दीर्घ स्वरों की प्रधानता है और उसमें भी 'आ' का प्रसार मुख्य है “जिससे आपकी आँखों के सामने सारे ग्राम प्रांत में दूर तक फैली हुई संध्या की द्वाभा का चित्र अवतरितहो उठता है।”

निराला व्याख्यान माला में उन्होंने यह भी कहा था कि “मेरा कहने का यह कभी भी तात्पर्य नहीं रहा कि व्यंजनों के बिना केवल स्वरों से ही काव्य-संगीत प्रभावोत्पादक एवं संप्रेषणीय बनाया जा सकता है। यह तो उतना ही घातक होगा जितना कि वसंत कुसुमाकर के स्थान पर कोई पारद या मेरेटोन आदि पौष्टिक टॉनिक्स के स्थान पर कोई केवल एलकोहल का ही प्रयोग करके स्वास्थ्य लाभ करने की बात सोचे।” (छायावाद : पुनर्मूल्यांकन, पृ. 113) यहीं याद दिला दूँ कि जिन डॉ. रामविलास शर्मा ने निराला की मान्यताओं का पक्ष लेते हुए पंत की मान्यताओं का खंडन किया था उन्होंने बाद में 'निराला की साहित्य साधना' में निराला के व्यंजन-संगीत से ही संतोष न करके उनकी स्वर-योजना का भी विशद विश्लेषण किया।

कहना न होगा कि पंत और निराला के बाद कविता में शब्द-चयन के प्रति एक गंभीर कलात्मक रुख जैसा अज्ञेय ने अपनाया वैसा बहुत कम कवियों में दिखाई देता है। उन्होंने पंत की ही तरह दीर्घ-ह्रस्व मात्रिक छंदों के संगीत को सबसे अधिक स्वाभाविक पाया। उनका मुक्त छंद प्रायः मात्रिक संगीत की लय पर ही चलता रहा है। उनके स्वर-सौन्दर्य की पहचान का उत्कर्ष देखना हो तो अकेली 'असाध्य वीणा' का उदाहरण पर्याप्त होगा। इस कविता में राजा को विश्वास है कि असाध्य वीणा तभी बोलेगी “इसे जब सच्चा स्वरसिद्ध गोद में लेगा।” (यहाँ सहसा याद आता है कि अज्ञेय ने पंत जी को सच्चा स्वरसिद्ध कवि कहा था!) असाध्य वीणा जिस किरीटी तरु से गढ़ी गई है वह 'व्याकुल मुखरित वनध्वनियों के वृंदगान का मूर्त रूप' है। प्रियंवद के अस्पर्श छुअन से तार छूते ही वीणा झनझना उठती है—'किलक उठे थे स्वर-शिशु।' प्रियंवद के माध्यम से अज्ञेय ने 'अनुभव का एक एक अंतःस्वर', 'स्वर-सँभार नादमय संसृति', 'स्वर-सागर' की एक तरंग का जैसा ध्यान-अनुध्यानपूर्वक अंकन-मूर्तन किया है वह हिन्दी में तो अद्वितीय है ही, समूची आधुनिक भारतीय कविता में भी उसका जोड़ मिलना मुश्किल है।

एक दूसरी चीज जो अज्ञेय को पंत जी से जोड़ती है वह है प्रकृति। पंत 'प्रकृति के पुत्र' कहे जाते हैं। कौसानी (कुमाऊँ) की हिमालयी प्रकृति का सौन्दर्य बचपन से ही उनकी प्रेरणा का स्रोत रहा है। स्वभावतः उनके प्रकृति चित्रों में पर्वतांचल के-हिमांचल के-कूर्मांचल के निसर्ग-चित्रों की प्रमुखता है। हिम प्रदेश, पर्वत प्रदेश में पावस, हिमाद्रि, अलमोड़े का वसंत, गिरि-प्रांतर आदि कविताओं में कौसानी की प्राकृतिक सुषमा की छवियाँ ही तो अंकित हैं। यह एक अद्भुत संयोग है कि जब पंत जी स्वास्थ्य-लाभ के लिए अलमोड़े में थे तभी अज्ञेय नरेन्द्र शर्मा के साथ उनसे मिले थे। अलमोड़े में दोनों कवियों का मिलना कभी-कभी एक रूपक

जैसा लगने लगता है जब हमारा ध्यान इस बात की ओर जाता है कि पंत की तरह अज्ञेय की कविताओं में भी प्रकृति का सौन्दर्य, विशेषतः पर्वतों और पर्वतीय वनों का परिवेश बहुत महत्वपूर्ण है।

अज्ञेय ने स्वयं बताया है कि उनके जीवन का 'सबसे क्रियाशील हिस्सा' कुमाऊँ से जुड़ा रहा है। वहाँ रहते हुए उन्होंने काफी-कुछ लिखा और 'असाध्य वीणा' (रचना समय: 18-20 जून, 1961) तो 'उसी अलमोड़ा के झील वनों में लिखी गई।' (कविनायक अज्ञेय, पृ 92) 'शेखर : एक जीवनी' के कुछ अंश यहीं लिखे गए। 'नदी के द्वीप' का घटना स्थल यहीं से जुड़ा है, 'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ' नाम का पूरा संग्रह बिदंसर के आसपास लिखा गया इसीलिए कवि ने उसे बिदंसर की वनवीथियों को समर्पित किया है; 'नंदा देवी' श्रृंखला की अधिकतर कविताएँ यहीं लिखी गईं। 'असाध्य वीणा' के प्रसंग में कुमाऊँ की याद करते हुए अज्ञेय ने कहा है, "असाध्य वीणा' में प्रियंवद जो ध्वनियाँ याद करता है, वह बहुत कुछ कुमाऊँ से जुड़ी ध्वनियाँ हैं। कुमाऊँ का नाम नहीं लिया गया है लेकिन वे आवाजें अधिकतर तो यहाँ सुनी गई हैं चाहे वह पर्वतीय गाँव के ढोलक की आवाज हो, चाहे झरने की धार की आवाज हो, चाहे पहाड़ों के टूट कर गिरने की आवाज हो, चाहे बिजली की गड़गड़ाहट हो।" (वही, पृ. 93)

यहीं याद दिला दूँ कि पंत जी की षष्टिपूर्ति के अवसर पर उनके सम्मान में अज्ञेय जी ने हिन्दी की प्रकृति-परक कविताओं का एक संकलन 'रूपांबरा' नाम से संपादित किया था। उसकी मूल प्रेरणा को स्पष्ट करते हुए उसकी भूमिका के अंत में उन्होंने लिखा था कि "यदि...छायावाद वस्तुतः अंतिम प्रकृति काव्य था तो सुमित्रानंदन पंत स्वभावतः युग कवि रहे।" (रूपांबरा, भूमिका, पृ. 14)

पंत और अज्ञेय के प्रकृति चित्रों की तुलना करते हुए यह बात सहज ही लक्ष्य की जा सकती है कि अज्ञेय के चित्रों में विविधता अधिक है। उनके यहाँ पर्वत और अरण्यानी और मैदानी प्रदेश के साथ-साथ समुद्र के चित्र भी हैं जो बाद की कविताओं में क्रमशः बढ़ते गए हैं। दूसरे, कुमाऊँ के साथ-साथ पूर्वोत्तर भारत (शिलांग) के प्रकृति चित्र भी अज्ञेय के यहाँ मिलेंगे। (और मरुस्थल के भी)। विदेश की पृष्ठभूमि वाली कविताएँ भी कम नहीं हैं। घुमक्कड़ होने की वजह से अज्ञेय के पास अनुभवों और चित्रों की विविधता हो, यह स्वाभाविक है।

पंत जी की कविताओं में प्रकृति के प्रति साहचर्यजनित अनुराग के साथ-साथ उनका पर्यवेक्षण भी चित्रों को विशिष्ट और प्रासंगिक बनाता है। इसकी ओर ध्यान न देने की वजह से उनकी कविताओं को समझने में निराला जी तक से चूक हुई है जिसकी आलोचना त्रिलोचन जी ने अपने 'काव्य और अर्थबोध' शीर्षक निबंध में की थी। अपनी कविताओं की नासमझी भरी आलोचना से पंत जी के संवेदनशील मन को अक्सर चोट पहुँचती थी। और जब ऐसी आलोचना में नासमझी के साथ-साथ उदंडता का भी योग हो जाता होगा तो उन्हें कितना दुख होता होगा, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। ऐसे ही एक प्रसंग का उल्लेख करते हुए अज्ञेय ने लिखा है, "एक दिन जोर की वर्षा के बाद हम लोग घूमने निकले तो ढलते दिन में लौटते हुए फिर अत्यंत झीनी बूँदाबाँदी होने लगी जैसी पहाड़ी घाटियों में अक्सर हो जाती है। बादलों में झरती महीन बूँदें थोड़ी देर के लिए सूर्य की तिरछी किरणों की प्रभा से जगमगा उठती थीं और फिर अदृश्य हो जाती थीं। नीचे थोड़ी धुंध थी जो जहाँ-तहाँ से थोड़ी छितराने लगी थी; बीच-बीच में नीचे के धान के खेतों की हरियाली दिख जाती थी। धान कुछ दिनों पहले रोपा गया था और उनकी हरियाली पनपने ही लगी थी। धूप में एकाएक सुनहली होकर फिर उस धुंध में खो जाने वाली बूँदों को देखकर पंत जी एकाएक बोल उठे, देखो, देखो, इसीलिए मैंने लिखा है-जग के उर्वर आंगन में बरसो ज्योतिर्मय जीवन! बताइए

है कि नहीं ठीक बात? और लोग पूछते हैं कि ज्यातिर्मय जीवन कैसे बरसता है! ठीक ऐसे ही बरसता है...।” (स्मृति लेखा, पृ. 75)

चित्र प्रकृति का हो या सामाजिक जीवन का, रचनाकार जब अपने विशिष्ट अनुभव के साक्ष्य पर उसे अंकित करता है तो उसके आस्वाद के लिए पाठक से सहानुभूति और समानुभूति की अपेक्षा की जाती है। आलोचक उसे अपने अनुभव के साँचे में ठीक बैठता नहीं देखता तो अपने अनुभव की जाँच-परख करने के बजाय रचना की ही काट-छाँट पर उतारू हो जाता है। यह कृति, कृतिकार और पाठक तीनों के साथ अन्याय है।

अज्ञेय की बारीक नजर ने अपनी काव्य-रचना के आरंभ में ही ‘बबूल पर भी सिरिस कोमल बौर पलता’ देखकर और दिखाकर अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति का परिचय दे दिया था। 1941 में ‘ऋतुराज’ के इस जादू की ओर इशारा किया था—“पीत वसन दमक उठे तिरस्कृत बबूल।” उनके काव्यसंसार में सावन मेघ, भादों की उमस, शिशिर की राका निशा, क्वार की बयार, कतकी पूनों, हिमंती बयार, माघ-फागुन, बैसाख की आँधी, आषाढस्य प्रथम दिवसे-बदली की साँझ, उषा काल की शांति, समुद्र से लेकर बूंद तक के विविध रंग-रूप मौजूद हैं। “शरद चाँदनी बरसी/अँजुरी भरकर पी लो” में चाक्षुष इंद्रियबोध प्रगाढ़ होकर रस्य और आस्वाद्य हो जाता है। ‘कतकी पूनो’ में मदमाती चाँदनी छिटक रही है, कास कलगी-मौर सजाकर बावले हो उठे हैं, “उजली लालिम मालती गंध के डोरे डालती” है, “पकी ज्वार से निकल शशों की जोड़ी गई फलांगती”—समूची कविता कतकी पूनो की लीला का एक अविस्मरणीय प्रसंग गतिशील दृश्यों के माध्यम से उपस्थित करती है। पावस प्रात (शिलांग), दूर्वाचल, कतकी पूनो, चाँदनी जी लो जैसी कविताएँ पंत के उस प्रकृति काव्य का ही नया विकास सूचित करती हैं जिसमें ‘पर्वत प्रदेश में पावस’ जैसी अमर कविताएँ रची गईं। अज्ञेय कभी-कभी पूरा चित्र न देकर एक विशेषण शब्द से ही चित्र की झलक दे देते हैं, जैसे—तोता परी खेत गेहूँ के, मुँह झौंसी चिमनियों, ठठाती हँसिया, सुनहरी मुस्कानें, लून लदी मीठी ब्यार, धुईली बास, रूईले फूल, अरी धूल झगड़ैल आदि। एक कविता में सूने नभ में सूप-सूप भर धूप-कनक बिखरने की कल्पना तो मौलिक है ही, लेकिन ‘सूप’ और ‘कनक’ के जरिये नभ को आँगन में उतार देना अद्भुत है। धूप का यह मातृवत्सल चित्र भी कितना भला है— “धूप/माँ की हँसी के प्रतिबिम्ब-सी/शिशु वदन पर।” प्रकृति के सूक्ष्म पर्यवेक्षण की दृष्टि से ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

चट-चट कर सहसा
तड़क गए हिमखंड
जमी सरसी के तलपर
झंझरे मटमैले प्रकाश के कथे
जहाँ तहाँ कुहरे में लटक रहे हैं

इसी प्रकार अधर में टंका-सा गुनगुनाता भौरा और ‘एक बूँद सहसा उछली’ का चित्र भी एकदम अछूता है। सागर के झाग से उछलती बूँदें तो बहुतों ने देखी होंगी लेकिन उस एक बूँद को सागर की झाग से उछलते और क्षण भर को ढलते सूरज की आग से रंगे जाते केवल अज्ञेय ने देखा है। शायद इसीलिए कविता का आरम्भ पर्यवेक्षण की निजता पर जोर देते हुए हुआ—“मैंने देखा...।”

प्रकृति के बहुरंगी, बहुगंधी, बहुरूपी, बहुशब्दी चित्र जितने ‘असाध्य वीणा’ में हैं और पर्यवेक्षण के साथ-साथ शब्द-विन्यास की सूक्ष्मता का भी जैसा विनियोग उसमें है वैसा अन्यत्र नहीं। उसमें कोमल और कठोर ध्वनि-चित्रों का गुंफन तो है ही, उस निःशब्दता की गूँज को

भी पकड़ने का प्रयास है जिसे वे अक्सर स्पन्दित सन्नाटा, सन्नाटे की गूँज, सन्नाटे की कनबतियाँ जैसे पदों से सूचित करते हैं। ‘असाध्य वीणा’ में उन्होंने गूँज के बीच में मौजूद सन्नाटे के स्वर को भी सुन लिया है—

“झिल्ली दादुर कोकिल चातक की झंकार-पुकारों की यति में
संसृति की साँय-साँय।”

कोयल की एक ‘कू’ से दूसरी ‘कू’ के बीच, दादुर के एक ‘टर’ से दूसरे ‘टर’ के बीच, चातक के एक ‘पिउ’ से दूसरे ‘पिउ’ के बीच जो झीन अंतराल आता है उसमें भी अज्ञेय को संसृति की साँय-साँय सुनाई दे जाती है। यह है श्रवण शक्ति की सूक्ष्मता।

क्या वजह है कि असाध्य वीणा के ध्वनि-संसार से गुजरते हुए पंत के ध्वनि-संसार की याद आती है। उदाहरण के लिए पंत जी की इन पंक्तियों को लीजिए:-

पपीहों की वह पीन पुकार
निर्झरों की भारी झर झर
झींगुरों की झीनी झंकार
घनों की गुरु गंभीर घर
विन्दुओं की छनती छनकार
दादुरों के वे दुहरे स्वर ...

‘असाध्य वीणा’ पढ़ते हुए इस बात का उत्तर पाया जा सकता है कि उन्होंने क्यों लिखा-पंत से सीखा जाएगा। ऐसा समझा जाता है कि पंत जी के कवि का उत्तराधिकार सूख गया। निराला का प्रभाव उत्तरवर्ती कवियों पर जिस तरह पड़ा और उस का प्रसार जो अब तक मंद नहीं हुआ उससे पंत जी की तुलना करने पर भारी अंतर दिखाई देता है लेकिन अज्ञेय के काव्य की साक्षी मानें तो कहना चाहिए कि पंत जी का उत्तराधिकार सर्वथा वन्ध्य नहीं रहा। यद्यपि अज्ञेय के आरम्भिक काव्य पर जयशंकर प्रसाद का प्रभाव लक्षित किया गया है तथापि उनके बढ़ते काव्य-वृक्ष में पंत की काव्य-सिद्धियाँ जिस तरह फलीभूत हुई हैं उसकी ओर, मेरे जानते, किसी का ध्यान नहीं गया है। जब अज्ञेय ने कहा कि पंत से सीखा जाएगा तो उन्होंने ठीक-ठीक उन बातों को रेखांकित नहीं किया जिनसे सीखने की बात उनके मन में थी। फिर भी उन्होंने पंत के शब्द-सौन्दर्य की चेतना पर जोर दिया और उस दृष्टि से अज्ञेय की काव्य साधना का अध्ययन किया जाय तो बड़े महत्वपूर्ण निष्कर्ष सामने आएँगे। और यह कहना भी अनुचित न होगा कि प्रकृति चित्रण की दृष्टि से पंत जी के बाद वे हिन्दी के सबसे बड़े कवि हैं। पंत जी से जितना उन्होंने सीखा है उतना किसी से नहीं।

अज्ञेय ने पंत जी के साथ टहलते हुए ‘ज्योतिर्मय जीवन’ वाला जो प्रसंग दिया है उससे निष्कर्ष निकालते हुए आगे लिखा है, “घटना से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि एक ओर प्रकृति के साथ और दूसरी ओर भाषा के साथ पंत का सम्बन्ध कितना गहरा और संवेदनशील था। सूक्ष्म पर्यवेक्षण और भी कवि करते हैं लेकिन उसे उतनी ही समर्थ संवेदनशील और सम्प्रेषी भाषा में मूर्त करने वाले कवि विरल होते हैं। संस्कृत में यह कालिदास की विशेषता रही, हिन्दी में पंत की।” (स्मृति लेखा, पृ. 75-76) प्रकृति का सूक्ष्म पर्यवेक्षण और समर्थ संवेदनमयी सम्प्रेषी भाषा-इन दोनों कसौटियों पर रखकर देखें तो पता चलेगा कि पंत जी के उत्तराधिकार को सहेजने, अपना, अपना बनाने और समृद्धतर करने का अज्ञेय ने एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया है जिससे बराबर सीखा जाएगा।

हिन्दी दलित कहानी : संवेदना और सरोकार

राम चंद्र

हिन्दी कहानी के उद्भव, विकास और स्वरूप के संदर्भ में हिन्दी के कथा आलोचकों ने विवेचन-विश्लेषण तो किया है लेकिन अधिकांशतः ने लोक कथाओं को महत्वहीन या दरकिनार करते हुए हिन्दी कहानी के उदय और विकास का पूरा श्रेय अंग्रेजी के 'शॉर्ट स्टोरी' को ही दिया है। इसकी वजह हिन्दी-उर्दू भाषा विवाद रहा हो या खड़ी बोली के समानांतर अन्य बोली-भाषा के संबंधों के बीच विवाद का कारण रहा हो। भारत की अलग-अलग बोलियों और भाषाओं में मौजूद लोककथाओं पर शोधपरक विचार अभी भी अपेक्षित है। सामान्य जनजीवन की घनीभूत संवेदनाओं से जुड़ी लोककथाओं के भीतर से हिन्दी कहानी के जन्म की तलाश क्यों नहीं की गई? पाश्चात्य सभ्यता-संस्कृति और ज्ञान-परम्परा पर हिन्दी कहानी को क्यों आश्रित होना पड़ा? ऐसा औपनिवेशिक आधुनिकता के दबाव के कारण हुआ या हिन्दी साहित्य पर संभ्रांत और वर्चस्वशाली वर्ग के प्रभुत्व के कारण हुआ? कथाकार और कथालोचक अब्दुल बिस्मिल्लाह द्वारा 'कहानी से पहले की कहानी' के संदर्भ में हिन्दी कहानी के उदय के बारे में उठाए गए सवाल से हम मुँह नहीं मोड़ सकते। उनका मानना है कि "वैसे तो पूरी दुनिया में, लगभग सभी छोटी-बड़ी भाषाओं के अंतर्गत ऐसी लोककथाएँ मिलती हैं और किसी भी देश और किसी भी भाषा की कहानी के उदय के पीछे अंग्रेजी 'शॉर्ट स्टोरी' का श्रेय होने की बात करना एक षड्यंत्र के अलावा कुछ भी नहीं है। फिर भी अपने देश की छोटी लोककथाओं का मूल्यांकन करते हुए यह बात साफ हो जाती है कि कम से कम हिन्दी कहानी के उदय और विकास का सम्पूर्ण श्रेय अंग्रेजी शॉर्ट स्टोरी को नहीं दिया जा सकता। क्योंकि हमारी देसी लोककथाओं में लगभग वही कथा-तत्व विद्यमान हैं, जो कि अंग्रेजी शॉर्ट स्टोरी में माने जाते रहे हैं। अर्थात् आरम्भ, मध्य एवं चरमोत्कर्ष। या फिर कथानक, कथोपकथन, पात्र, चरित्र चित्रण एवं उद्देश्य आदि। बल्कि अनेक लोककथाएँ ऐसी भी हैं जो इस मानदंड को तोड़ने वाली हैं।" इस परिप्रेक्ष्य में ईमानदारी और साहित्यिक प्रतिबद्धता के साथ विचार किया जाना चाहिए। हमारा साहित्य विदेशी भाषा-साहित्य चिन्तन से संदर्भ ज्यादा लेता है, खुद शायद ही संदर्भ बन पाता है, ऐसा क्यों? सन् 1800 से लेकर 1915 तक हिन्दी कहानी के कथा आलोचक पहली हिन्दी कहानी के विवादों में ही क्यों उलझाए रखते हैं? क्या किसी कहानी को कहानी बनने के लिए किसी फॉर्म की

सम्पर्क : प्राध्यापक भारतीय भाषा केन्द्र, भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान, जे. एन. यू., नई दिल्ली-110067
मो. 09968293185

जरूरत होती है या साहित्य के मर्म, धर्म, संवेदना, सरोकार या उसके दायित्वबोध की? भारत की लिखित-अलिखित या मौखिक लोक परम्परा में समाज को संवेदनशील बनाने वाले इंसानियत के बीज मौजूद हैं—अपनी-अपनी भाषा-बोली के खुरदरेपन, आनंद, वेदना और टीस के साथ। जरूरत है आत्मबोध के साथ उन बिन्दुओं को तलाशने की। लोक परंपराओं में मौजूद दलित जीवन संदर्भों से जुड़ी कथाओं पर शोध होना अभी भी प्रतीक्षित है। पहली कहानी के विवादों और हिन्दी कहानी के ढाँचे पर उलझी कथा आलोचकों की बहसों दलित संघर्ष और आंदोलनों से जन्मी कथा-संवेदना के लिए समुचित जमीन और माहौल नहीं बना सकीं। अछूतानंद और उनके समकालीन दलित रचनाकारों की तलाश दलित साहित्य आंदोलन को स्वयं करनी पड़ी। समतावादी आंदोलनों और संघर्षों को हिन्दी साहित्य के इतिहास और लेखन में जगह क्यों नहीं मिली? हिन्दी नवजागरणकालीन दौर में भारतीय समाज सुधारकों की पंगत से डॉ. अम्बेडकर को क्यों बाहर रखा गया? ये कुछ ऐसे सवाल हैं जो दलित साहित्य के सरोकारों से जुड़े हुए हैं। यही बात स्त्री और आदिवासी संवेदनाओं के बारे में भी कही जा सकती है। इस आलोक में व्यवस्थित शोध की अभी भी आवश्यकता है।

भारत में लोककथा और लोकगाथा की परम्परा बहुत ही समृद्ध रही है। मौखिक और वाचिक परम्परा ने इस धरोहर को बचा कर रखा है। लोक कथाओं के संबंध में उद्भव की अवधि नहीं निर्धारित की जा सकती। उसका संबंध मनुष्य के जन्म की कहानी से जुड़ा है। भारत ही नहीं दुनिया के हर भाषा-भाषी समाज में ऐसी परम्पराएँ रही होंगी। गेय लोक कथाओं की भी परम्परा रही है जो अभी तक जीवित है। परन्तु यहाँ महत्वपूर्ण यह है कि लोककथा के माध्यम से दलित कहानी की विकास यात्रा को, उसकी विशिष्टता और सरोकारों को कैसे समझा जाए? दरअसल लोक में प्रतिरोध की संस्कृति के माध्यम से इन सवालों को ढूँढ़ा जा सकता है। बौद्धकालीन भारत में जातक कथाओं की एक विकसित परम्परा है। यथार्थ और कल्पना से भविष्य की निर्मिति का साहित्य हमारे यहाँ पुरातन युग से चला आ रहा है। तिलिस्मी, जादुई तथा भूत-प्रेत की कथाओं की परम्परा ने लोकशक्तियों को नई परिभाषा दी। ऐसी कथाएँ मनोरंजन के साथ-साथ वर्चस्व के बरक्स अपनी काल्पनिक शक्ति के द्वारा लोक में मौजूद दलित को रेखांकित करती हैं। थैरीगाथाएँ महिलाओं द्वारा रचित सबसे पुराना साहित्य है। इनमें नारी के मन में निहित प्रतिरोध के विभिन्न प्रकारों की बानगी देखी जा सकती है। लंबे अर्से तक शिक्षा, ज्ञान और समाज से बहिष्कृत, वंचित समाज एवं जनसमूह की मानसिक अभिव्यक्ति का माध्यम लोककथाएँ ही रही होंगी जो प्रभुत्व के विरुद्ध चुनौती देती रही होंगी। मुहावरे, लोकोक्तियाँ, लोककथाएँ, लोकस्मृतियाँ लोकमानस की प्रवृत्तियों को पुष्ट करती हैं। वर्ण-व्यवस्था तथा शोषण के विभिन्न औजारों और जड़ मानसिकताओं के विरुद्ध लोक में प्रतिरोध की परम्परा का प्रामाणिक इतिहास अभी लिखा जाना बाकी है।

लोक के विभिन्न स्तर हैं। ऊपर से एक दिखने वाला लोकमानस खंड-खंड जातियों, समुदायों, धर्मों में विभक्त है, इसीलिए वर्चस्व एवं प्रतिरोध के विभिन्न स्तर और समीकरण देखने को मिलते हैं। कहने का आशय यह है कि लोक विभिन्न स्तरों पर विभाजित है। हिन्दी साहित्य इतिहास लेखन की परम्परा में लोक को 'लोकधर्म' के आलोक में व्याख्यायित करने की कोशिश की जाती रही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ. नामवर सिंह ने 'लोकधर्म' को अपने-अपने ढंग से व्याख्यायित किया है। 'लोकधर्म' किसी के यहाँ 'मर्यादा' पालन का धर्म माना गया तो किसी के यहाँ लोक 'विद्रोह' का। वर्ण-व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में ये दोनों ही अवधारणाएँ बहसतलब बनी हुई हैं।

समसामयिक दलित साहित्य आंदोलन की वैचारिक पृष्ठभूमि बुद्ध, बौद्ध परम्परा तथा संत आंदोलन से बनती है और ज्योतिबा फुले, बाबा साहेब तथा अन्य परिवर्तनकारी महापुरुषों के योगदान से निर्मित होती है। इतने लंबे पड़ावों के बीच दलित जनमानस द्वारा लोक में वर्चस्व के विरुद्ध चेतना का भाव अवश्य रहा होगा। कहानी से पहले की कहानी का फॉर्म/ढाँचा अलग जरूर था लेकिन वही दलित जनमानस की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम भी था। दलित वर्ग में शिक्षा और शिक्षा से आई चेतना ने कहानी लेखन का तेवर बदला है और इस तेवर को ऊँचाई दी है फुले-अंबेडकरवाद की समतावादी दृष्टि ने। जादुई, तिलिस्मी, भूत-प्रेत, अंधविश्वासों और कर्मकांडों से मुक्त किया है दलित वैचारिकी ने। दलितों की छवि को विद्रूप बनाने वाली कहावतों, लोकोक्तियों और मनोवृत्तियों को झूठा साबित किया है दलित साहित्य लेखन ने। इस संदर्भ में आधुनिक हिन्दी दलित कहानी का तेवर और सरोकार बिल्कुल स्पष्ट है। दलित कहानियों में तथाकथित सवर्ण पुरुषों द्वारा घर के भीतर स्वयं की स्त्रियों के शोषण की दासता और मुक्ति के स्वर सुने जा सकते हैं। असमानता और अन्याय का पुरजोर विरोध और उसका खात्मा दलित कहानियों की विषय-वस्तु है। लोककथा में रचे गए मिथकों को रूपांतरित-कायांतरित कर चेतना के ओज से भरी हुई दलित कहानियाँ तर्कशील समाज निर्मित करने की ओर उन्मुख हैं। दलितों की बना दी गई ऐतिहासिक छवि के तिलिस्म को तोड़कर दलित कहानियाँ दलित चेतना की निर्मिति कर रही हैं।

दलित कहानी की संवेदना और सरोकारों को साहित्य के परम्परागत ढाँचे पर निर्मित मानदंडों के आधार पर समझना या परखना तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता। दलित साहित्य की वैचारिकी तथा पृष्ठभूमि को समझना अपरिहार्य है। खड़ी बोली हिन्दी में लिखित कहानी का इतिहास दलित कहानी के परिप्रेक्ष्य में सरोकारों को स्पष्ट नहीं कर सकता। इस सच को ईमानदारी से स्वीकार करना चाहिए कि हिन्दी साहित्य में सभी वर्ग, जाति और धर्म के लोगों की बराबर की भागीदारी नहीं रही है। विषमता पर आधारित व्यवस्था ने यह अवसर ही नहीं दिया था कि सभी को एक साथ, एक जैसी शिक्षा मुहैया हो सके। यहाँ का बहुसंख्यक वर्ग शिक्षा से लम्बे समय तक वंचित रहा है। वर्चस्व के ऐतिहासिक और यातनादायी सच से गुजरे बिना क्या हम विषय की तह तक पहुँच सकते हैं? हिन्दी साहित्य के इतिहास में दलितों-वंचितों के लिए कितनी जगह है? क्या साहित्य और सत्ता के संबंध पर बात नहीं होनी चाहिए? आखिरकार साहित्य का धर्म क्या है? इन सवालों से गुजरे बगैर हिन्दी की दलित कहानी की संवेदना और सरोकारों को नहीं समझा जा सकता।

बौद्धकालीन और संत युगीन भारत के इतिहास को पुनर्विश्लेषित करना चाहिए जिसने साहित्य की शाश्वतता और स्वायत्तता के समक्ष चुनौती पेश की। हिन्दी के नवजागरणकालीन साहित्य में दलित प्रश्न और दलितों की अनुपस्थिति ने हिन्दी साहित्य की परम्परा और विरासत पर ही सवालिया निशान खड़ा कर दिया है। 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में लिखी गई इंशा अल्ला खां की 'रानी केतकी की कहानी' भाषा और धर्म की आड़ में हिन्दी कहानी के इतिहास के हाशिए पर डाल दी गई। हिन्दी-उर्दू के विवाद ने गद्य के इतिहास को काफी प्रभावित किया है। हिन्दी साहित्य के वैज्ञानिक इतिहासकार माने जाने वाले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 1900 ई. से हिन्दी कहानी को चिन्हित, रेखांकित और स्थापित किया है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में द्विवेदी युग के प्रवर्तक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के संपादकत्व में 'सरस्वती' पत्रिका में सन् 1914 में पटना के हीरा डोम की कविता 'अछूत की शिकायत' प्रकाशित हुई थी। यह अलग प्रश्न है कि हीरा डोम का कोई परिचय नहीं, कोई अतीत या इतिहास नहीं है। उसी

दौर में हिन्दी क्षेत्र में स्वामी अछूतानंद का दलित अधिकारों के लिए संघर्षमयी आंदोलन सक्रिय था। वे हिन्दी में पत्र-पत्रिकाएँ निकाल रहे थे, साहित्यिक लेखन कर रहे थे, उन्हें एवं उनके लेखन को नोटिस योग्य क्यों नहीं समझा गया? यह दौर हिन्दी में अम्बेडकरवादी चेतना और वैचारिकी के परिवेश बनने से पूर्व की स्थिति थी। हिन्दी साहित्य का 'नवजागरणकालीन' दौर भी वही था, राष्ट्रीय फलक पर डॉ. अंबेडकर सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर सक्रिय थे। परंतु हिन्दी कहानी के उद्भव और विकास के इतिहास में दलित कहानी का कोई इतिहास नहीं मिलता। दलित जीवन से जुड़ी प्रेमचंद द्वारा लिखित कहानियाँ सन् 1927-36 तक जरूर मिलती हैं लेकिन किसी दलित वर्ग द्वारा लिखित किसी भी कहानी का जिक्र नहीं मिलता, जबकि लोक में दलित की उपस्थिति से इंकार नहीं किया जा सकता। इस आलोक में हिन्दी कथा साहित्य क्या अभी भी प्रेमचंद से आगे बढ़ पाया है? इस पर विस्तृत एवं गम्भीर शोध तथा विश्लेषण जारी है।

बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर के परिनिर्वाण के बाद आधुनिक काल की साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियों में खासकर महाराष्ट्र के दलित संदर्भों में बुनियादी बदलाव देखा जा सकता है। 70 के दशक तक वहाँ दलित लेखन, आंदोलन का रूप धारण कर लेता है लेकिन हिन्दी क्षेत्र का साहित्य प्रगतिशील आंदोलन और परंपरागत लेखन में दलित लेखन के लिए जगह नहीं बना पाता। जाति और वर्ण-व्यवस्था के बुनियादी सवाल को वर्ग या समन्वयवाद लंबे समय तक हिन्दी साहित्य में उलझाए रहा। अंबेडकरवादी विचारों के राष्ट्रीय प्रचार-प्रसार के बावजूद प्रगतिशील लेखन ने सामाजिक समस्या को आर्थिक समस्या मानकर ही ज्यादातर साहित्य की सर्जना की। आजादी के बाद संवैधानिक व्यवस्था से दलित समाज को शिक्षा और रोजगार के अवसर मिले। इन्हीं शिक्षित दलितों में अंबेडकरवादी विचारधारा ने चेतना पैदा किया, अधिकारों के लिए जागरूक किया और आत्मसम्मान के लिए लिखने एवं संघर्ष के लिए प्रेरित किया। इसी पृष्ठभूमि की सशक्त परिणति है—दलित साहित्य।

दलित साहित्य लेखन का एक राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य बन चुका है। भारत की लगभग सभी भाषाओं में दलित लेखन हो रहा है। संपूर्ण लेखन की मूल अवधारणा एक ही है—असमानता, अन्याय और शोषण का खात्मा तथा अहिंसा पर आधारित समतापरक समाज की स्थापना करना। स्वतंत्रता और भाई-चारे के लिए माहौल बनाना। यही दलित कहानी लेखन की कथावस्तु का मूल आधार है और इन्हीं सरोकारों के साथ दलित कहानियाँ लिखी जा रही हैं। दलित लेखन में चेतना, अधिकार और आत्मसम्मान की माँग के साथ इस साहित्य द्वारा समतामूलक समाज की ओर बढ़ना क्यों लाजिम है? इसी बोध के साथ दलित कहानी सर्जनात्मकता में रूपांतरित होती है। चेतना की जो धारा बाबा साहेब के संघर्षों और उनके लेखन से मराठी दलित साहित्य में शुरू हुई थी उसका विस्तार और विकास सम्पूर्ण भारत में अपने समसामयिक आंदोलनों एवं संघर्षों के साथ एकाकार करते हुए दलित साहित्य एवं विमर्श में परिणत होता है। हिन्दी की दलित कहानियों ने पिछले तीन दशकों से दलित चिन्तन को अपनी विशिष्टता से काफी संवर्द्धित किया है।

हिन्दी में अंबेडकरवादी विचारों एवं चेतना पर आधारित दलित कहानी लेखन का समय निर्धारण किसी खास तिथि या वर्ष को नहीं बनाया जा सकता। फिलहाल मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि ज्यादातर सन् 80 के दशक से दलित चेतना पर आधारित कहानियाँ प्रकाश में आती हैं। या यों कहें कि उनकी नोटिस ली जाती है। यह कहना तात्कालिक होगा कि इससे पूर्व दलित चेतना पर आधारित साहित्य सर्जना नहीं हुई होगी। 20वीं सदी के आखिरी तीन दशकों में दलित साहित्य लेखन की जमीन बनने और उसे नोटिस लेने की वजह उत्तर

भारत में दलित राजनीतिक आंदोलन है। इस राजनीतिक आंदोलन की चेतना ने व्यापक पैमाने पर पाठक वर्ग पैदा किया और दलितों के अधिकार एवं सम्मान के प्रति माहौल बनाया।

हिन्दी दलित कहानी गाँव, शहर, कस्बे के अन्तर्द्वन्द्व को सामने लाती है। दलित-गैर दलित रिश्तों की आत्मीयता, स्नेह और सहयोग को भी दलित कहानीकार रेखांकित करते हैं। मानवीय-अमानवीय द्वन्द्व को प्रस्तुत करने में दलित कहानियाँ सफल सिद्ध हुई हैं। पुलिस, प्रशासन, राजनेता, मठाधीश, मुखिया, न्यायप्रणाली अर्थात् विधायिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका के लोकतांत्रिक आधारों की नाकामियों और गठजोड़ को भी दलित कहानियाँ व्यंजित करती हैं। दलित कहानियाँ हमारी ग्रामीण और शहरी संस्कृति में व्याप्त जाति-व्यवस्था की जड़ता को बेनकाब करती हैं। इनके माध्यम से दलित साहित्य की संवेदना एवं सरोकारों को समझा जा सकता है। दफ्तरों में सहकर्मियों और बॉस के रिश्तों में जातिभेद की कड़वाहटों को भी दलित कहानियाँ बेबाकी से प्रस्तुत करती हैं। दलित और गैर दलित अंतःसंबंधों और अतर्द्वन्द्वों को उजागर करती हैं तथा गैर दलित स्त्रियों की वेदनाओं को भी चित्रित करती हैं। दलित संवेदनशीलता की बानगी भी प्रस्तुत करती हैं। दलित कहानीकारों के व्यापक अनुभवों से दलित कहानियों में चित्रित पात्र एवं घटनाओं में जीवंतता का बोध होता है।

दलित कहानी की विकास यात्रा में जिन कहानीकारों का नाम लिया जा सकता है, वे हैं- ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, डॉ. प्रेमशंकर, डॉ. सुशीला टाकभौरे, डॉ. जय प्रकाश कर्दम, डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन', डॉ. कुसुम वियोगी, प्रेम कपाड़िया, कावेरी, विपिन बिहारी, बुद्ध शरण हंस, सत्य प्रकाश, डॉ. दयानंद बटोही, बी. एल. नैय्यर, कुसुम मेघवाल, एन.आर. सागर, सी बी भारती, कर्मशील भारती, भीमसेन संतोष, नीरा परमार, तेजपाल सिंह 'तेज', उमराव सिंह जाटव, रत्न कुमार सांभरिया, रजत रानी 'मीनू', रमेशचन्द्र जालौनिया, प्रभाकर गजभिये, डालचंद गौतम, स्वरूपचंद्र, अजय यतीश, रामनिहोर 'विमल', कृत्यांश, डॉ. शत्रुघ्न कुमार, डॉ. कालीचरण स्नेही, मुसाफिर बैठा, डॉ. उमेश कुमार सिंह, डॉ. हेमलता महीश्वर, रूपनारायण सोनकर, राजेन्द्र बड़गुजर, रजनी तिलक, डॉ. अजय नावरिया, सुजाता पारमिता, डॉ. सुमित्र महरोल, डॉ. रजनी दिसोदिया, सुशीला पवार, अनिता भारती, कैलाश वानखेड़े, अमित कुमार, टेक चंद, राज वाल्मीकि, डॉ. सूरज बड़त्या, कैलाश चंद चौहान, डॉ. अजमेर सिंह काजल, डॉ. राजेश कुमार, डॉ. कौशल पंवार, पूनम तुषामड़, ब्रह्मानंद, दिलीप कठेरिया, अर्जुन सावेदिया आदि। इन कहानीकारों की कहानियों के माध्यम से दलित कहानी की संवेदना और सरोकारों के विविध आयाम को समझा जा सकता है—जहाँ वर्ण-व्यवस्था पर चोट, जाति की जड़ता की शिनाख्त, धार्मिक पाखंड एवं कर्मकांड पर प्रश्न चिन्ह, पितृसत्ता के सवाल, जाति-उपजाति के अंतर्विरोध, प्रेम तथा आतंक से लेकर पूँजीवाद, भूमंडलीकरण, बाजारवाद और नगरीय संस्कृति के बहुविध विषयों के माध्यम से दलित कहानी के तेवर और उसकी व्यापकता को परखा जा सकता है। न्यायोचित यह होगा कि इन सभी पर अलग से शोध और विश्लेषण हो जिससे दलित कहानी के उद्भव और विकास की वैचारिकता और उसके समतावादी स्वर की सार्थक पड़ताल हो सके। साथी ही दलित समाज की जटिलताओं, अन्तर्विरोधों तथा हिन्दू-व्यवस्था के दुष्प्रभावों को भी समझा जा सके। इनमें कुछ ऐसे कहानीकार भी हो सकते हैं, जिनका बुद्ध और फुले-अंबेडकरवाद की वैचारिकी से कोई वास्ता न हो।

इन कहानीकारों का नामोल्लेख करने का मंतव्य यह है कि दलित लेखन के रुझान, सक्रियता और विभिन्न प्रवृत्तियों को समझा जा सके, उसे रेखांकित किया जा सके। परंतु इसका आशय यह कदापि नहीं है कि जन्मना दलित वर्ग का होने के कारण कुछ भी लिखा हुआ यथावत्

महत्वपूर्ण मान लिया जाए। संभव है इनमें से कुछ कहानीकारों की वैचारिक प्रतिबद्धता और इनकी कहानी में अभिव्यक्त संवेदना एवं सरोकार प्रश्नांकित करने योग्य हों तथा दलित साहित्य के मानकों के अनुरूप भी न हों, फिर भी दलित कहानी के इतिहास लेखन से इन्हें बाहर नहीं किया जा सकता। हो सकता है कि कुछेक की दो-तीन कहानियाँ ही प्रकाशित हुई हों। परन्तु कहानी की कथावस्तु, विशिष्टता और दलित साहित्य की वैचारिकी के आलोक में इनकी समीक्षा की जानी चाहिए। सभी कहानीकारों की सर्जना के माध्यम से दलित जीवन की मनोवृत्तियों, अंतर्द्वंद्वों एवं अंतर्विरोधों को विकासमान सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। लेकिन ऐसी दलित कहानियाँ जो प्रतिशोध, घृणा और प्रतिक्रिया स्वरूप लिखी गई हों उन्हें दलित साहित्य की वैचारिकी से बाहर रखना होगा। इस तरह की कहानियों या कहानीकारों का उल्लेख, अध्ययन, समीक्षा और पर्यवेक्षण का मकसद दलित-दृष्टि को स्पष्ट करने के लिए जरूरी है। ऐसे लेखन को दलित वर्ग की विभिन्न सामाजिक अवस्थिति से उपजे अंतर्विरोधों के रूप में देखा जाना चाहिए, जहाँ अभी भी ठीक से अंबेडकरवाद नहीं पहुँच सका है तथा वैचारिकी की समझ भी नहीं विकसित हो सकी है। यह सामाजिक व्यवस्था और अंबेडकरवादी चेतना का अंतर्विरोध है। इसे दलित साहित्य के अंतर्विरोध के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए, क्योंकि ऐसी कहानियाँ अंबेडकरवादी दृष्टि से लिखी ही नहीं गई हैं, न ही उन लेखकों को अंबेडकरवाद की समझ है। वे ऐसे में प्रतिक्रियावाद के शिकार हो सकते हैं। इस तरह की सुस्पष्टता की आवश्यकता इसलिए भी है क्योंकि कुछ गैर दलित आलोचक-पाठक कुछेक दलितों की प्रतिक्रियावादी लेखन और प्रवृत्तियों को आधार मानकर दलित साहित्य की समीक्षा अंतर्विरोध के रूप में कर रहे हैं और दलित साहित्य को कमतर, कमजोर एवं खारिज करने की भी कोशिश करते हैं। हिन्दी के ऐसे समीक्षकों, आलोचकों और पाठकों को दलित साहित्य की वैचारिकी, प्रतिबद्धता और सरोकारों को समझने की कोशिश करनी चाहिए। यह बौद्धिक समझ फुले-अंबेडकरवाद के दर्शन, चिंतन और संघर्षों के अध्ययन से प्राप्त हो सकती है। यह बात सिर्फ गैर दलितों पर ही नहीं उन दलितों पर भी लागू होती है जिनमें दलित साहित्य की विचारधारा की समझ विकसित नहीं हो सकी है।

कहानियों की कथावस्तु, विशिष्टताओं और सामाजिक-सांस्कृतिक सरोकारों को हिन्दी दलित कहानी के तेवर की प्रवाहमान वैचारिक स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए, पीढ़ियों के अंतर या अंतर्विरोध के रूप में नहीं। पीढ़ियों को बाँटने और अंतर करके देखने की दृष्टि परम्परागत हिन्दी साहित्य की प्रवृत्ति है, दलित साहित्य की नहीं। ऐसे ही दलित स्त्री के सवाल ठेठ पितृसत्ता के सवाल नहीं हैं बल्कि दलित साहित्य में स्त्री के सवाल एक दलित आंदोलन के सहकर्मी के सवाल हैं क्योंकि दलित स्त्री और पुरुष के लेखन का वैचारिक आधार फुले-अंबेडकरवाद ही है और दैनंदिन जीवन में दलित स्त्री-पुरुष श्रमशील एवं बराबरी की भूमिका में होते हैं, जबकि गैर दलित समाज में इससे भिन्न स्थितियाँ हैं। इसलिए दलित कहानी के संवेदना और सरोकार परम्परागत कहानी से भिन्न हैं।

दलित कहानियों का कलेवर और कथानक गैर दलित संवेदनशीलता के प्रति भी सचेत हैं। इस संदर्भ में दलित कथा संवेदना के प्रति सकारात्मक सोच का बनना जरूरी है। तभी दलित कहानियों के मर्म की सार्थकता को समझा जा सकता है। दलित कहानियों में दलित और गैर दलित संवेदना के अंतःसंबंधों की बारीकी को ओमप्रकाश वाल्मीकि के 'सलाम' और मोहनदास नैमिशराय की 'महाशूद्र' के माध्यम से समझा जा सकता है। दोनों कहानियों के गैर दलित पात्र (ब्राह्मण) स्वयं अपने ही समाज द्वारा अपमानित और उपेक्षित किए जाने के

बाद दलित जीवन की त्रासदी को ठीक से समझ पाते हैं। सहानुभूति को स्वानुभूति में रूपांतरित करने की यह कहानियाँ हैं। 'सलाम' के कमल उपाध्याय को दलित अपमान और उपेक्षा का बोध तब होता है जब वह दलित दोस्त हरीश की शादी में एक चाय वाला उसे चूहड़ा समझ कर चाय नहीं पिलाता। चाय वाला कहता है—“चूहड़ा है। खुद कू बामन बता रा है। जुम्न चूहड़े का बाराती है। इब तुम लोग ही फैसला करो। जो यो बामन है तो चूहड़ों की बारात में क्या मूत पीणे आया है। जात छिपाके चाय मांग रा है।”² महाशूद्र' कहानी में आचार्य जी को बस्ती के लोग ब्राह्मण समाज पर कलंक मानते हैं। आचार्य जी के बड़े लड़के ने तो चीख-चीख कर एक दिन कहा भी “पिताजी, अब और नहीं सहा जाता। सारी दुनिया हम पर थू-थू करती है। हमें मुरदे की चमड़ी खींचने वाले से लेकर कफन-खसोटू तक कहती है। वे कहते हैं कि हमारे घर का गुजारा ही तब चलता है जब कोई मरता है। किसी के घर में अँधेरा होने पर ही हमारे घर में उजाला होता है।”³ यह बात आचार्य जी के अंतस को छू गई। ब्राह्मण समाज के बीच के 'छुआ-छात' जैसे अनुभव को भी यह कहानी व्यंजित करती है। अपने ही समाज से आचार्य जी को मिले घृणा, उपेक्षा और तिरस्कार आदि से श्मशान के संगी दलित नंदू के प्रति अपनत्व पैदा करता है और इस अपनापा को नंदू तृप्ति भरी नजरों से देखता है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'जिनावर' में बिरजू की बहू का शोषण उसके ससुर चौधरी द्वारा होता रहा है। चौधरी की हवेली के भीतर शोषण-दमन का चक्र किस प्रकार चलता रहता है यह कहानी उसी को उजागर करती है। पूरी हवेली में बिरजू की बहू के दर्द को सुनने वाला कोई नहीं है। सतवीर की किसनी का तीन महीने तक शारीरिक-मानसिक शोषण के बाद उसकी लाश मिलती है जिसकी गवाह अकेली बिरजू की बहू है। चौधरी का नौकर जगेसर को हवेली के अंदर चल रहे कुचक्र, शोषण और अमानवीयता की भनक तक नहीं है। बिरजू की बहू द्वारा विरोध के बाद उसे घर से निकाल दिया जाता है। बिरजू की बहू को उसके मायके छोड़ने जाते हुए रास्ते में जगेसर की आत्मीयता पाकर उसकी वेदना के तार झंकृत हो उठते हैं और वह हवेली की हकीकत जगेसर के सामने खोल कर रख देती है। यही नहीं वह मझधार में फँस गई है क्योंकि पिता के गुजरने के बाद माँ के साथ मामा के घर में ही उसने होश सँभाला। वही उसका मायका था जहाँ उसके मामा ने दस साल की अवस्था में ही इसके 'अबोध शरीर को बर्बाद कर दिया था।' वहाँ भी कोई सुनने वाला नहीं था। बेबशी ने उसकी माँ को डरपोक बना दिया था। वर्षों से अपने सीने में इस दुःख, दर्द और वेदना को दबाई हुई बिरजू की बहू ने जब जगेसर के सामने अपने अंतर्मन की परतें खोली तो चौधरी के प्रति जगेसर का मन नफरत और गुस्से से भर उठा। जगेसर को यह अहसास हुआ कि चौधरी की हवेली की सुरक्षा और सेवा करते हुए उसने अपनी जिन्दगी बर्बाद कर ली। एक ऐसे चौधरी के लिए जो 'आदमी नहीं, जंगली जिनावर है।' वह खुद भी कहीं जिनावर न बन जाए इससे पहले ही हकीकत जानने के बाद उसकी चेतना जाग उठी और वह बिरजू की बहू को न्याय दिलाने के लिए चौधरी की हवेली वापस चलने के लिए जोर डालता है। बिरजू की बहू कहती है, “यह सुनसान जंगल हवेलियों से ज्यादा सुरक्षित है। कम से कम भेड़िए आवेंगे तो रंग-रूप बदल के तो ना आवेंगे। जाके कह देना छोड़ आए तो....।”⁴ तब जगेसर ने बहू को समझाने की कोशिश की—“ना बहू जी...मैं लछमन ना हूँ जो सीता कू बियाबान जंगल में छोड़ के वापस चला जाऊँ...” जगेसर ने दृढ़ आत्मविश्वास दिखाया। उसके आत्मविश्वास को देखकर बहू भी चौंकी। धूप का एक कतरा जगेसर के चेहरे पर चमक पैदा कर रहा था। ... बहू उठकर खड़ी हो गई। उसी आत्मविश्वास से भरकर बोली, 'चलो।' जगेसर ने चौंकर

देखा। बहू जी के चेहरे पर हल्की-सी खुशी दिखाई पड़ रही थी। बगीचे से बाहर कच्चे रास्ते पर धूप में अभी भी उतनी ही तपिश थी।”⁵ ‘जिनावर’ कहानी का दलित पात्र जगेसर गैर दलित समाज के खोखलेपन और उनके विद्रूप चेहरे को देखकर गैर दलित समाज की स्त्री को न्याय की आस दिलाता है। चेतना आने के बाद जगेसर बाकायदा पक्षधरता चुनता है। चौधरी की बेटी सरोज और जगेसर के बीच प्रेम, स्नेह और आत्मीयता दलित कहानी के कथ्य और सरोकार को और विस्तार देती है। जय प्रकाश कर्दम की कहानी ‘बिट्टन मर गई’ में कायस्थ परिवार की बेटी बिट्टन की शादी अनजाने में ही दलित युवक को सजातीय समझकर हो जाती है। बिट्टन की शादी युवक के कार्यालय में ही कार्यरत लड़की के पिता के परिचित के माध्यम से सजातीय समझकर खूब धूमधाम से संपन्न होती है। लेकिन बाद में सच्चाई का पता चल जाने पर बिट्टन के माता-पिता लड़की को पति के घर नहीं भेजते। कहानी का नायक विकास बिट्टन की आँखों में उठते प्रश्नों में उसे ढूँढ़ता है—“बिट्टन की उदास, तन्हा जिन्दगी सहारा माँगती है। कोई सहारा नहीं मिलता इसलिए वह खीझती है, चिड़चिड़ाती है, गुस्सा करती है और अंदर ही अंदर धधकती रहती है। उसे प्यार और खुशी के दो क्षण चाहिए।...बिट्टन के माँ-बाप को वह जाति की निस्सारता और निरर्थकता समझाए तो कैसे?”⁶ बिट्टन परिवार और समाज के दोहरे दबाव के आगे बेवश हो जाती है और अतंतः वह घर में ही घुट-घुटकर मर जाती है। यहाँ एक सवर्ण स्त्री की वेदना को दलित संवेदना के माध्यम से समझा जा सकता है। किस प्रकार जाति-व्यवस्था का दंश झेलती हुई बिट्टन अपनी जिन्दगी समाप्त कर लेती है। डॉ. कर्दम की ‘नो बार’ कहानी जाति के उस तिलिस्म को तोड़ती है जो विज्ञापन की दुनिया में जाति-भेद को नहीं मानते लेकिन व्यावहारिक जीवन में जाति का संस्कार कितने गहरे स्तर पर रच-बस गया है, यह शादी के वक्त उजागर होता है। ‘बेटी एक बात तो बताओ।’ क्या पापा? ‘इस लड़के की कास्ट क्या है?’ ‘आई कान्ट से पापा। मैंने उससे कभी पूछा ही नहीं।’ ...‘पर क्यों पापा, जब हम जाति-पाँति को मानते ही नहीं तो फिर वह किसी भी कास्ट का हो उससे क्या फर्क पड़ता है।’ लड़की ने बड़ी सहजता से कहा, “वह सब तो ठीक है हम जाति-पाँति को नहीं मानते और हमने मैट्रीमोनियल में ‘नो बार’ छपवाया था। लेकिन, फिर भी कुछ चीजें तो देखनी ही होती हैं। आखिर ‘नो बार’ का यह मतलब तो नहीं कि किसी चमार-चूहड़े के साथ....।”⁷ गैर दलित समाज की सोच का रेखांकन दलित कहानी के सरोकारों को स्पष्ट करता है। दलित साहित्य की सीमाओं को रेखांकित करने वाले हिन्दी के आलोचकों को गैर दलित जीवन संदर्भों से जुड़ी दलित कहानियों में अभिव्यक्त वेदना, पीड़ा और सरोकारों को समझने की जरूरत है।

मोहनदास नैमिशराय की कहानी ‘आवाजें’ दलित चेतना की आवाजें हैं जो भारतीय समाज में दलितों की स्थिति और उनकी दुर्दशा के कारणों की शिनाख्त करती है तथा वे आवाजें हैं जो डॉ. अंबेडकर के शब्दों में गुलाम को गुलामी का अहसास करा दे ताकि वह विद्रोह कर उठे। जातिगत वर्चस्व का पर्याय मकदूमपुर गाँव के ठाकुरों की यह कोशिश कि गाँव के मेहतर अपने पुश्तैनी पेशे में बने रहें। उन्हें यह बर्दाश्त नहीं कि दलित आत्मसम्मान, स्वाभिमान और स्वेच्छा से जीवन जी सकें। दलितों के जातिगत पेशे से अलग होने की कोशिश को नाकाम करने के लिए ठाकुर मेहतर टोले को डराते-धमकाते हैं परंतु सफलता न मिलने पर उन्हें गिरफ्तार करा देते हैं। षड्यंत्रों में असफल होने के बाद अतंतः ठाकुरों द्वारा दलित बस्ती को जला दिया जाता है। पूरी बस्ती में सन्नाटा पसर जाता है लेकिन ठाकुर औतार सिंह जैसे लोगों की साजिश को नाकाम करने के लिए चेतनाशील नई पीढ़ी की आवाजें सन्नाटे को भंग करती हैं—“फिर

सन्नाटे को चीरती हुई कुछ आवाजें जहाँ लोग गीली आँखें लिए आकाश की ओर निहार रहे थे, वहीं नई पौध की आँखों में परिवर्तन के लिए अटूट विश्वास था। कल तक जो बच्चे जूठन पर लड़ते-झगड़ते थे उनके मन में कुछ कर गुजरने की चेतना जन्म ले चुकी थी।”⁸

डॉ. सुशीला टाकभौरे की कहानी ‘सिलिया’ एक दलित लड़की के बाल्यावस्था से युवती बनने के बीच के अपमान, अंतर्द्वंद्व और संघर्ष की कहानी है जिसे आत्मविश्वास है कि शिक्षा से ही सम्मान के शिखर पर पहुँचा जा सकता है। वह अपने में सफल भी होती है। अंतर्जातीय विवाह का विज्ञापन हिन्दी के ‘नई दुनिया’ अखबार में ‘शूद्र वर्ग की कन्या चाहिए’ से इस कहानी का कथ्य शुरू होता है। इस तरह के विज्ञापन और हिन्दू धर्म के खोखलेपन का एहसास सिलिया को दैनंदिन व्यवहारों के अनुभवों से होता है। सिलिया के बचपन की दो घटनाएँ उसके मानस पटल पर हिन्दू व्यवस्था की विद्रूपता की गहरी रेखाएँ खींच देती हैं। पहली घटना भेड़ों, बकरियों का व्यवसाय करने वाले गाडरी मुहल्ले के कुएँ से पानी पीने का है जब सिलिया की ममेरी बहन मालती द्वारा कुएँ की बाल्टी और रस्सी छू जाने से बवेला मच जाता है। मामी के हाथों मालती की पिटाई देखकर सिलिया सहम जाती है, मन में डर घर कर जाता है। दूसरी घटना स्वयं सिलिया के साथ होती है जब अपनी पाँचवी कक्षा की सहेली हेमलता ठाकुर के बहन की ससुराल में सास द्वारा जाति जान लेने के बाद उसके सामने से पानी का गिलास हटा लिया जाता है। जबकि सिलिया को बहुत जोर की प्यास लगी थी। उसके बालमन में घर कर गए घाव डेरों सवाल छोड़ जाते हैं। सिलिया के अंतर्मन के उथल-पुथल को शिक्षा से राह मिलती है। डॉ. अंबेडकर के ‘शिक्षित बनो, संगठित हो, संघर्ष करो’ का नारा इस कहानी में प्रतिफलित होती है। शिक्षा से धीरे-धीरे सिलिया का मनोबल और आत्मविश्वास बढ़ता गया—“सिलिया ने मन ही मन दृढ़ संकल्प किया—मैं बहुत आगे तक पहुँगी, पढ़ती रहूँगी। उन सभी परंपराओं के मूल कारणों का पता लगाऊँगी, जिन्होंने हमें समाज में अछूत बना दिया है। मैं विद्या, बुद्धि और विवेक से अपने आप को ऊँचा साबित करके रहूँगी। किसी के सामने झुकूँगी नहीं। न ही कभी अपमान सहन करूँगी।”⁹ यही नहीं बल्कि समाज को बदलने का संकल्प भी लेती है—“सिलिया ने तय किया, वह जीवन भर कोशिश करेगी कि समाज इन सब बातों को समझे, उनके मर्म को जाने। सम्मान और अपमान के भेद को समझे और सही रूप में सम्मान का हकदार बने।”¹⁰ इस तरह ‘सिलिया’ कहानी दलित साहित्य के सरोकारों को पुष्ट करती है। नीरा परमार की ‘वैतरणी’, डॉ. रजत रानी ‘मीनू’ की ‘सुनीता’ और ‘वे दिन’ कहानियाँ भी ऐसी ही संवेदना और सरोकारों से गूँथी हुई हैं। कावेरी की ‘सुमंगली’ कहानी दलित स्त्री की बेबसी, लाचारी की वजहों को समझने समझाने की कहानी है।

कहानी की संवेदना और उसकी निर्मिति की पृष्ठभूमि कथावस्तु का मूल आधार है। कहानी की बुनावट, बल्कि समग्र ढाँचा कथावस्तु की नींव है। सामान्य हिन्दी कहानी से भिन्न दलित कहानियों के रचनात्मक वैशिष्ट्य को समझे बगैर दलित कहानी की कथावस्तु को ठीक से नहीं परखा जा सकता। इसलिए जरूरी और प्रासंगिक यह है कि एक ही भाषा के भीतर के अंतर और अंतर्विरोधों को भी समझा जाए। इसके लिए विवेकसम्मत, तर्कपूर्ण एवं प्रामाणिक इतिहासबोध आवश्यक है। वर्चस्व की संस्कृति का इतिहास, उसका विकास और उसके प्रभावों की पड़ताल किए बगैर दलित कहानियों के विन्यास को नहीं समझा जा सकता। हिन्दू-व्यवस्था के ढाँचे की महीन बुनावट और उसके दुष्प्रभावों को दलित चेतना ने चिन्हित किया है। शोषण के जितने भी स्वरूप हो सकते हैं दलित लेखन ने उसे बेनकाब किया है। आदिम सभ्यता के उद्भव से लेकर आज तक के सामाजिक-सांस्कृतिक, धार्मिक-राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों

का पुनर्विवेचन, विश्लेषण ने दलित कहानी की निर्मिति को नवीन स्वरूप दिया है। दलित कहानियाँ मात्र दलित जीवन की कहानियाँ नहीं हैं अपितु सम्पूर्ण भारतीय समाज की विद्रूपताओं, विडंबनाओं की कहानियाँ हैं। दलित कहानियाँ दलितों के दर्द का दस्तावेज हैं जिसमें धर्म, दर्शन, इतिहास, संस्कृति, परम्परा आदि का विवेचन एवं आलोचन है।

भारत की वर्ण-जाति आधारित व्यवस्था में यातना का लंबा इतिहास है। अलग-अलग कालखंडों में इस व्यवस्था के खिलाफ विरोध और प्रतिकार होता रहा है। सबसे प्रखर और सुव्यवस्थित संघर्ष फुले और अंबेडकरयुगीन कालखंड में देखा जा सकता है। दलित मुक्ति आंदोलन का स्वर अंग्रेजी औपनिवेशिकता के समय में ही प्रखरता से राष्ट्रीय स्वर बन चुका था। आत्म-सम्मान और अधिकारों की प्राप्ति के लिए किए गए संघर्षों के इतिहास को दलित कहानीकार पुनः साकार करता है। क्योंकि आजादी के लंबे अंतराल के बाद भी यातना और उत्पीड़न का सिलसिला थमा नहीं है। आर्थिक उन्नति होने के बावजूद जातिगत भेदभाव बड़े ही भयावह रूप में मौजूद है। भारतीय ग्रामीण व्यवस्था में मौजूद वर्चस्व की विद्रूपताएँ यथावत जड़ जमाएँ हैं। छुआछूत, ऊँच-नीच जैसी विषमताएँ आज भी मानवता का मजाक उड़ा रही हैं। असमानता को बनाए रखने वालों और सत्तातंत्र के गठजोड़ को भी दलित कहानीकारों ने कथावस्तु का आधार बनाया है। हिंसा और घृणा आधारित हिन्दू-व्यवस्था की जगह समता एवं करुणा की आकांक्षा दलित वैचारिकी का आधारस्तंभ है जो बुद्ध से डॉ. अंबेडकर तक के लंबे इतिहास की देन है। अंबेडकरवादी विचारधारा की मौजूदगी दलित कहानी की मूल संवेदना है जिससे दलित चेतना की निर्मिति हुई है। अस्मिताबोध दलित कहानियों का मूल कथ्य है।

जाति-पाँति, ऊँच-नीच, आत्मा-परमात्मा एवं स्वर्ग-नरक का नकार, पुरोहितवाद का विरोध, कर्मकांड, अंधविश्वास, भाग्य-भगवान तथा पुनर्जन्म आदि ब्राह्मणवादी मूल्यों का नकार दलित कहानियों की कथावस्तु को गैरदलित कहानियों से अलग करता है। ब्राह्मणवादी इतिहास और संस्कृति को अंबेडकरवादी चेतना से पुनर्विवेचित करने के लिए दलित कहानियाँ बाध्य करती हैं। सभ्यता, संस्कृति और परम्परा की समीक्षा दलित चेतना का अहम हिस्सा है। वेद, उपनिषद, स्मृतियाँ एवं अन्य धर्मशास्त्रों एवं पौराणिक गाथाओं में व्यक्त दलित विरोधी छवियों के तिलिस्म को दलित कहानियाँ बेनकाब करती हैं। दमन और वर्चस्व की परम्परा का नकार दलित कहानी की कथावस्तु की महत्वपूर्ण विशेषता है। भारत की सभ्यता एवं संस्कृति पर गर्व करने वालों को हिन्दू-व्यवस्था की बर्बरता-अमानवीयता से साक्षात्कार कराने में सम्पूर्ण दलित साहित्य की अहम भूमिका है। ऐसे में दलित कहानियाँ विषमतामूलक समाज को समतामूलक समाज में तब्दील करने के लिए उत्प्रेरित करती हैं और भारतीय इतिहास एवं संस्कृति पर पुनर्विचार के लिए बाध्य करती हैं।

दलित और गैर दलित जीवन में मौजूद पितृसत्तात्मकता को प्रश्नांकित करना दलित कहानी के कथ्य एवं संवेदना का अतिमहत्वपूर्ण पहलू है। दलित स्त्री लेखन में दलित समाज के अंतर्विरोधों का चित्रण दलित कहानी की विशिष्टता है। दलित कहानियों में जातियों-उपजातियों की मनोवृत्तियों, टकराहटों के संवेदनात्मक पहलुओं और दलित स्त्री के तिहरे शोषण को भी विषयवस्तु बनाया गया है। भेदभाव और उत्पीड़न का स्वानुभाव दलित कहानी के यथार्थबोध की अभिव्यक्ति है। स्वानुभूति और सहानुभूति का प्रश्न इसीलिए दलित साहित्य के केन्द्र में रहा है। कथावस्तु का चुनाव, घटना, चरित्र-चित्रण, देशकाल और सोद्देश्यता को दलित स्वानुभव प्रामाणिकता प्रदान करता है। दलित आत्मकथाओं के माध्यम से स्वानुभव के व्यापक दायरे को समझा जा सकता है। अर्थात् दलित साहित्य का स्वानुभव सामुदायिक अनुभव है जो असमानता, भेदभाव और

उत्पीड़ित समुदाय की संवेदना को सचेत और चेतनाशील बनाता है। इसीलिए दलित लेखन में विचारधारा का बहुत महत्व है। उपेक्षित होने की पीड़ा, अपमानित होने का दंश, उत्पीड़ित किए जाने की यातना और वंचना का क्रूर अनुभव दलित कहानी की विशिष्टता है। भेदभाव, अस्पृश्यता और जातिवादी-ब्राह्मणवादी क्रूरताओं के रेखांकन ने दलित कहानी का कलेवर ही बदल दिया है। अभावग्रस्तता और शोषण की बारीकी को दलित कहानीकारों ने बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है। डॉ. जय प्रकाश कर्दम की 'तलाश' कहानी एक ऐसी कहानी है जिसके दलित पात्र को एक ऐसे मकान की तलाश है जहाँ सहज सामान्य ढंग से रहा जा सके। कमलेश्वर के शब्दों में, "कहानी के नायक रामवीर सिंह को केवल किराये के मकान की तलाश नहीं है। उसे ऐसे घर की 'तलाश' है जहाँ अपनापन हो, ऐसे समाज की तलाश है—जहाँ जाति का विभेद न हो।"¹¹

शिक्षण-संस्थानों, सरकारी दफ्तरों एवं ग्रामीण जीवन की असलियत का रेखांकन दलित कहानी का वैशिष्ट्य है। मजदूरी और किसानों के जीवन की यथार्थता दलित कहानियों को बहुआयामी बनाता है। दलित जीवन-संदर्भ और लेखन में बाल शोषण का चित्रण और उसकी विश्वसनीयता दलित आत्मकथाओं से प्रमाणित होती है। इसीलिए दलित कहानी में यह वैशिष्ट्य अलग महत्व रखता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'रिहाई' में लाला का गोदाम वर्ण-व्यवस्था का कैदखाना है, जहाँ ज़िन्दगियों को रौंदा जाता है, मर्दित किया जाता है। सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था ने इंसानी ज़ख्मे को मटियामेट कर दिया है, लेकिन 'रिहाई' कहानी का छुटकू गोदाम में आग लगाकर अँधेरे में नई रोशनी का संचार करता है। विषमता का बीज बोने वाली संस्कृति हाशिए की अस्मिताओं को निरन्तर दरकिनार करती रही है। प्रतिभा और मेरिट का सवाल खड़ा करने वाले लोग आज भी संकीर्णता से बाहर नहीं आ पाए हैं। आरक्षण ने उनके दिलोदिमाग में जहर घोल दिया है। शिक्षण संस्थाएँ भी ऐसे संस्कार और सोच के लिए दोषी हैं। वहाँ भी विषमता के बीज मौजूद हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'घुसपैठिए' कहानी इसी रूप को उघाड़ती है। उक्त कहानी में सुभाष सोनकर की मौत शैक्षिक परिसर की गरिमा को झूठा साबित करती है—'दलित छात्रों का मेडिकल में आना डीन की दृष्टि में घुसपैठ थी।'¹² यह कहानी उन दलितों को भी कठघरे में खड़ा करती है जो आरक्षण के माध्यम से ऊँचे ओहदों पर पहुँच गए हैं, लेकिन उनका कोई सामाजिक सहयोग नहीं मिलता, कोई मार्गदर्शन नहीं मिलता। इस तरह की उदासीनता को यह दलित कहानी उजागर करती है।

मजदूर वर्ग के अन्तर्विरोधों को भी दलित कहानी में विशिष्ट स्थान मिला है। 'मजदूर यूनियन' के कर्मचारियों में जड़ जमाए जातिवादी संस्कारों को ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'प्रमोशन' में देखा जा सकता है जिसमें 'स्वीपर' से 'मजदूर' बन चुका सुरेश 'कॉमरेड' की उपाधि पाकर गदगद हो जाता है। कॉमरेड पांडे के इस सम्बोधन से सुरेश के भीतर घटियाँ बजने लगती हैं। वह बड़े उत्साह से धरना के बाद पंडाल खोलने और अन्य सेवाओं में व्यस्त हो जाता है। उसे लगता है कि अब वह स्वीपर नहीं रहा, लेकिन जब केमिकल प्लांट के कर्मचारी कॉमरेड सुरेश के हाथों दूध लेने से मना कर देते हैं तो पुनः वह स्वीपर बन कर रह जाता है। इस संदर्भ में सर्वे करना चाहिए कि वर्ण और वर्ग के द्वन्द्व क्या हैं? सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था की क्रूरता ने मनुष्य से मनुष्य के बीच इतना विभेद करके मानवीयता का मजाक उड़ाया है। एक ऐसी प्रथा जिसमें लाखों दलितों को सिर पर मानव का मल-मूत्र ढोने के लिए बाध्य किया जाए और उसे पेशेगत पहचान से जोड़ दिया जाए, फिर भी भारतीय सभ्यता-संस्कृति का गुणगान किया जाता रहे। इस परिप्रेक्ष्य में दलित कहानियाँ सम्पूर्ण समाज

को संवेदनशील और जवाबदेह बनाती हैं। इस पेशे से जुड़े हुए लोगों को यदि व्यापार के दूसरे कार्यों में लगाया जाता है तो वहाँ भी जातिगत भेद-भाव और अस्पृश्यता का व्यवहार किया जाता है। सफाई कर्मी यदि दूध का व्यापार शुरू करते हैं तो उनसे कोई दूध नहीं लेता है। इस तरह की विडम्बनात्मक स्थितियों के प्रति दलित कहानियाँ संवेदनशील बनाती हैं और आत्ममंथन के लिए विवश करती हैं।

सूरजपाल चौहान की कहानी 'परिवर्तन की बात' जातिगत पेशे के बंधन से मुक्त होने के लिए संघर्ष की कहानी है। रघु ठाकुर की मरी गाय को उठाने-हटाने की घटना ने चमारों और ठाकुरों के बीच संघर्ष की स्थिति पैदा कर दिया है। पुलिस-प्रशासन भी ठाकुरों के पक्ष में खड़ा है। परंतु बगल के ही गाँव मटनपुर में पेशेगत बंधन से मुक्ति के विद्रोह ने मुक्ति संघर्ष को और तेज कर दिया है। समकालीन प्रतिरोध और 'एसर्शन' की अनुगूँज इस कहानी में देखी जा सकती है। थानेदार से किसना कहता है—“क्या आप यही चाहते हैं कि हम जीवन भर गाँव के मरे जानवर की उठाते रहें। अब समय बदल रहा है, लोग अपना पुश्तैनी धंधा छोड़कर दूसरे कार्य करने लगे हैं। हम दूसरा अन्य कोई भी काम कर अपना पेट भर लेंगे, लेकिन मरा जानवर नहीं उठाएँगे।”¹³ यह कहानी तथाकथित सवर्ण समाज की दलितों के प्रति सोच, दृष्टिकोण और व्यवहार की बानगी पेश करती है, जहाँ दलितों के नाम बिगाड़कर अपमानजनक ढंग से पुकारने से लेकर, जातिगत गालियों और बात-बात पर लाठी तानने और मारने की धमकियों जैसी मनोवृत्तियों से भारतीय समाज अभी पूरी तरह से मुक्त नहीं हो सका है। इसलिए वर्ण और जाति संबंधी शोषण-उत्पीड़न के सवाल, दलित कहानी के प्राथमिक सवाल बने हुए हैं। कस्बाई और भारतीय संस्कृति में रहने वाले या बस गए दलितों की समस्या का स्वरूप भिन्न है जो बदला हुआ परिष्कृत रूप है। समय, स्थान और परिवेश बदलने से अपमान, घृणा, तिरस्कार और उत्पीड़न के रूप बदल गए हैं। पिछले वर्ष तमिलनाडु हाइकोर्ट के दलित न्यायाधीश को उन्हीं के सहकर्मी द्वारा काफी दिनों से लगातार जाति के आधार पर अपमानित किया जा रहा था जिसकी शिकायत कर सुप्रीम कोर्ट से हस्तक्षेप करने का आग्रह करना पड़ा। इससे अधिक शर्मनाक और विडम्बनापूर्ण स्थिति और क्या हो सकती है? ऐसी व्यवस्था में सामान्य दलित की स्थिति का अंदाजा लगाया जा सकता है। दलित कहानियाँ ऐसी मनोवृत्तियों के प्रति भी संवेदनशीलता पैदा करती हैं। दमन और अत्याचार के खिलाफ आवाज उठाने के लिए जागरूक और जवाबदेह भी बनाती हैं।

पिछले एक दशक में दलित कहानियों की कथावस्तु में बहुत विस्तार हुआ है। हिन्दी में पिछले तीन-चार दशकों से सक्रिय दलित कथाकारों की पीढ़ी की प्रतिबद्धता और सरोकारों को मजबूती प्रदान कर कहानी संवेदना को समृद्ध करने वाले नये कहानीकारों में डॉ. हेमलता महीश्वर, सुजाता पारमिता, डॉ. अजय नावरिया, डॉ. सुमित्र महरोल, कैलाश वानखेड़े, अनिता भारती, डॉ. रजनी दिसोदिया, सुशीला पवार, टेकचंद, राज वाल्मीकि, अमित कुमार, डॉ. सूरज बड़त्या, कैलाश चंद चौहान, डॉ. कौशल पंवार, डॉ. अजमेर सिंह 'काजल', डॉ. पूनम तूषामड, डॉ. राजेश कुमार, ब्रह्मानंद, दिलीप कठेरिया, अर्जुन सावेदिया आदि का नाम लिया जा सकता है जो दलित कहानी की संवेदना और सरोकारों के विषय और तेवर को नया स्वर और नवीन अर्थ देकर व्यापकता प्रदान कर रहे हैं। इनमें से खासकर अमित कुमार की 'खाली कुर्सी' और 'रे नटवा' कहानी नट समाज और अन्य घुमंतू जातियों की अभिव्यक्ति और उनकी वेदना को स्वर देकर उनके अधिकारों के प्रति संवेदनशील बनाती है तथा अपनेपन का बोध कराती है। 'पहली धुन' एक बैंड मास्टर पर केन्द्रित कहानी है। सुजाता पारमिता की 'अलादिन का चिराग',

‘विक्रमादित्य का सिंहासन’ और ‘आवारा कुलों का शहर’ कहानियाँ दलित साहित्य लेखन में व्यंग्य लेखन की कहानियाँ हैं। इन कहानियों को दलित साहित्य की उपलब्धि के रूप में देखा जाना चाहिए। डॉ. हेमलता महीश्वर की ‘राग की रागी रागिनी’, ‘एक और खाप पंचायत’ डॉ. सुमित्र महरोल की ‘आघात’, ‘हिकारत’ और ‘त्रिशंकु’, अनिता भारती की ‘एक थी कोटे वाली’, ‘नयी धार’, ‘सीधा प्रसारण’ और ‘तीसरी कसम’, रजनी दिसोदिया की ‘मीटिंग’, ‘चारपाई’, और ‘एक साहित्यिक की डायरी’, रजनी तिलक की ‘राजो’ और ‘वुमेन सेल’, टेकचंद की ‘खस्सी’, ‘दौड़’, अजय नावरिया की ‘एस धम्म सनन्तनों’, ‘पटकथा’, ‘यस सर’ और ‘इज्जत’, कैलाश वानखेड़े की कितने बुश कितने मनु’, ‘सत्यापित’, ‘तुम लोग’ और ‘उसका आना’, राज वाल्मीकि की ‘क्रांति’ और ‘इस समय में’, डॉ. सूरज बड़त्या की ‘गुज्जी’, कैलाश चंद चौहान की ‘बंजर जमीन’, ‘एक मेरा भी घर हो’ और ‘संजीव का ढाबा’, डॉ. कौशल पंचार की ‘दिहाड़ी’, ‘जोहड़ी’ और ‘लच्छो’, डॉ. अजमेर सिंह काजल की ‘आरक्षण’, ‘करुणा’, ‘हम सब एक हैं’ और ‘गणतंत्र के नायक’, डॉ. पूनम तुषामड़ की ‘गंगा’, ‘ऊपर की कमाई’, ‘शकुंतला अम्मा’ के अलावा ‘शबाना का शव’ और ‘कारगिल’ दलित स्त्री लेखन के विस्तार की कहानियाँ हैं। डॉ. राजेश कुमार की ‘क्या आपने बरी कर दिया है’, ब्रह्मानंद की ‘संकल्प’ और ‘कलम की ताकत’, दिलीप कठेरिया की ‘दरारें’ तथा अर्जुन सावेदिया की ‘सड़ांध’ जैसी कहानियाँ दलित साहित्य को नया परिप्रेक्ष्य देती हैं। डॉ. सुनील कुमार ‘सुमन’ और केदार प्रसाद मीणा की कहानियाँ दलित-आदिवासी आन्दोलन के विस्तार की कहानियाँ हैं। दलित कहानी लेखन में दलित स्त्रियों की भागीदारी दलित कहानी के सरोकारों को वृहत्तर मायने देती है। यह दलित कहानी के विकास की कहानियाँ हैं। इस अर्थ में अंबेडकरवादी वैचारिकी के विकास को समझा जा सकता है।

दलित कहानियों का संपूर्ण ढाँचा दलित जीवन के आचार-विचार, व्यवहार-संस्कार, रहन-सहन, भाषा-बोली और आस-पास के सामाजिक-आर्थिक संबंधों से निर्मित होता है। दलित पात्र जिस तरह के वर्चस्व, शोषण और दमन के माहौल में पलता और बढ़ता है उसकी भाषा भी उसी परिवेश की होती है। दलित कहानियों की भाषा एवं शिल्प घटना एवं पात्रों के अनुकूल है। उसका अनगढ़पन ही उसकी विश्वसनीयता और प्रामाणिकता का आधार है जो लेखक के स्वानुभव से आया है। सहज, सामान्य मुहावरे दलित कहानी में विशिष्ट अर्थ पाते हैं जो पात्र एवं घटना की जीवंतता को कालजयी बनाते हैं। आत्मकथात्मक शैली में लिखी गई कहानियाँ दलित लेखन की अनूठी विशेषता है। दलित जीवन का परिवेशगत यथार्थ चित्रण कहानी की संवेदनशीलता के अर्थ को खोलता है और शिल्प को नवीन स्वरूप प्रदान करता है। दलित कहानी रिरियाहट, याचना एवं निरीहता को पूरी तौर पर नकारती है। यहाँ वेदना का आक्रोश में रूपांतरण है। धर्म और संस्कृति की पवित्रता को चिन्हित कर नैतिकता और आदर्श के मानदंडों को दलित कहानी तोड़ती है। नए मानदंड और सौन्दर्य बोध का सृजन दलित कहानी के साहित्यिक सरोकार हैं। घृणा और हिंसा के स्थान पर समता, करुणा और भ्रातृत्व का भाव दलित कहानी के सामाजिक-सांस्कृतिक सरोकार हैं। यही दलित कहानी की वैचारिक प्रतिबद्धता भी है। वर्ण-जाति आधारित व्यवस्था का पूर्णतः खात्मा और ईश्वर का नकार दलित कहानी का मुख्य उद्देश्य है। व्यवस्था के क्रूरतम चेहरे को बेनकाब कर नियतिवाद से मुक्त करना दलित कहानी की जिम्मेदारी है।

दलित कहानियों में आमूल परिवर्तन की तीव्र आकांक्षा विद्यमान है। उन कहानियों में भविष्योन्मुखी स्वप्न, एक दृष्टि और एक विकल्प दिखाई देता है—समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व का। बाबा साहेब का नारा—‘शिक्षित बनो! संगठित हो, संघर्ष करो!’ दलित कहानियों में साकार

होता हुआ दिखाई देता है। दलित चेतना का विकास और परिवर्तनवादी स्वर दलित कहानी की मूल प्रवृत्ति है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'यह अंत नहीं' ग्रामीण दलित स्त्री चेतना की प्रामाणिक कहानी है जो कुदृष्टि रखने वाले पर साहसिक ढंग से पुरजोर वार करती है और दुश्मन की बेहयाई को कायरता में तब्दील कर देती है। लेखक बड़ी तलखी से पंचायती राज-व्यवस्था की निरर्थकता और उसके दुरुपयोग को महसूस करता है। गांव का बिसन दलित है, लेकिन वह झगड़ों और सामंतों का मोहरा बनकर रह गया है। ऐसे में दलित स्त्री बिरमा को न्याय की आशा व्यर्थ दिखती है। परंतु बिरमा की मुखरता ने सभी में आशा का संचार कर दिया था, सभी ने मिलकर कहा था, "ना बिरमा...यह अंत नहीं है...तुमने हमें ताकत दी है। हार को जीत में बदलेंगे, लोगों में विश्वास जगाकर, ताकि फिर कोई बिसन मोहरा ना बने।"¹⁴ दलित कहानीकार ओमप्रकाश वाल्मीकि सामाजिक व्यवस्था के प्रति इतने चौकस हैं कि सिस्टम के हर धागे को उधेड़कर उसकी असलियत से परिचय कराते चलते हैं। डॉ. अंबेडकर ने गाँवों को भारतीय गणतंत्र की अवधारणा का शत्रु माना था। उनके अनुसार हिन्दुओं की ब्राह्मणवादी और पूँजीवादी व्यवस्था का जन्म भारतीय गाँव में ही होता है। डॉ. अंबेडकर का मानना था कि भारतीय गाँव हिन्दू-व्यवस्था के कारखाने हैं। उनमें ब्राह्मणवाद, सामंतवाद और पूँजीवाद की साक्षात् अवस्थाएँ देखी जा सकती हैं, उनमें स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व के लिए कोई स्थान नहीं है।

श्यामराज सिंह 'बेचैन' की 'रावण' कहानी भारतीय गाँव के यथार्थ और हिन्दू-व्यवस्था में मौजूद ब्राह्मणवादी-जातिवादी चेहरे को बेनकाब करती है। वर्चस्व और शोषण के कारण तथाकथित शूद्र वर्णों के दिलोदिमाग में बैठा दी गई ब्राह्मणवादी-जातिवादी सोच को भी यह कहानी उजागर करती है। उस गाँव के तथाकथित चारों वर्णों की जातियों की बँटी हुई मानसिकता का चित्रण 'रावण' कहानी में मिलता है। अछूतों या चमारों के प्रति गैर दलितों के मन में क्या भाव हैं, उनमें कितना बदलाव आ सका है? मूल सिंह का पूरा परिवार गाँव से पलायन के लिए क्यों बाध्य होता है? 'रावण' कहानी इस तरह के मार्मिक और पीड़ादायी पहलुओं को चित्रित करती है। ऐसे हालात के मूल कारणों की भी यह कहानी शिनाख्त करती है। इस कहानी की कुछ खास विशेषताएँ हैं जो अन्य दलित कहानियों से भिन्न है। पहला, रावण जैसे मिथकीय पात्र का कहानी में सटीक, सार्थक, सामयिक एवं प्रामाणिक उपयोग। दूसरा, आर्य समाजियों का छद्म। तीसरा, गाँधी और पूना-पैक्ट और चौथा, समकालीन दलित राजनीति का भान और इससे उम्मीदें। इस तरह दलित कहानियों में बदलते हुए इतिहासबोध और संस्कृति का विकास क्रम देखा जा सकता है। दलित कविताओं में यह इतिहासबोध और भी गाढ़े रूप में प्रस्तुत हुआ है। दलित साहित्य में मिथकों और मिथकीय चरित्रों का वही उपयोग नहीं है जो परम्परागत और प्रगतिशील साहित्य में है। 'रावण' कहानी में रामलीला कमेटी के मेम्बर जीतराम के आग्रह पर मूल सिंह गाँव की रामलीला में रावण का पाठ खेलने के लिए दिल्ली से अपने गाँव आता है। गाँव में जड़ जमाए जातिगत भेदभाव और ऊँच-नीच की अमानवीयता से आंतकित मूल सिंह के पिताजी छोरी लाल अपने बेटे को गाँव की रामलीला में भाग लेने से मना करते हैं। फिर भी डर और भय से आशंकित मूल सिंह रामलीला में रावण की भूमिका के लिए तैयार हो जाता है। रावण की भूमिका में मूल सिंह जैसे ही स्टेज पर पहुँचता है जैसे ही राम-रावण सेना के सभी पात्रों में वर्चस्व-जाति और ब्राह्मणवाद का बीज अंकुरित हो जाता है और स्टेज पर ही सभी दर्शकों के सामने राम-रावण युद्ध लीला की जगह हिन्दू-व्यवस्था की जड़ता का क्रूर ताड़व शुरू हो जाता है। परदे के पीछे मूल सिंह अधमरा पाया जाता है। इस

घटना के बाद मूल सिंह का पूरा परिवार गाँव से पलायन के लिए बाध्य हो जाता है। डॉ. बेचैन की 'रावण' कहानी गाँव के अलोकतांत्रिक ढांचे और पंचायती राजव्यवस्था की पोल खोलती है। डॉ. प्रेमशंकर की कहानी 'बित्ते भर जमीन' भी भारतीय गाँव की हकीकत बयाँ करती है।

दलित कहानियाँ जातिबोध के आभ्यन्तरीकरण पर विमर्श का परिवेश रचती हैं। यह दलित कहानी का महत्वपूर्ण वैशिष्ट्य है जो दलित लेखकों की जवाबदेही तय करता है और दलित कहानी के सामाजिक-सांस्कृतिक सरोकारों को मजबूती प्रदान करता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की वैचारिक परिपक्वता का सबूत 'शव यात्रा' कहानी में मिलता है; जब बड़े साहस के साथ दलितों के भीतर के अन्तर्विरोध और अंबेडकरवादी संगठनों के ढोंग को लेखक बेनकाब करता है। दलित कहानी की वैचारिकी उसकी अमूल्य निधि है। दलित कहानीकारों की वैचारिक प्रतिबद्धता और दलित चेतना का प्रसार दलित साहित्य की धरोहर है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'मुम्बई कांड' में वैचारिक प्रतिबद्धता साकार होती है। कहानीकार सजग और सचेतन रूप से प्रतिशोध एवं प्रतिरोध की बारीकियों को स्पष्ट करता है। कहानी का पात्र सुमेर मुंबई कांड के प्रतिक्रिया स्वरूप जूते की माला लेकर उठ खड़ा होता है, लेकिन कदम बढ़ाते ही उसके मस्तिष्क में विचार कौंधता है, "अरे! मैं यह क्या कर रहा हूँ। मुंबई में किसी ने मेरे विश्वास पर चोट की और मैं यहाँ किसी की आस्था पर चोट करने जा रहा हूँ। कुछ गाँधी को 'बापू' कहते हैं और कुछ अम्बेडकर को 'बाबा'; वहाँ 'बाबा' कहने वाले मारे गए, यहाँ बापू वाले मारे जा सकते हैं। 'बाबा' कहने वालों पर भी गाज गिर सकती है। जो भी हो मारे तो निर्दोष ही जाएँगे... नहीं... यह रास्ता न बुद्ध का है और न ही अंबेडकर का।"¹⁵

दलित कहानियाँ हिन्दू-व्यवस्था की जमीनी हकीकत की बानगी प्रस्तुत करती हैं। दलित कहानियों की भाषा और स्तरीयता पर प्रश्नचिन्ह लगाने वाले वर्ग को पुनर्विचार और आत्मालोचन करना चाहिए। दलित कहानी के सरोकारों को, उसकी ऐतिहासिकता और मानवीय पक्षों को जाने बगैर दलित कहानी के संवाद, भाषा-शैली और उद्देश्यों को नहीं समझा जा सकता। वह कहानी ही क्या जो अंतस को हिलाकर न रख दे। आत्म-सम्मान, गरिमा और अधिकार के संघर्ष को साकार करतीं दलित कहानियाँ मनुष्यता का नया पाठ पढ़ाती हैं जिसे वर्ण-जाति आधारित व्यवस्था ने नीचे धकेल दिया था। दलित कहानी यथास्थितिवाद को तोड़ती है और अंबेडकरवादी विचारधारा के आधार पर चेतनाशील समाज की निर्मिति कर समतावादी अखंड भारत का विकल्प प्रस्तुत करती है। भारत सरकार के गृह मंत्रालय के 'राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो' 2011 के मुताबिक जिस भारत में प्रत्येक दिन 27 जातिगत अत्याचार, प्रत्येक सप्ताह 13 दलितों की हत्या, प्रत्येक सप्ताह 5 दलित घरों का जलाया जाना, प्रत्येक सप्ताह 6 दलितों का अपहरण, प्रत्येक दिन 5 दलित महिलाओं का बलात्कार, प्रत्येक दिन 11 दलितों की पिटाई, प्रत्येक 18वें मिनट दलितों के साथ अत्याचार होता है। फिर भी दलित साहित्य की अम्बेडकरवादी वैचारिकी और चेतना ने अहिंसापरक समतावादी लेखन को ही माध्यम बनाया है। इस संदर्भ में सभी भारतवासियों और बौद्धिकों को चिंतन और आत्ममंथन करने की जरूरत है।

दलित कहानियों ने अपनी विशिष्टता और सरोकारों से सिद्ध किया है कि परंपरागत साहित्य लेखन से वे किस प्रकार भिन्न हैं-कथावस्तु और विशिष्टता दोनों ही स्तरों पर। दलित कहानी का दायरा बहुत विस्तृत है जैसे-समाज के हर वर्ग की उपस्थिति, धर्म से जिरह, साम्प्रदायिकता और वर्ण-व्यवस्था का अंतःसंबंध, शिक्षण संस्थानों में दलितों के प्रति सोच और उनके प्रति व्यवहार, ब्राह्मणवादी मूल्यों का नकार, पितृसत्तात्मक व्यवस्था में दलित और गैर दलित स्त्री की स्थिति, शहरी और ग्रामीण जीवन का द्वन्द्व, जाति-उपजाति का द्वन्द्व, इतिहास

एवं संस्कृति की पुनर्व्याख्या, यातना की अभिव्यक्ति, कर्मकांड और ईश्वर का नकार आदि। इतिहास का पुनर्पाठ और पुनर्लेखन की आवश्यकता पर दलित लेखन सजग है। हजारों साल से पीढ़ी दर पीढ़ी झेलते हुए यातना एवं पीड़ामयी व्यवस्था को उखाड़ फेंकने की प्रतिबद्धता दलित कहानी की कथावस्तु, विशिष्टता और सरोकारों में रूपांतरित होती है। वर्चस्व और विषमतापरक व्यवस्था को बराबरी और भाईचारे में तब्दील करने का सपना दिखातीं दलित कहानियाँ सरोकारों को सुस्पष्ट करती हैं। घृणा और हिंसा को करुणा एवं अहिंसा में रूपांतरित करने की आकांक्षा दलित कहानी का महत्वपूर्ण पहलू है। दलित साहित्य की वैचारिकी को समझे बगैर दलित कहानी की संवेदना को नहीं समझा जा सकता। फुले-अंबेडकर के लेखन, आंदोलन एवं संघर्ष की सच्चाई और अर्थवत्ता से जुड़े बगैर दलित कहानी के मर्म को समझना मुश्किल है। दलित कहानियाँ दलित आंदोलन के लंबे इतिहास की देन हैं। हिन्दी दलित कहानी की संवेदना और सरोकार सामाजिक परिवर्तन की माँग पर आधारित हैं।

दलित कहानियों के बहुविध विषयों को किसी बने बनाये ढाँचे, मानदंड या कसौटियों पर नहीं परखा जा सकता। दलित कहानियों के कथ्य और उद्देश्य भारतीय समाज की असलियत की पर्तों को खोलते हैं, दलित चेतना को व्यापकता देते हैं तथा सही मायनों में साहित्य की संवेदना और सरोकारों से जोड़ते हैं। दलित कहानियाँ परिवर्तनकामी स्वरो के साथ समतापरक अखंड भारत की आकांक्षा का मार्ग प्रशस्त करती हैं। यह समाज को जोड़ने की आकांक्षा की कहानियाँ हैं। बस जरूरत है गहरे आत्मबोध एवं संवेदनशीलता के साथ उन आवाजों को सुनने, पढ़ने और मनन करने की तथा बदलाव के लिए सार्थक पहल की।

संदर्भ

1. अब्दुल बिस्मिल्लाह, कहानी से पहले की कहानी, वर्तमान साहित्य, शताब्दी कथा साहित्य, विशेषांक जनवरी-फरवरी 2000 पृ. 9
2. ओमप्रकाश वाल्मीकि, सलाम (कहानी संग्रह), राधाकृष्ण प्रकाशन, 2004, नई दिल्ली, पृ.13
3. मोहनदास नैमिशराय, आवाजें (कहानी संग्रह), समता प्रकाशन, 1998, दिल्ली, पृ. 141
4. ओमप्रकाश वाल्मीकि, सलाम, वही, पृ. 101
5. वही, पृ. 102
6. जयप्रकाश कर्दम, तलाश (कहानी संग्रह), विक्रम प्रकाशन, 2005, दिल्ली, पृ 73
7. वही, पृ. 45
8. मोहनदास नैमिशराय, आवाजें, वही, पृ. 24
9. सुशीला टाकभौरे, संघर्ष (कहानी संग्रह), शरद प्रकाशन, 2006, नागपुर, पृ. 49
10. वही, पृ. 49
11. जय प्रकाश कर्दम, तलाश (कहानी संग्रह) की भूमिका से, पृ. 15
12. ओम प्रकाश वाल्मीकि, घुसपैठिये (कहानी संग्रह), राधाकृष्ण प्रकाशन, 2003, नई दिल्ली, पृ.18
13. सूरजपाल चौहान, हैरी कब आएगा? (कहानी संग्रह), सम्यक् प्रकाशन, 2003, नई दिल्ली, पृ.21
14. ओम प्रकाश वाल्मीकि, घुसपैठिये, वही, पृ. 29
15. वही, पृ. 34

मल्लू मठफोड़वा

राकेश रंजन

प्रवेश

मेरी जिन्दगी में ऐसा कुछ नहीं, मल्ली, जो तुम्हें अद्भुत या असाधारण लगे। फिर भी यदि तुम इसके बारे में जानना चाहती हो, तो मैं जरूर बताऊँगा। मैं जानता हूँ कि मुझमें तुम्हारी यह दिलचस्पी, यह जिज्ञासा, मेरे प्रति तुम्हारे प्यार के कारण है, जो मेरे लिए एक बड़ी चीज है और उसकी अवहेलना मैं नहीं करूँगा, कर नहीं सकता।

एक फूल के होने में कितनी चीजों का होना होता है, मल्ली! हवा, पानी, धूप, मिट्टी, बीज, रंग, खुशबू, भौरे, तितलियाँ, ओस, बवंडर... और कितनी ऐसी चीजें, जिन्हें हम देख नहीं पाते, जान नहीं पाते, समझ नहीं पाते! एक फूल अपने आप में क्या है? इन चीजों का जोड़ ही तो है!

इसी तरह, मल्ली! मेरी जिन्दगी में अपना कुछ भी नहीं। यह कई जिंदगियों के जोड़ से बनी है। उनके साहचर्य में मैंने जो देखा, भोगा, महसूस किया, बल्कि जो सुना भी, उन सबके ताने-बाने में बुनी है। मेरी कहानी में कई कहानियाँ शामिल हैं, मल्ली! बल्कि उन सभी कहानियों को मिला दो, तो मेरी कहानी बनती है।

मैं तुमसे पक्के तौर पर नहीं कह सकता, कि जो कहूँगा, कितना कह पाऊँगा, उसमें कोई सिलसिला होगा भी या नहीं, उसे कोई मुकाम दे भी पाऊँगा या नहीं। पर तुम्हारे लिए मैं कोशिश करूँगा कि वह छोटी-सी कहानी कह सकूँ—एक आधी-अधूरी जिन्दगी की छोटी-सी कहानी—जो मासूमियत और गिलाजत के दोनों किनारों के बीच से होकर बहती है और जिसकी धार में सच और सपने सब मिले हुए हैं...

एक

सन् तिरासी के बैसाख की एक चिलकती दोपहर में, जबकि हर तरफ एक उदासी, एक उचाट कर देनेवाली वीरानी और धूल फैली हुई थी, माँ ने मुझे ननिहाल भेज दिया।

माँ की गोद में उसकी चौथी संतान—और मेरी दूसरी बहन आ गई थी और उस नवजात के उचित पोषण के लिए जरूरी हो गया था कि माँ की गोद और गृहस्थी का भार तत्काल कुछ कम हो।

भैया बारह साल के थे। वे समझदार हो रहे थे और घर का कुछ सौदा-सुलुफ भी करने

लगे थे, इसलिए उन्हें भेजना ठीक नहीं था। मुझे छोटी बहन महज चार साल की थी, जिसके बारे में परिवार की आम राय थी कि माँ के बगैर वह नहीं रह पाएगी, बहुत रोएगी, सो उसे भेजना तो कतई ठीक नहीं था। बचा मैं, जिससे माँ के तंग होने की संभावना सबसे अधिक लग रही थी और जिससे किसी प्रकार के सहयोग की भी कोई आशा नहीं की जा रही थी, सो मुझे जाना पड़ा। मामा आए और मुझे ले गए। रास्ते भर मेरा कलेजा हहरता रहा, आत्मा विलपती रही। कसाई के ठीके की ओर जाते बेबस मेमने को जैसा अनुभव होता होगा, वैसा ही अनुभव मुझे हो रहा था।

आज सोचता हूँ तो लगता है, लगभग तीस मील की मेरी वह पहली पैदल यात्रा किसी ऐतिहासिक 'लौंग मार्च' से कम त्रासद नहीं थी।

मैं नौ साल का था।

दो

हरदासपुर—मेरा ननिहाल-गाँव!

गंगा से आध मील उत्तर, समस्तीपुर जिले का एक ठेठ दियारा क्षेत्र! मिट्टी और फूस की बनी-अधबनी पचास से भी कम झोपड़ियों, तीन सौ से भी कम आबादी और चारों तरफ दूर-दूर तक फैले रेतीले भूखंडोंवाला विपन्न, एक अवसन्नकारी गाँव!

गाँव से सटे दक्षिण में एक बाँध। उसके बाद गंगा तक बेहिसाब छाए हुए झाऊ के काँटेदार जंगल—साँपों-सियारों का अभयवन भयानक! फिर गंगा—शांत और श्लथ—निर्जन एकांत में थक-हारकर सोई हो जैसे। गंगा-पार रेत, और रेत, सिर्फ रेत। रेत पर चमकती, आँखों को चौंधियाती हुई धूप—एक असह चिलचिलाहट, एक हिलता हुआ शून्य और सन्नाटा अटूट—रहस्यमय विस्तारों में खोई हुई मेरे लिए दारुण एक दुनिया अनजान, वीरान!

नानी मुझे डराती थी—रेती में मत जाना, सिरकटवे रहते हैं! बाँध पर मत खेलना, लड़िकधरवे घूमते हैं! झुआ में मत घुसना, उसमें राकस हैं, पिचास हैं! गंगा में मत उतरना, पनडुब्बे पकड़ लेंगे!

नानी डराती थी और मामा डाँटते थे। हालाँकि वे मेरी सुरक्षा और पढ़ाई-लिखाई को लेकर बेहद सतर्क थे, इसीलिए ऐसा करते थे, पर उस समय यह बात मेरी समझ से बाहर थी। मुझे घर की बहुत याद आती थी। माँ, पिता, बाबा, दादी, भैया, बहन और वह नवजात बहन, जिसका मुँह भी मैं ठीक से देख नहीं सका था और लाख कोशिशों के बाद भी जिसका चेहरा याद नहीं कर पाता था और जिसका नाम तक नहीं जानता था—उन सबको याद कर-करके अकेले में सबसे छुप-छुपके मैं रोता रहता था।

रेत में तड़पती, बेआवाज दम तोड़ती किसी मछली का दर्द क्या होता है, यह खुद वही जानती है या खुदा ही जानता है!

हरदासपुर मुझे ऐसा लगता था, जैसे वह गाँव नहीं, अछोर कोई मरुस्थल हो और मैं नहीं, तकलीफ के अंधकूप में बेसहारा डूबती कोई बेजरूरत-सी जिन्दगी, जिसके उबरने की अब कोई आस, कोई सूरत नहीं।

ये वे दिन थे, जिन्होंने मेरी पूरी शख्सियत और जिन्दगी की बुनियाद रखी।

वहाँ मेरा नामांकन बाँध पर स्थित एक भग्न और भुतहे-से मिडिल स्कूल में हुआ, जिसकी डरावनी छवि ने मेरे डरे दिल को और भी डरा दिया। उसकी सारी खिड़कियाँ गायब थीं, दीवारें

जहाँ-तहाँ से धसकने लगी थीं, छत का पलस्तर टूट-टूटकर गिरता था, ब्लैकबोर्ड पूरी तरह जर्जर होकर अध्यापन-कार्य के अयोग्य हो चुके थे, कुर्सियाँ बैठने के लिए महफूज नहीं रह गई थीं और अध्यापक पढ़ाते कम, पीटते ज्यादा थे। मेरा नामांकन हुआ पाँचवें क्लास में। चौथे तक की पढ़ाई मैं अपने मुहल्ले के मदरसे में कर आया था।

स्कूल के लिए स्लेट, खड़िया और बोरिया लेकर मैं निकलता था। कपड़े खुद ही पहनता था, इसलिए कमीज के बटन अक्सरहा गलत काजों में लगे होते थे। मेरे पास जूते नहीं थे, चप्पलें भी नहीं। गरमी के उन दिनों में स्कूल आते-जाते धूप मुझे झुलसाती रहती थी और मैं निश्छत्र छटपटाता रहता था। मेरे पैरों-तले जमीन अंगारों-सी दहकती रहती थी। रास्ते में कोई झोपड़ी तक नहीं थी, ऐसा कोई पेड़ तक नहीं था, जिसकी छाया में क्षणभर मैं शरण पा सकता। बाँध पर सिर्फ सेमल का एक पेड़ था, एकदम पत्रहीन और छायाहीन, जिसके कंटक-तन से सटकर मैं माँ को बहुत याद करता था। उसका प्यार-दुलार, उसका वाल्सल्य, उसका संरक्षण, उसका गमकता हुआ गर्म, नर्म आँचल, उसके गीत...! मैं व्यथा से फटने लगता था और काँपते हाथों से स्लेट पर लिखता था— “माँ”, और उसे हृदय से लगाए रखता— “मैं तुम्हें याद नहीं आता, माँ?”

फिर गरमी की छुट्टियाँ शुरू हुईं। स्कूल बंद हो गया। इससे शरीर को तो कुछ राहत मिली, पर वक्त बिताना और दूभर हो गया। दिन पहाड़ हो गए—मरे हुए, गूँगे, धधकते पहाड़ और रातें अंधकार का वे सैलाब हो गईं, जिनके काले आगोश में दुनिया के सारे नजारे और किश्तियाँ डूब गई हों! फिर बरसात आई और आँखों के आगे से अक्सर दिन के दृश्य भी गायब होने लगे। कुछ भी सूझता नहीं था—न रंग, न रोशनी, न तारे, न आसमान! जिन आँखों में अमावस बसा हो, उनमें चाँद कहाँ से झलमलाता?

तीन

मगर वहाँ बाग भी थे। बागों में फूल भी खिलते थे। फूलों पर तितलियाँ भी मँडराती थीं, भौरें भी गुंजार करते थे। पेड़ों पर मीठे फल भी लगते थे, चिड़ियाँ भी चहचहाती थीं। वहाँ दूध भरी खिरनियाँ भी थीं, मीठे शहतूत भी, झड़बेरियों की झाड़ियाँ भी, खटमिट्टी मकोइयाँ भी। आसमान में इंद्रधनुष भी बनते थे, तारे भी टिमटिमाते थे, आँखों में चाँद भी झलमलाता था। यह मैंने तब जाना, जब मेरी दोस्ती फुल्ला से हुई।

वह मेरे ही क्लास में थी, पर उससे मेरा परिचय काफी देर से हुआ—मेरे दाखिले के लगभग चार माह बाद, शरदारंभ में, जबकि आकाश बिलकुल नील-निर्मल हो गया था, धूप रजत के पारदर्शी समुद्र-सी दमकने लगी थी, काँस के सफेद फूलों की आभा से भूमि के ओर-छोर आभासित हो उठे थे और जलभरे गड्डों-जलाशयों के गिर्द बगुलों के खामोश झुंड उतर आए थे।

इतना उजास क्या उसके हास के निश्छल जादू से फैला था?

“यहाँ से पूरब में, झउआ के पार, बहुत सारे बाग हैं।” उसने बताया— “आम के बाग और लीची के. . . बँसबाड़ी, सिसबन्नी, अमधुरबन्नी—सबकुछ है उधर।” पूछा— “तुमने खरहा देखा है?”

“न!”

“और साही?”

“उहँ!”

“खिक्खर?”
 “वह भी नहीं!”
 “नेउर? घोड़परास? कुछ भी नहीं?”
 “नहीं!” व्यग्रता से कहा मैंने, पूछा— “तुम गई हो उधर?”
 “हम तो रोज ही जाते हैं।” उसके स्वर में एक सहज प्रफुल्लता थी— “हमारे बाबूजी जाते हैं भोर में, गाय चराने। उनके साथ हम भी जाते हैं भुल्ली को लेकर।”
 “भुल्ली कौन?”
 “बकरी हमारी। तुम क्या समझे?”
 “कुछ नहीं। बहुत दूर है यहाँ से?”
 “नहीं।” सहज निश्चित भाव से बोली वह, फिर जैसे उसके स्वर में एक चहक भर गई—
 “सुबह-साँझ गौर से सुनना, वहाँ की चहचहाहट यहाँ तक सुनाई पड़ती है।”
 “मुझे भी ले चलोगी?” मेरे स्वर में याचना थी और कलेजे को मथ रही थी एक उत्कट बेचैनी।
 “ठीक है, कल चलना!”
 “भोर में?”
 “हाँ। जिस समय मुरगे बाँग देते हैं, हमारे घर आना!”
 “और तुम्हारे बाबूजी. . .?”
 “उनसे भी मिल लेना! वो जानते हैं तुम्हें, बड़ी तारीफ करते हैं, कहते हैं— मथुरा बाबा का नाती बड़ा शांत है! ऐसे रहता है जैसे महोख!”
 “अच्छा?”
 “हाँ तो! और हमें क्या कहते हैं, जानते हो? कहते हैं— फुल्ला! तू फुल्ला नहीं, फुलसुँघनी है! दिन भर फुरफुराती फिरती है!”
 वह हँसी खिलखिलाकर।
 मैं भी हँसा।
 हरदासपुर में मेरे हँसने की यह पहली घटना थी। मन में जो एक सवाल अभी-अभी उभरा था कि महोख क्या होता है, वह फिलहाल हमारी हँसी की तरंग में बह गया।

चार

योजनानुसार भोर में उसके घर पहुँचा। मुरगे बोल चुके थे। पौ फटने को थी।
 उसके पिता सुरनाथ सिंह मेरे नाना को बड़ा मान देते थे, उनसे पढ़ चुके थे। मेरे नाना राजकीय मध्य विद्यालय में संस्कृत-शिक्षक थे और इधर कई बरसों से घर से काफी दूर, जिले के बिलकुल दूसरे छोर पर पोस्टेड थे और वहीं रहते थे। सिर्फ लंबी छुट्टियों में आते थे। उनमें पांडित्य का तेज था और उससे अधिक उदारता की तरलता। उन्हें मूल्यों से लगाव था और उससे अधिक मनुष्यों से प्यार। उन्हें पूरी गीता कंठस्थ थी, जिसका वे सुबह-शाम पाठ करते थे, धीरे-धीरे, इस तरह कि किसी के काम में कोई बाधा न हो। गीता उन्हें कंठस्थ ही नहीं, आत्मस्थ भी थी। उनका एक स्नेह-स्पर्श मेरे अनेक तापों को हर लेता था, मेरी आत्मा को स्निग्ध कर देता था। पर दुर्भाग्य से, उनका सान्निध्य मुझे बहुत कम प्राप्त हुआ।
 सुरनाथ सिंह मवेशियों के ऊपर ओढ़ाए हुए कंधे, जो बोरियों और फटे-पुराने कपड़ों

को सीकर बनाए गए थे, ठीक कर रहे थे। मवेशी कितने—एक गाय, एक बकरी और एक जोड़ा बैल। वे मेरे पास आए और बोले— “ऐसे तो तुम्हें ठंड लगेगी!” उन्होंने अपनी चादर मेरे तन से लपेटकर बाँध दी— “अब ठीक है! गुरुबर का नाती, बाँध लिया गाँती!”

फुल्ला पास ही बैठी थी। बकरी को अँगोछा बाँध रही थी। उससे बोले— “इसे अपनी चप्पल दे दे! तू दूसरी पहन ले!”

फुल्ला ने ऐसा ही किया।

बैलों को सानी-पानी देकर, बारी-बारी से उन्हें गले लगाकर सूँघकर, उनकी पीठ थपथपाकर, उन्होंने गाय खोली और जैसे अनायास, स्वतःस्फूर्त ढंग से उनके मुख से निकला— “हे प्रभो!”

फिर हम निकल चले। हम यानी हम पाँच। भोर की निस्तब्धता में हर तरफ मवेशियों की घटियों की टुनटुनाहट गूँज रही थी। पौ फट रही थी।

लगभग मील भर चलने के बाद बाग आए—आम-लीची के बाग। बाग क्या थे, साक्षात् स्वप्न थे—हरे-भरे स्वप्न! सुरनाथ सिंह गाय लेकर बागों के पार चले गए, जिधर खुला मैदान था, हरी घास-भूमि थी। मैं और फुल्ला बागों में घूमने लगे। अद्भुत थे वहाँ के दृश्य, मेरे लिए अब तक अनदेखे! हर तरफ धुली घनी हरियाली और रंग-बिरंगे फूल! पेड़ों में फूल और पौधों में फूल, झाड़ों में फूल और घासों में फूल!

“अरे! घासों में फूल?” मैं विस्मित था।

“हाँ! घासों में फूल. . . और काँटों में फूल!” फुल्ला ने जिधर इशारा किया, उधर सचमुच काँटों में पीले-पीले फूल खिले थे।

“कटैया हैं!” उसने बताया।

वहीं एक तरफ की झाड़ियों से, कंचों के आकार के गोल-गोल फल झाँक रहे थे। उसने इशारा किया— “देखो, मकोइयाँ! पक रही हैं! खाओगे? आओ!”

हम दोनों झाड़ियों में धँस गए, ढेर सारी मकोइयाँ तोड़ लाए। एक मैंने मुँह में रखी, खाने लगा तो पूछा उसने— “कैसी है?”

“खटमिट्टी!”

“और खाओ, जितना चाहो, बहुत हैं यहाँ!”

आसिन की धूप अब खिल उठी थी। उसमें प्रकृति का रूप जगमगाने लगा था। मंद-मंद बहती हवा में हलकी-हलकी टंडक थी। फुल्ला की छोटी-सी गोल नाक गुलाबी आभा से दमक उठी। मैंने उसे छेड़ा— “तुम्हारी नाक मकोई-सी है, फुल्ला!”

“क्या कहा? मकोई-सी? ठहरो अभी!” वह मुझे पकड़ने दौड़ी, मैं भागा। मैं देर तक भागता रहा, वह देर तक पकड़ती रही। मैं भागते-भागते थक गया, वह पकड़ते-पकड़ते थक गई। थककर मैं बैठ गया, बोला— “आज मैं थक गया, कल पकड़ लेना!”

थककर वह भी पास आकर बैठ गई, बोली— “आज तो हम भी थक गए, कल पकड़ लेंगे!”

दौड़ने से उसके गोल मुखड़े की काँति और भी निखर उठी थी, नाक की गुलाबी आभा और भी प्रगाढ़ होकर दमकने लगी थी।

“और मकोई है?” उसकी नाक की ओर देखते हुए, हँसी रोकते-रोकते हँस पड़ते हुए पूछा मैंने।

“है, बहुत है! यह लो!” उसने मेरे पखुरे पर चिकोटी काटी और तमककर पूछा— “कैसी लगी? खट्टी या मीठी?”

“खटमिट्टी!” आधा बिलबिलाते, आधा खिलखिलाते मैं बोला।

उसी समय सुरनाथ सिंह आ गए, अँगोछे में अमरूद लिए— “लगा कि दोनों को भूख लगी होगी!”

“आप उधर गए थे, बाबूजी? अमधुरबन्नी में?” फुल्ला ने जिज्ञासा की।

“हाँ! क्या अमधुर फरे हैं इस बार! अह!”

“और तोते?”

“वे भी खूब आए हैं! जितने अमधुर उतने तोते!”

लौटते वक्त फुल्ला ने मेरे पखुरे को छुआ— “दुख रहा है?”

“नहीं तो!”

“अब नहीं काटेंगे!”

“पर दुखा नहीं था! सच्ची!”

“झुट्टे!”

पाँच

कुछ समय बाद वसंत में, एक सुबह वह दौड़ी-दौड़ी आई।

“जल्दी चलो! जल्दी चलो!” वह काफी हड़बड़ी में थी।

मैं घबरा गया— “क्या हुआ? कहाँ चलें?”

“चलो आम चुनने! जल्दी चलो!”

“ठीक है, चलो! चलना किधर है?”

“गाछी में, और कहाँ बुद्ध!”

रास्ते में बताया उसने— “रात अंधड़ आया था! बहुत आम मिलेंगे!” फिर डरी मुख-मुद्रा बनाकर कहा— “हवा कैसे हुहुआ रही थी! हूSSS! हूSSSSS! बाबूजी हो!”

मैं धीरे-धीरे चल रहा था, डपटकर बोली— “बाबूजी ठीक कहते हैं, तुम महोख हो, महोख!”

कुछ ही दिन पहले उसने महोख दिखाया था—लगभग कौए के आकार का एक पंछी, भूरे पंखोंवाला, पंखों की तुलना में लंबी-चौड़ी पूँछवाला, जामुनी आभा लिए चमकदार काले रंग और ललछौहीं आँखोंवाला, जो नभचारी कम, थलचारी ज्यादा है। वह मुझे अच्छा लगा था, खासकर उसकी प्रकृति, जो गंभीर और शांतिप्रिय थी। उससे तुलना किए जाने पर मैं प्रसन्न था।

वसंत की शहजोर हवा बार-बार हमारे कमजोर पाँव उखाड़ दे रही थी। आगे बढ़ने के लिए काफी संघर्ष करना पड़ रहा था। पर आखिरकार हम आम के बाग में पहुँच ही गए।

और सचमुच, वहाँ हर तरफ आम ही आम बिखरे थे—कच्चे-हरे आम—वसंती सुबह में रोशनी से नहाई धरती पर हरे-हरे सितारों की तरह! उनकी तेज खट्टी गंध से समूचा इलाका गमगमा रहा था।

हम आम चुनने लगे और चुन-चुनकर एक जगह इकट्ठा करने लगे। जब काफी आम जमा हो गए तो मेरे मन में सवाल उठा, वे जाएँगे कैसे?

“जाएँगे कैसे नहीं?” वह निश्चित थी— “अभी सरजुग बाबा लौटेंगे इधर से भैंस चराके! वही ले चलेंगे!”

“कौन सरजुग बाबा?”

“अरे वही, जो पिपही बजाते हैं!”

“अच्छा वो, जिनका एक पैर खराब है?”

“हाँ, वही!”

तभी वातावरण की निबिड़ता को चीरती हर तरफ एक तेज, पतली, कानों में शहद घोलती आवाज गूँजी— “कुहूऽऽऽ!”

“कुहकनी!” फुल्ला के मुँह से हठात् निकला। अकचकाकर, अधीरता से आँखें उठाकर, ऊपर वह चारों ओर देखने लगी— “कुहकनी कुहकी है!”

“कुहकनी माने?”

“कोयल, बुद्धू!”

“कोयल ऐसे बोलती है?”

“बोलती नहीं बागड़! गाती है, ऐसे—कुहूऽऽऽ!”

“कुहूऽऽऽ!” मैंने भी उसकी आवाज की नकल करनी चाही।

“ऐसे नहीं, ऐसे—कुहूऽऽऽ!” उसने अपनी कुहक में आरोह और लहर का समावेश कर बताया।

“कुहूऽऽऽ!” मैंने फिर कोशिश की—इस बार अपनी कुहक में भी आरोह और लहर लाकर।

“अब ठीक है!” उसने कहा। फिर दोनों बारी-बारी से कुहकने लगे—

“कुहूऽऽऽ!”

“कुहूऽऽऽ!”

और अचानक, कोयल की कुहक फिर गूँजी, पर इस बार एक तीव्र व्याकुलता से भरी, आरोही स्वरों में चढ़ती लगातार— “कुहू-कुहू-कुहू-कुहू-कुहू-कुहू. . .”

इस कुहक ने दिशाओं को अपार गूँज से भर दिया।

कुछ देर में सरजुग बाबा आ गए—रूखे-सूखे साँवले चेहरे पर खुँटियाई-बेतरतीब दाढ़ी-मूँछोंवाले बूढ़े और लँगड़े सरजुग बाबा! सिर पर मटमैली पगड़ी, कमर में वैसी ही धोती, नंगे पाँव-नंगे बदन, भैंस पर सवार!

“हौ रह!” हमें देख भैंस को रोका उन्होंने, फुल्ला से पूछा— “हियाँ का कर रही है, बिटिया? आम चुनने आई है? ठहर, ले चलते हैं! ई बचवा कौन है?”

“मथुरा बाबा का नाती है। हमारे साथ पढ़ता है।”

“अच्छा!” भैंस से उतरते हुए, आह्लाद और स्नेह के साथ वे मुझसे मुखातिब हुए— “का नाम है, बबुआ?”

“मल्लू... मौलिचंद्र!”

“खूब पढ़ो, बाबू! खूब बढ़ो! जियो!” उन्होंने अपनी पगड़ी उतारी, उसे खोलकर सारे आम उसमें रख लिए, फिर उसे बाँधकर गठरी बनाकर हमसे बोले— “दुन्नों बइठ जाओ भँइस पे!”

उन्होंने हमें बारी-बारी से उठाकर भैंस की पीठ पर बैठा दिया—आगे फुल्ला को, पीछे मुझे। मुझसे बोले— “कभी बइठे हो भँइस पे?”

“उहँ!”

“तो सम्हर के बइठो बाबू! फुल्ला को पकड़ लो!”

मैंने फुल्ला को पकड़ा तो उसे गुदगुदी होने लगी। वह खिलखिलाई तो उसका पूरा शरीर हिलने लगा। लेकिन जब उसे लगा कि उसके हिलने से मैं गिर सकता हूँ, तो मुश्किल से खुद को शांत करते हुए, मेरे हाथों को खींच, उन्हें जोर से पकड़कर वह बोली— “ठीक से पकड़ लो!”

सरजुग बाबा ने भैंस को चुचकारा तो वह चलने लगी। आंमों भरी गठरी अपने माथे पर उठाकर वे साथ चलने लगे। उनके दाएँ पैर का तलवा टेढ़ा था, बाईं तरफ को ऐंठा हुआ, जिससे वे उछल-उछलकर तो चलते ही थे, चलने में तकलीफ भी उन्हें काफी होती थी। अक्सर उनका वह पैर जख्मी ही रहता था। मगर मन के वे निराला थे और फिलहाल गा रहे थे—

कहवाँ से डोली आवे
कहवाँ में बिलमेली हे
कवन बाबू डोली चढ़ी बइठेनी
कवन संगे बिहँसेनी हे

जनकपुर से डोली आवे
अवधपुर में बिलमेली हे
रामचंदर डोली चढ़ी बइठेनी
सिता संगे बिहँसेनी हे...

रास्ते में पूछा उन्होंने— “एतना आम लेके का करेगी, फुल्ला?”

“खटमिट्टी बनाएँगे, बाबा!”

“तनका हमरो देना!”

“तनका काहे, आपको बहूऽत देंगे!”

“बहूऽत काहे रे बतही? बस तनका देना, सतुआनी खातिर।”

चुपचाप मैं बाबा के गीत का रसानंद ले चुका था। अब दोनों की खटमिट्टी बातें सुनकर, अंतराल पाकर बोला— “आप जो पिपही बजाते हैं, बाबा, बिज्जोड़ बजाते हैं!”

वे चकित हुलास से बोले— “अरे! तुम कहाँ सुने?”

“बिरजू नाना हियाँ, जुगनी मउसी के बियाह में... बिज्जोड़!”

वे झूम उठे— “हम तोहरे बियाह में भी बजाएँगे, बबुआ! अउर फुल्ला के बियाह में भी! कहवाँ से डोली आवे... ”

फुल्ला तुनककर बोली— “हम बियाहे नहीं करेंगे!”

“हतोरी! ऊ काहे?”

“हम बाबूजी के साथ रहेंगे! कहीं नहीं जाएँगे!”

“जो बाबूजी ही कहें?”

“तब्भी नहीं! कब्भी नहीं!”

कुछ दूर आगे भेमल जादौ मिले। घास गढ़ रहे थे। खुरपी से घास की मिट्टी झाड़ते बोले— “ई भेस में कहाँ से, सरजुग भाई?”

“आ रहे हैं फुल्ला के नहिरा से... बिदागरी कराके।” बाबा नाटकीय सहजता से बोले—

“तनि ई देखो, दुलहा भी साथे बइठा है घोड़ी पे... हम हैं नउआ, सनेस लेके आए हैं!”

भेमल जादौ हो-हो कर हँसे। बाबा भी हँसी रोक नहीं पाए।

मैं लजा गया। फुल्ला तो लाज से गठरी हो गई, पर मेरे हाथों पर उसकी पकड़ पहले की तरह कायम रही।

छः

फुल्ला अगर ब्याह नहीं करेगी, तो अपनी माँ से मिलेगी कैसे?

लगभग दो साल पहले, उसने पूछा था बाबूजी से— “बाबूजी! सबकी आई है—चंदू की, रनिया की, झुमकी-रमेसर की—हमारी आई कहाँ है?”

“तेरी आई चिजू लाने गई है रे!” बाबूजी ने समझाया था— “लड्डू, बरफी, खाजा, कसार, पिड़किया, लहंगा-चोली... सब लाएगी तेरे लिए!”

“कहाँ से, बाबूजी?”

“भगवान-घर से!”

“कब?”

“तेरी शादी में, फुल्ला! जब तू दुलहन बनेगी!”

चार-साढ़े चार साल पहले दुर्भाग्य के एक औचक वज्राघात ने—एक प्राणघातक सर्पदंश ने—दुधमुँही फुल्ला के सिर से उसकी माँ का आँचल छीन लिया था। वह अपने पिता की इकलौती संतान थी—उनके जीवन की मरुभूमि में कलकल गाती-इठलाती एक पतली जलधार, संसार के अथाह सागर में डोलती उनकी एक नन्ही-सी नाव, एक अंतिम पतवार, उनकी आँखों की ज्योति एकमात्र, आस बस अकेली!

वे कठोर श्रम करते थे, जागने से सोने तक। सुबह बैलों को सानी-पानी देकर फुल्ला के साथ गाय-बकरी चराने जाते, लौटकर खाना पकाते, फुल्ला को खिलाकर स्कूल भेजते, खुद खाकर खेत में जाते और काम करते, शाम ढले लौटकर मवेशियों को खिलाते, फिर अपना खाना पकाते। जिस समय खाना पकाते, फुल्ला उनका हाथ बँटाती, भाग-भागकर काम करती। उनकी आँखों में लोर भर आते तो पूछती— “आप रो रहे हैं, बाबूजी?”

“नहीं रे, चूल्हा धुआँ रहा है!” वे कहते और लोर पोंछ लेते।

फुल्ला को उनकी बड़ी फिक्र रहती। उनके खेत से लौटने के पहले ही घर का बहुत काम कर देती। झाड़ू लगाती, बरतन-बासन करती, खाना पकाने को खर-पतवार और लकड़ियाँ चुनने जाती।

“खर क्यों चुन रही हो?” मैंने पूछा एक बार।

“खरखउकी के लिए!” उसका जवाब किसी पहेली से कम न था।

“खरखउकी माने?” मुझे पूछना ही था।

“आग!” बताया उसने। फिर कहा— “अच्छा एक बुझउअल बूझो—भूख लगे खर खाए, पानी पिए मर जाए—माने क्या?”

इसका जवाब मैं पहले से जानता था, सो बता दिया— “आग!”

“वाह! बूझ गए लालबुझक्कड़!”

“और बुझाओ!”

“बाद में... पहले खर चुनो!”

सोने से पहले बाबूजी के पाँव दबाना, उनके सिरहाने लोटा भर पानी रखना वह कभी न भूलती। मुझसे कहती— “बाबूजी कितना खटते हैं! रातभर कराहते हैं!”

उसकी एक फुआ थीं—टुनकी फुआ। शादीशुदा। नाम के विपरीत हृदय से कठोर। वे जब भी आतीं, उसका जीवन दूँभर हो जाता। उसके पंख पिंजरे में कैद हो जाते। वे बात-बेबात

उसे डाँटती-फटकारती रहतीं, आँय-बाँय बकतीं और सुरनाथ सिंह को चितौनी देतीं— “लइकीनी जात को अइसे बहकाना ठीक नहीं भइया!”

सुरनाथ सिंह कहते— “अभी बच्ची है।”

वे ऐंठकर कहतीं— “हाँ! दूध पी रही है! लमगोड़ी हो गई है और बच्ची है! लइकी का तो कोई लच्छने नहीं इसमें! कुदक्का मारती फिरती है सगरो जगत्तर में...!”

सात

कुछ रोज बाद हम दोनों नदी देखने गए। नदी में एक अद्भुत-सी चमक थी—एक उच्छल उल्लास। पास ही तीर पर बँधी एक नाव जल में डोल रही थी, जिसकी ओर इशारा किया फुल्ला ने— “वो नइया जित्तन कक्का की है।”

“अच्छा! उनका नाम सुना है मैंने। रात में उस पार से अक्सर, नाव के लिए उन्हीं को पुकारते हैं लोग—हो जित्तऽऽऽन... जित्तन होऽऽऽ...!”

“वो यहीं रहते हैं, उधर!”

“किधर?”

“आओ इधर!”

गंगा के इस पार, उससे थोड़ा हटकर, झाऊ की सघन काँटेदार झाड़ियों की लंबी-लंबी कतारें थीं। उन्हीं में से एक को पार कर हम आगे बढ़े, तो सामने एक मड़ैया दिखी। फुल्ला निर्द्वंद्व भाव से उसके अंदर चली गई। मैं पीछे था।

“अरे फुलौरी! इधर किधर?”

जित्तन कक्का अधेड़ वय के थे—चारखाने की नीली-मटमैली लुंगी को घुटनों तक मोड़कर पहने, कंधे पर अँगोछा डाले। गेरुआ काला बदन—चमकता हुआ, कसा हुआ, कठोर।

अपने लिए ‘फुलौरी’ संबोधन सुनकर फुल्ला रूठ गई, तुनककर बोली— “ई कौन चिढ़ौनी हुआ? हमारा नाम फुल्ला है।”

“अच्छा ठीक है फूलमती! फूल मत ऐसे! आ इधर बैठ!”

जिस वेग से फुल्ला रूठी थी, उसी वेग से मान भी गई— “हम नदी घूमने आए हैं, कक्का!”

“घूम आई?”

“उहँ! अब्भी तो आए हैं।”

अपने आगे फैला हुआ जाल वे समेटने लगे, ताकि हम वहाँ बैठ सकें। फुल्ला उनके पास जाकर बैठ भी गई, मैं खड़ा रहा।

“तू भी बैठ!” वे मुझसे बोले— “मथुरा बाबा आएँगे? गरमी-छुट्टी में?”

मुझे अचरज हुआ, वे मुझे जानते थे!

“आएँगे शायद...।” मैं भी उनके पास बैठ गया।

मड़ैया में सारे सामान जरूरी के थे—एक हथौड़ा, एक आरी, एक कत्ता, एक जाल जो अभी-अभी समेटा गया था, एक पाल जो नाव में बाँधने को निकाला गया था क्योंकि सरदी बीत जाने के बाद हवाएँ अब तेज हो गई थीं, शीशा मढ़वाकर पूरब तरफ टाट में टाँगी गई एक तसवीर जिसमें केवट राम, लक्ष्मण और सीता के चरण पखार रहे थे, एक चटाई जो लपेटकर पीछे एक कोने में रखी हुई थी, उसी के पास एक ढिबरी, किरासन की एक बोटल, एक शीशी

नमक की, एक पानी भरा मटका, एक पिचका पुराना लोटा, और एक भीगा हुआ झोला जो ऊपर एक तरफ बल्ली में लगे एक लोहे के हुक से लटका हुआ था। उसे उतारकर नीचे रखते बोले वे— “सिंघाड़ा छीलते हैं...।”

“काहे?” फुल्ला का प्रश्न।

“गोटी खेलेंगे!” कक्का का उत्तर— “खाएँगे... और काहे?” उन्होंने झोले में हाथ डालकर बहुत सारे सिंघाड़े निकाले—कच्चे, एकदम ताजे।

“हो कक्का! एतना कौन खाएगा?” फुल्ला का फिर प्रश्न।

“गाछ-बिरीछ खाएगा!” उसी अंदाज में कक्का का फिर उत्तर— “अरे हम लोग खाएँगे... और कौन खाएगा?” उन्होंने अपने फेंटे से अंगुशतभर का एक चाकू निकाला और उससे सिंघाड़ा छीलते हुए फुल्ला से कहा— “खाएगी नहीं तो रह जाएगी रुक्खी की रुक्खी!”

फुल्ला हँसी, फिर पूछा— “आज हाट नहीं जाइएगा? सिंघाड़ा बेचने? आज तो हाट है।”

“हाट-बाट तो चलती रहेगी। आज नहीं, नरसों सही। पर तू दोनों फिर जाने कब आए!” सिंघाड़े छील-छीलकर अपने अँगोछे पर वे रखते जाते थे, जिसे कंधे से उतारकर पहले ही उन्होंने आगे बिछा लिया था—“खाओ भी, खाते भी जाओ!”

“आप भी खाइए पहले!”

“रुक! पहले थोड़ा नून ले ले!”

मैं नमक की शीशी उठा लाया— “कहाँ रखना है?”

“उसमें रख!” जाल के पास सितुआ पड़ा था, उसी को दिखाकर बोले— “पहले उसे धो ले!”

सिंघाड़े खाकर हम बाहर आ गए। कक्का भी साथ थे।

“चल नदी घुमाते हैं!” उन्होंने हमारी मन-माफिक इच्छा प्रकट की।

आठ

बाहर धूप थी—चमकती वसंती धूप और हवा—तेज वसंती हवा, जिसमें पेड़-पौधे, जंगल-झाड़ सब लहरा रहे थे, नदी हिलकोरे खा रही थी और उसमें कक्का की नाव ऐसे डोल रही थी, जैसे हमारी यात्र का पूर्वानुमान कर उल्लास और रोमांच से थिरक रही हो!

उन्होंने बारी-बारी से हम दोनों को उठाकर नाव में रख दिया— “बैठ जाके गलहिया पे! संच से, पट्टी से टकरइहो मत!” फिर नाव से बँधा हुआ रस्सा खोलकर खुद भी उसमें सवार हो गए, डाँड़ थामकर बोले— “जै हो गंगा मइया!”

“हइया रे हइया, चल हमरी नइया!”

डाँड़ चला तो नाव चली।

सूरज की रोशनी में गंगा की लहरें रोशनी की लहरें लग रही थीं, उसके पारदर्शी जल में तल की रेत रोशनी की रेत-सी चमक रही थी और उसकी धार में लहर लेती हुई नन्ही चिपुआ व चाँदी मछलियाँ रोशनी की मछलियों-सी झलमला रही थीं।

“लो, आ गई लालपरी!” कक्का चहके।

हमने देखा, नीचे जल में नाव के इर्द-गिर्द रोहू मछलियों के कई झुंड आ गए थे और मानो नृत्य कर रहे थे। हमारे पूछने पर कक्का ने बताया कि चूँकि रोहू मछली के पर लाल होते हैं, इस कारण उसका एक ग्राम-प्रचलित नाम ‘लालपरी’ भी है।

“नदी हरदम बहती है, कक्का?” फुल्ला की शंका।
“हाँ, हरदम... बहती ही रहती है...!” कक्का का समाधान।
“रुकती कभी नहीं?”
“कभी नहीं!”

“थकती नहीं है?”
“थकती है तब भी बहती है!”
“सोती नहीं है?”
“सोती है तब भी बहती है!”

“अरे!” मेरा और फुल्ला का सम्मिलित विस्मय, फिर दोनों का सम्मिलित हर्ष— “वाह!”
नाव पूरब तरफ बढ़ रही थी, धार के साथ-साथ। कुछ दूर आगे बढ़ने पर, बाईं ओर
रेती के पार अरहर-सरसों के खेत दिखे, हरे-हरे, वसंती हवा और धूप में लहर-बहर से भरे।
उनके ऊपर पीले-पीले फूलों के सघन फैलाव ऐसे लग रहे थे, जैसे किसी हरे समुद्र में पीली-पीली
लहरें उठ रही हों!

नदी नारे न जाओ साम पड़्यो पड़ूँ...

सहसा कक्का गा उठे। स्वर उनका सधा हुआ नहीं था, अनगढ़ था, काँपता हुआ, पर
उसमें दिल को भिगो देनेवाली एक अद्भुत तरलता थी, एक सच्चाई, जो किसी सरल इंसान
की भोली-भावुक आत्मा में होती है।

नदी नारे जो जाओ तो जइबे करो
तो जइबे करो, तो जइबे करोऽऽ
बीच धारे न जाओ साम पड़्यो पड़ूँ...

वे गा रहे थे और डाँड़ चला रहे थे। हाँफने से उनके गाने में आरोह-अवरोह की ऊँची-नीची
लहरें पैदा हो रही थीं। इससे उसका असर और मर्मभेदी हो रहा था।

बीच धारे जो जाओ तो जइबे करो
तो जइबे करो, तो जइबे करोऽऽ
उस पारे न जाओ साम पड़्यो पड़ूँ...

उस पारे जो जाओ तो जइबे करो
तो जइबे करो, तो जइबे करोऽऽ
सौतनियाँ न लाओ साम पड़्यो पड़ूँ...

स्वर उनका मंद था, मंद ही रहा, पर हमारे दिलोदिमाग पर असर उसका भारी था—भारी
और गहरा—कलेजे में हौले से धँसकर उसे मथनेवाले तीर की तरह, अकथ व्यथा से भर देनेवाला।

सौतनियाँ जो लाओ तो लइबे करो
तो लइबे करो, तो लइबे करोऽऽ
हमसे न बताओ साम पड़्यो पड़ूँ...

तन्मय वे गा रहे थे। निगाहें सामने थीं, पर ध्यान कहीं और। नाव नदी की धार पर
तैर रही थी, पर खुद किसी दुनिया में डूबे थे वे।

“और गाओ न, कक्का!” हमारी संयुक्त याचना से उन्हें चेत हुआ।

“रुक, तनि नइया घुमा लें!” उन्होंने सहज होते, डाँड़ को बाईं तरफ नदी-तल में रोपते, धार से हटाने को नाव का रुख दाईं तरफ मोड़ते, स्वीकृति दी।

उनका शरीर पसीने से नहाया था और सूरज की रोशनी में ऐसे चमक रहा था, जैसे पसीने से नहीं, रोशनी से नहाया हो।

“हइया रे हइया, घूम गई नइया!”

लौटती बेर डाँड़ चलाना कठिन था। उन्हें नाकों चने चबाने पड़ रहे थे। धार के विरुद्ध नाव मुश्किल से टसक रही थी। पर वे उसे खे रहे थे और उनके रक्ताभ हो चुके छलछलाए काले चेहरे पर शिकन की एक रेख तक नहीं थी।

बलमजी...

वे फिर शुरू हुए। उसी तरह अनायास और सहज। धीरे-धीरे। जैसे खुद के लिए या खुदा के लिए गा रहे हों।

बलमजी गए जमुनवाँ पार

भाए बलमजी मथुरावासी छलियन के सरदार

जामिनि डसत खसत बज्जर उर बसत महा अँधियार

आस न कोई दिसि-दिसि खोई मैं दुखियारी नार

माँझी ले चल पार देउँगी मुँदरी नेउर हार...

उनकी आँखें आँसुओं से भरी थीं। उन्हें ढरकने से बचाने के लिए उन्होंने आँखें ऊपर उठाई, तो वे सूरज की रोशनी में ऐसे जगमगा उठीं जैसे वे आँसुओंभरी नहीं, रोशनीभरी आँखें हों।

इस कदर दिल से आखिर किसके लिए गाते थे वे? खुद के लिए? या खुदा के लिए? उस वक्त मैं जान भी कैसे पाता! मैं सिर्फ उनका मुँह ताकता रहा। फुल्ला को देखा तो देखा, मेरी आँखों का पानी उसकी आँखों में भी चमक रहा था।

यह तो बहुत बाद में पता चला कि उनका जीवन एकाकी था। जीवन की बीच धार में छोड़कर पत्नी चली गई थी, विधुर थे। निःसंतान और निःसंबल! दूसरी शादी नहीं की। क्या वे पत्नी को बहुत चाहते थे? उसी के लिए इतनी व्यथा से गाते थे, जैसे विलाप कर रहे हों?

“उस पार क्या है, कक्का?” मेरा सवाल गंगा-पार की अपार निर्जन रेती के बारे में था। मेरा स्वर संयत नहीं था।

“ककड़ी... और खीरे के खेत... तरबुज्जे के भी...।” उनकी आवाज में अब भी कंपन शेष था।

मुझे विस्मय हुआ—मेरे जानते जिधर कुछ नहीं था, उधर भी बहुत कुछ था! वीरान-सी वह दुनिया वीरान नहीं थी!

तभी हम सबको चुप हो जाना पड़ा। नदी के दाएँ किनारे पर, हमारे घाट से करीब चार फर्लांग पहले, कलौंस रंगवाली चंचल चिड़ियों का एक बड़ा दल काफी चटर-पटर कर रहा था, बेहद शोर फैला रहा था।

“कलही हैं... कान अनसा देंगी!” कक्का के चेहरे पर कोमल हास की एक हलकी-सी आभा कौंधी। उन्होंने बताया कि वे गंगई मैनाएँ हैं नदी किनारों की खड़ी दीवारों में करीब

एक मीटर लंबी, अंगुल भर चौड़ी, ऊपर की ओर चढ़ती सुरंगों के रूप में अपने घोंसले बनाती हैं, हमेशा झुंड में रहती हैं, असहनीय शोर फैलाती हैं, इसलिए गाँव में 'कलही' कही जाती हैं।

“हड़या रे हड़या, रुक हमरी नड़या!”

जिस समय नाव किनारे लगी, साँझ होने को थी। उन्होंने नाव को किनारे के एक खूँटे से बाँध दिया। हमें राह में डर न लगे और किसी तरह की हानि न हो, यह सोचकर गाँव तक छोड़ने आए।

गाँव के सिवान पर हरखनाथ मिसिर अपने बथान की मड़ैया की छानी से कद्दू उतार रहे थे। ये बड़े-बड़े कद्दू! उन्होंने हमें देखा तो एक-एक कद्दू थमा दिया। कक्का को मिला कद्दू कुछ ज्यादा ही बड़ा था। उसे अपने कंधे पर गदातुल्य रखकर वे वीरमुद्दा में चलने लगे और 'कद्दू-महिमा' का बखान इन शब्दों में करते हुए गाँव में दाखिल हुए—

कदुआ न होय यदि

*कदुआ न होय यदि
हे रे मँगरुआ
कइसे तू खइवे फिर
कदुआ के तरुआ*

*कदुआ न होय यदि
तोहर मतारी
कइसे खदकइतउ
कदुआ के तरकारी*

*कदुआ न होय यदि
रहतउ अधूरा
नइँ बनतउ नइँ बजतउ
तोहर तंबूरा*

कदुआ न होय यदि...

“गरमी में अइहो, तरबुज्जा खिलाएँगे... हिच्छा भर!” जाते हुए न्योता देते गए।

नौ

फुल्ला को फूल पसंद थे। तितलियाँ पसंद थीं। जब भी कोई तितली वह देखती, उसके प्राणों के पंख फड़क उठते, थिरक उठते, वह खुद तितली हो जाती।

“तितलियाँ उड़नेवाले फूल हैं!” वह कहती।

जाने ये बातें वह कैसे जानती थी, उसे कौन बताता था?

वह तितली के पीछे भागती। कोई तितली पकड़ती तो मुझे भी दिखाती— “देखो, तितली!” तितली को ऐसे पकड़े रहती, जैसे उसने तितली पकड़ी न हो, बल्कि खुद ही आकर वह उसकी

उँगलियों पर बैठ गई हो। तितली पकड़ने से उसकी उँगलियों पर रंगीन चमकीला पराग लग जाता। “देखो, पराग!” वह मुझे भी दिखाती। मैं देखता तो पराग मेरी उँगलियों पर भी लग जाता।

वह तितली के पीछे भागती और मैं उसके पीछे भागता। भागते हुए अक्सर गिर जाता, चोट लग जाती, घुटने वगैरह छिल जाते। ऐसे वक्त मेरी चोट का दर्द उसकी आँखों में छलछला उठता। पर अगले ही पल भागकर वह जाती और कहीं आसपास से गेंदा की पत्तियाँ तोड़कर ले आती। उन्हें हथेलियों से पीसकर घावों पर लेप देती। पूछती— “अब दर्द हो रहा है?”

“अब नहीं हो रहा!” मैं कहता।

“झुट्टे!” वह आँखें उठाकर मुझे देखती तो मैं देखता, उसकी बड़ी-बड़ी आँखों में लोर भरे होते।

उसे भागना पसंद था। सुरनाथ सिंह ठीक ही उसे फुलसुँघनी कहते। हेलिकॉप्टर भी कहते। उसकी चोटी खींचकर कहते— “हेलिकॉप्टर की दुम!”

वसंत में ही एक दिन, जबकि खेतों में गेहूँ की पकती बालियाँ स्वर्णाभा से दीप्त होने लगी थीं, पकी मंजरियों से लदे आम ऐसे लग रहे थे जैसे प्रकृति ने उन पर मखमल का सुनहरा दुशाला डाल दिया हो, सरसों के कटे खुँटियाए खेत अपनी सार्थकता पर रोमांचित-से दिख रहे थे, हम दोनों स्कूल के टिफिन आवर में बेर तोड़ने गए।

बेर पकने लगे थे। उनकी हरी देह पीताभ होने लगी थी और उनमें कहीं-कहीं सिंदूरी रंग भी झलक मारने लगा था। ऐसे में हमारे लिए उनसे दूर रहना असह्य था—असह्य और असंभव! वे इतने मीठे थे, इतने मीठे थे कि बहुत मीठे थे! चिड़ियों के टोंगे हुए तो और भी मीठे! उन्हें कोई अगोरता भी नहीं था।

समस्या उन्हें तोड़ने की थी।

एक तो उनके पेड़ हमारी हद से ऊँचे थे, दूसरे यह कि उनकी कँटीली डालियों पर चढ़ना जोखिम-भरा काम था। इस प्रयास में मैं कई बार अपने कपड़े फड़वा चुका था और बदन बिंधवा चुका था।

अतः इन मुश्किलों से निजात पाने के लिए, पिछले दिनों हमने अरहर के तने की एक लग्गी बना ली थी, जिसने बेर के रसास्वाद की राह में खड़ी विघ्न-बाधाओं को दूर कर हमारा काम आसान बना दिया था।

“एक दिन हम बहुत बड़ी लग्गी बनाएँगे। इतनी बड़ी, इतनी बड़ी कि बहुत बड़ी! उससे चाँद-तारे तोड़ेंगे!” हमारा सपना था।

तो हुआ यह कि उस दिन बेर तोड़ते हुए हमें सेमल के फूल दिखे। दिखे तो वे पहले भी थे, पर उस दिन ऐसे दिखे जैसे पहली बार दिखे हों। इतने लाल, इतने लाल कि बहुत लाल!

“सेमल के लाल फूल!” फुल्ला बोली।

“वाह रे कमाल फूल!” मैं बोला तो लगा कि अरे, मेरे बोलने में एक लय है जो फुल्ला की लय से मिलती है।

तभी सामने से एक खरहा छलाँगता हुआ गया—कानों को प्रणाम की मुद्रा में जोड़े—इतना तेज, इतना तेज कि बहुत तेज!

“खरहे की खाल फूल!” फुल्ला ने चहककर बात आगे बढ़ाई।

“फुल्ला के गाल फूल!” मैं भी उमगकर बोला तो वह इतना हँसी, इतना हँसी कि बहुत हँसी।

हँसते-हँसते बोली— “देखो, जंगल की हँसी!”
इशारे से दिखाया—एक पीली चिड़िया हमारे ऊपर से लहरदार उड़ान भरती चली जा रही थी।

दस

मगर यह हँसी-खुशी स्थायी न थी। स्कूल पहुँचने पर सिबचरन मास्साब का रौद्र रूप सामने था। “किलास छोड़के ओल चोंधने गया था? ...हरामखोर! ...चुरकी कबार लेंगे!” उन्होंने मेरी चूल् पकड़कर हिलाई, जैसे किसी पौधे की जड़ उखाड़ रहे हों— “गत्तर-गत्तर फाड़ देंगे!...”
वे मेरी चमड़ी भी उधेड़ देते, बदन में हजार काँटे भी एक साथ चुभो देते, तो मुझे इतना कष्ट न होता जितना इस ‘हरामखोर’ शब्द से हुआ, जो मेरे कलेजे में जहर-बुझे नशतर की तरह उतर गया। पर अगले पल जब उन्होंने फुल्ला को ‘हरामजादी’ कहकर उसके फूल-से गालों पर थप्पड़ मारे तो मेरा माथा गन-गन करने लगा, कनपट्टे दहकने लगे, मुड़ियाँ कस गईं। और जब उन्होंने मुझ पर खजूर की छड़ी उठाई तो मैंने छड़ी पकड़ ली और इसके लिए मुझे लात-धुँसे भी खाने पड़े। फुल्ला तो डर से काठ हो गई, गूँगी हो गई, सिर्फ थर-थर काँपती रही और रोती रही, रोती रही। उसका दिल जैसे तकलीफ का समंदर हो गया, जिसका प्रवाह उसकी आँखों से उमड़ता रहा, उमड़ता रहा...।

यह दिन मैं कभी नहीं भूला, जिसमें अपमान, ग्लानि और दुःख के पाशविक पदाघातों ने मेरी आत्मा की कच्ची घास को रौंद दिया और जो आज तक जीवन के सबसे सुखद क्षणों में भी मेरे दिल में किसी ताजे नासूर की तरह टभकता रहता है!

यह एक दिन, जो मेरे सभी दिनों में शामिल है!

शाम को नानी मेरे हाल पर बहुत रोई। मेरी चोटों को संकती अपना आँचल भिंगाती रही। मामा ने दुःख और क्षोभ से अधीर होकर कहा— “कैसा मास्टर है! मास्टर है कि कसाई?”

इस घटना के हफ्तेभर बाद किसी ने मास्साब की साइकिल की सीट काट दी और टायर में परकाल भोंक दिया। क्या वे कभी जान पाए कि ये काम मैंने किए थे और मैंने ही एक दिन सबसे छुपाकर स्कूल की दीवार पर गेरू से ‘सुइया मास्टर’ लिख दिया था?

और सुरनाथ सिंह कभी जान पाए कि उनका टूटा हुआ बदन देखकर मेरा मन कितना टूटता था? एक दिन जब उनका बैल खूँटा उखाड़कर भागा था और उसे पकड़ने की कोशिश में खूँटा पकड़े वे काँटों-कुशों-भरी जमीन पर दूर तक घिसटते चले गए थे, तो उनके साथ-साथ मेरा मन भी घिसटता गया था? क्या वे कभी जान पाए कि अपने लिए एक चप्पल, एक लट्टू, एक गुड्डी, एक बाजा, एक नई किताब के लिए भी तरसते हुए मैं उनके और फुल्ला के लिए संसार के सभी ऐश्वर्यों की कामना करता था?

और फुल्ला कभी जान पाई कि एक दिन मैंने ही उससे छुपाकर उसके झोले में कचनार के फूल रख दिए थे? और वह जो बीच माँग फाड़कर दो चोटियाँ करती थी वह मुझे पसंद था? उसकी बड़ी-बड़ी आँखें और उभरे हुए होंठ मेरे एकाकी मन को मथते थे और एकांत में अजीब-सी कचोट से भर देते थे? क्या वह कभी जान पाई कि सुनहरे रोओं से दीप्त उसकी माखन-सी स्वस्थ पिंडलियाँ मेरी नींद में भी जगमगाती थीं?

क्या हरदासपुर कभी जान पाया कि उसके पास से कौन-सी मथानी अपने कलेजे में छुपाए मैं अपने घर लौटा?

ग्यारह

गेहूँ कट चुका था। सेमल के फूल अचानक झड़कर भूमिसात् हो गए थे और उनकी दिशाहीन रुइयाँ जहाँ-तहाँ निराधार भटक रही थीं। दउनी-ओसउनी की महीन भूसी, नदी की रेत और खेतों में खूंटियों को जलाने का धुआँ—इन सबके बवंडरों ने मिलकर आबोहवा को धुँधला कर दिया था, जिसमें चीजें और दृश्य, लोग और आवाजें, इच्छाएँ और स्वप्न... सब जैसे गर्क-से दिख रहे थे।

सब धूल-धूल! सब धुआँ-धुआँ!

जाता वसंत क्या इतना वीरान कर जाता है?

फुल्ला नहीं थी। फुआ के यहाँ 'अठजाम' देखने गई थी। उसके आने में सप्ताह भर शेष था।

इसी समय माँ आई। दोपहर के वक्त, घर के सामने दालान के ओसारे में बैठा उड़ती धूल और उठते बवंडर देख रहा था। तभी भोला जादौ का बेटा मुकेसी दिखाई पड़ा, माथे पर माथे से पँचगुनी पिटारी उठाए। मुझे से चार-पाँच साल बड़ा था। मुझे देखकर खुश होकर बोला— “डिडिया आई है!”

वह तुतलाता था और मेरी माँ को 'डिडिया' कहता था।

उसके पीछे माँ थी, सालभर की बच्ची को गोद लिए, आँचल में छिपाए।

धूप से माँ का गोरा चेहरा रक्तिम हो गया था। शरीर पसीने से भीगा था। बाल धूल से ढँके।

वह कितनी दुबली हो गई थी!

मुझे देखते ही वह रो पड़ी। मैं भी रोने लगा, पर जैसे मेरी पूरी शक्ति किसी ने निचोड़ ली हो, जड़ बना बैठा रहा, गरदन झुकाए रोता रहा।

“बउआ है।” बहन का चेहरा दिखाया उसने। तीखे नाक-नक्श, दूध-सा रंग, मक्खन-सी देह।

“गोद लेगा?” उसने पूछा ही था कि मुकेसी ने टोका— “पहिले ई पेटारी उटारो डिडिया! माठा डुख रहा है!”

माँ ने बहन को मुझे दे दिया, उसके सिर से पिटारी उतारने लगी, तभी अंदर से मामा आ गए और पिटारी उतार दी। पीछे से नानी भी आई। पालागन हुई। गला-मिलाप हुआ। शिकवे-शिकायत भी हुए। रोना-धोना भी खूब हुआ।

इस दौरान बहन मेरे ही पास रही। फुल्ला होती तो जाकर उसे दिखा आता— “देखो, बहन!”

“नाम क्या है इसका?” अब तक जानता नहीं था। पर जब वह रोने लगी तो माँ बोली— “पुन्नी को ला इधर! लगता है सोएगी!”

उसका नाम 'पूर्णमा' था। इससे अच्छा नाम उसका हो भी नहीं सकता था। 'पुन्नी' उसे प्यार से कहते थे।

मुकेसी अब तक हमारे ही पास था। नानी का दिया मट्टा पी रहा था और माँ को बेफरमाइश-बेहिचक अपनी व्यथा-कथा सुना रहा था— “टुमसे का बटाएँ डिडिया! भरठ के साठ नड्डी गए ठे। ले बलैया के, भरठा को हुआँ मैडान लग गेआ। टो ऊ लगा पेट पकड़के कुडकने। पटलून उटारके खेट टरफ भाग गेआ। का बटाएँ डिडिया! हमको टो पटा ठा, नड्डी में पनडुब्बा

रहता है! ईया बटाई ठी हमको। एटने में पानी में कुच्छो डोला टो हमरा डिमागे घूम गेआ!
का बटाएँ डिडिया! जब टक भरठ नहीं आया टब टक हमरा डेह ठर-ठर कर रहा ठा...!”

माँ ने हँसी रोकते उसका गाल थपथपाया— “बड़ा भोला है रे!”

“डुट्टोरी के डिडिया! ई टो हमरे बाबूजी का नाँव है—भोला जाडौ!” वह शरमा गया।

मुकेशी का घर हाट के करीब था। ढाई-तीन महीने से मेरे घर से हरदासपुर आना-जाना कुछ आसान हुआ था, क्योंकि इस रास्ते पर ‘ठकठकही’ चलने लगी थी। ठकठकही टायरगाड़ी में पंपिंग सेट लगाकर बनाई गई गाड़ी थी जो अपने साथ शोर और धूल का वैभव लुटाती चलती थी। हरदासपुर में हाट के पास जहाँ वह रुकती थी, वहीं मुकेशी का घर था। माँ उसी से आई थी। माँ को देखते ही मुकेशी दौड़ा आया था, पिटारी उठाकर बोला था— “चल डिडिया, चहुँपा डेटे हैं!”

जाते समय पूछा उसने— “लौटोगी कब डिडिया?”

“परसों ही!”

“इटनी जल्दी?”

“क्या करें? इतना सारा काम रहता है। अखिल नवमी में चला गया। उसकी पढ़ाई-लिखाई। ट्यूशन। अब तो मुन्नी भी स्कूल जाने लगी। वे तो रहते नहीं। महीने में कभी आए-आए, न भी आए। इतनी भाग-दौड़ हो जाती है। चूल्हा-चौका, बरतन-बासन, कभी इधर, कभी उधर, कभी ये, कभी वो, और ऊपर से स्कूल। माई-बाबूजी न हों, तो आफत हो जाए!” माँ ने गहरी साँस खींचकर कहा— “बस मल्लू के लिए आई हूँ। उसे ले जाने। सोचा सबसे भेंट भी हो जाएगी। ठकठकही कै बजे खुलती है?”

“डो बजे... डुपहरिया में!” उसने कहा तो माँ ने उसे एक बजे आने को कह दिया।

उसके साथ मामा भी हाट में कुछ सौदा करने निकल गए।

माँ परसों चली जाएगी, यह जानकर नानी बहुत नाराज हुई। उसकी नाराजगी आँखों से बरसने लगी। उन बूढ़ी-वीरान आँखों में कुछ ही पल पहले जो एक जोत जली थी, वह अचानक बुझ गई। कल ही नाना का मनीआर्डर आया था। राई, सरसों, तीसी और मसूर बेचकर भी उसकी अंटी में कुछ पैसे आ गए थे। अभी तो दिन बहुरे थे। बेटी-नाती-नतनी सब कोई कुछ दिन साथ रहते...।

कितनी खुशियाँ रहतीं!

“जब मडुआ में दाना भेल, धीआ-पुता रवाना भेल!”

नानी ने आँचल से लोर पोंछते कहा और शरबत के लिए नीबू तोड़ने घर के पिछवारे चली गई।

माँ पुन्नी को लिए पीढ़े पर बैठी थी। उससे कुछ दूर पर उलटे ओखल पर बैठा मैं कमीज का बटन चबा रहा था। उसने मुझे इशारे से बुलाया। पास जाकर उकडूँ बैठा तो भरी नजर से मेरा वह मुआयना करने लगी—सँवलाया रंग, रूखी-सूखी त्वचा, दुबलाया शरीर, उभरे बेडौल काले घुटने, धूल-सने नंगे पैर...।

“तेरे पैर जलते होंगे...!” उसने काँपते हाथ से मेरा माथा सहलाया— “घर चलेंगे!”

मेरे अंदर एक हूक-सी उठी। कलेजा फाड़ देनेवाली हूक। मैंने आँखें जमीन में गड़ा दीं। तभी उसने मेरी बाँह पकड़ी और मुझे खींचकर खुद से लगा लिया।

बारह

मुकेसी की शारीरिक बनावट बेडौल थी। पैरों के अनुपात में धड़ की लंबाई अधिक। लगता था जैसे किसी युवा धड़ में बच्चे के पैर लगा दिए गए हों। होंठ उसके मोटे थे। निचला होंठ कुछ ज्यादा ही मोटा और आगे को निकला था। बोलने के क्रम में उसकी भौंहें ऊपर-नीचे होती रहती थीं। तुतलाने के क्रम में तवर्ग के बदले टवर्ग का उच्चारण करता था।

ठीक एक बजे वह आ गया— “तैयार है डिडिया?”

माँ अपने काम निपटाकर तैयार थी। मामा ठकठकही में हमारे लिए सीटें छेकने पहले ही निकल गए थे। नानी ने माँ को खोंडिछा देने के बाद मेरी जेब में भी एक रुपए का नोट रख दिया था— “मिठाई खइहऽ!”

मुकेसी ने पिटारी उठाई तो नानी और माँ रोने लगीं। रोते-रोते गला-मिलाप हुआ, रोते-रोते पालागन!

और रोते-रोते विदा!

“विदा!” जैसे मेरे कलेजे को किसी ने निचोड़ दिया हो! जैसे मेरी देह का सारा खून पानी हो गया हो! जैसे मैं नहीं, मेरे बदले कोई और जा रहा हो!

“विदा!” मेरी आँखों के जल में सारे दृश्य डूबने लगे...

चिलकती दोपहर। वीरान दिशाएँ। बेसहारा पगडंडियाँ।

रेतीली हवा में सूखी पत्तियों की खड़खड़ाहट और टूटी आकृतियाँ।

मुकेसी की छोटी डगमगाती टाँगें। लथपथ देह।

मामा का लाल चेहरा।

तुमने खरहा देखा है?

धूप! धुआँ! डीजल की गंध!

घासों में फूल?

हट्टो जी! फरीक होके बड़ठो भइया! मोटरी उधर ठेलो बाबा!...ऐसे तो तुम्हें ठंड लगेगी!

...भुल्ली कौन? बकरी हमारी...मन लगाकर पढ़ना!...

परनाम डिडिया! डशहरा में आएगी?...डिवाली में?

ले, मिठाई खाना!

मुकेसी की लथपथ पीठ। बेडौल पीठ। अविस्मरणीय पीठ।

धूल! शोर! उलटी की गंध! घुटन!

तितलियाँ... उड़नेवाले फूल...

मुझे भी ले चलोगी?...

पसीना! उबकाई! दर्द! दर्द! आह...दर्द! कोई मेरी छाती दबा दो!

छिपा दो...कहीं मुझे छिपा दो...

अलक्षित गुफा... चट्टानी अँधेरे में दबी एक चीख...

कौन जानता है!

पुनश्च

कुछ लोग जीवन में फिर कभी नहीं मिलते। कुछ राहें जीवन में फिर कभी नहीं लौटतीं। कुछ पतझड़ ऐसे होते हैं, जो जीवन की बारामासी में हमेशा मौजूद रहते हैं। फिर भी जीवन चलता है, चलता है, चलता है, मद्धी!

कोई कचोट, जो कलेजे का हिस्सा हो गई। कोई अपमान, जो तड़प बनकर खून में शामिल हो गया। कोई अभाव, जो कभी पूरा न हो सका। कोई बेबसी, कोई हिकारत, कोई गम, कोई गुस्सा, कोई ख्वाहिश, कोई खुशी, कोई पुकार...इन सबको समेटे जीवन चलता है और आगे बढ़ता है।

हरदासपुर में लगभग मैं सालभर रहा। अब तक के मेरे जीवन के छत्तीस बरसों के बरअक्स वह एक बरस का अंतराल काफी छोटा था। पर उसका असर मेरी पूरी बनावट में बड़ा साबित हुआ।

वह छोटा अंतराल, मद्धी! तुम सोचो, कि एक छोटी-सी चाबी, जो जीवन के ताले से हर समय लटकती है! एक छोटा-सा दिल, जो जीवन के अंतस् में हर समय धड़कता है! एक छोटा नक्षत्र, जो जीवन के अंबर में हर समय चमकता है! एक छोटी-सी कील, जो जीवन के पैरों में हर समय टभकती है! एक छोटी-सी दुनिया, जो आज मेरी दुनिया की हर शै में शामिल है!

वह छोटी-सी दुनिया, मद्धी, जहाँ एक आदमी की भूख हर दिल को बेकल करती थी, जहाँ एक आदमी की खुशी हर चेहरे पर खेलती थी, जहाँ एक आदमी का दुख हर सीने में हहाता था, जहाँ एक आदमी की पुकार पर हर दरवाजा खुल जाता था, जहाँ एक आदमी का घर हर घर में नजर आता था, जहाँ धन नहीं था, जहाँ आदमीयत ही धन था और आदमीयत ही धर्म!

वह दुनिया आज नहीं होकर भी, सन् दो हजार एक की बाढ़ में गंगा के पेट में समाकर भी, मुझमें बाकी है और मेरे सपनों को रोशनी देती है।

एक छोटे-से हथौड़े ने मुझे तोड़ा!

एक छोटी-सी हथेली ने मुझे रचा और तराशा, मद्धी!

लंबी कविता

चार पुरुष और स्वर्ण युगों पर शोकगीत

विवेक निराला

(1)

हम चार दोस्त थे,
बिल्कुल आवारा, लेकिन
संस्कृति के प्रश्नों को
अपने कन्धे पर उठाए
संस्कृतिकर्मी कहलाने को उत्सुक।

हम अपने इतिहास को
लेकर सिर धुनते
हम जीवन के ठाठ अनश्वर
बिनते-चुनते।

हम प्रश्नाकुल
दीवारों पर जगह-जगह
प्रश्नचिन्ह टाँगे
हम भोले बचपन-से
अपने-अपने उत्तर माँगें।

सत्ता के गलियारों की
आपा-धापी में
अक्सर वन्दन अभिनन्दन
कीर्तन-भजन-पूजन।
हम निर्जन में जैसे बन्दी

सम्पर्क : निराला निवास, 265, छोटी वासुकी, दारागंज, इलाहाबाद-211006, फोन-09415289529

बहुत अकेले
पाँवों में चलने की सृजन ।

परम विकट पथ चुना हुआ
अपना ही था
यह थकान-सुस्ती-ढीलापन
अपना ही था
रेशे-रेशे बिखरा जीवन
अपना ही था ।

सन्नाटे में
प्रश्न-उत्तरों की उधेड़बुन
सभी शस्त्र—ग्रन्थों को पढ़-गुन
आगे बढ़ते अपनी ही धुन ।

यूँ तो संगी विरले मिलते हैं
फिर भी दोस्त बने थे चारों
कवि, किस्सा—गो
इतिहासकार और खबरनवीस ।
किस्सा-गो, वह प्रथम पुरुष
बेलगाम घोड़ों पर
हर समय सवार
किधर जाएगा, किसे खबर ?

उसके हाथों में काठ की
दो तलवारें हैं ।
माथे पर दुश्चिन्ताओं
की सतरें हैं
खुद कहता है—शापित है
उसने भी मुट्ठी तानी थी
दुर्वासा के शाप से इतना थर्राया
अब एड़ियाँ घिसा करता है ।

फूट रहा है कोढ़
इसलिए अँगोछा ओढ़
चिड़ीमार—सा
परिन्दे पकड़ता है, उड़ाता है

अकेले में कुनमुनाता है
रोज एक नया किस्सा सुनाता है

द्वितीय पुरुष—
वह कवि जिसने
आस्तीन में साँप की तरह
आँखों में सपने पाले हैं
उनमें से कुछ को ही
सच होते देखा।
कुछ सपने नाकामी के
कुछ भयावने
कुछ सपने
सपने तो क्या, गड़बड़झाले हैं।

फिर भी नाउम्मीद नहीं है
उम्मीदों की फसल काट कर
अपनी खाली जेबों को भर
आगे बढ़ता जाता है।

अपने समय के जितना भीतर
उतना बाहर
वह वामन अपने छोटे कदमों से ही
युग-युग को नापा करता है।
छन्दों को तोड़ता—जोड़ता
जीवन की लय
पकड़ता—छोड़ता
प्रियवाची काव्य—पुरुष।

तृतीय पुरुष—
इतिहासकार वह स्वतन्त्र।
बहुत अहिंसक
युगों-युगों की राख कुरेदता
सत्य-शोधक।

उसका जीवन अभिशप्त शिला
जिस पर नहीं लिखा गया
कोई लेख

कद-काठी का
गर्वोन्नत विजय स्तम्भ ।
साम्राज्यों के उत्थान-पतन
की बातें करता
राज-व्यवस्थाओं का
वह विश्लेषक
अपनी झोली में
जब भी हाथ डालता है
एक नायाब चीज निकालता है ।
काले-लाल-धूसर मृदभाण्ड
सोने, चाँदी, चमड़े के सिक्के
कटी-फटी प्रतिमा
अथवा अन्नादि के जले हुए कण ।

अपने औजारों से वह
हथियारों को परखा करता
लिए हुए एक सन्दूकची
चलता-फिरता
सभ्यता का सांस्कृतिक अजायबघर ।

चौथा पुरुष—पत्रकार
स्कूप तलाशता
दौड़ता—भागता
सम्पादकों पर लानत भेजता
मालिक को गरियाता ।
चोरी-डाका-दुराचार
थाना-कचहरी-तहसीलदार
सबको साधते पस्त
लोकतन्त्र का चौथा पाया ।

अपने समाज का वह प्रहरी
समझा करता है
सत्ता की
सब चालें गहरी
पूर्व जन्म के नारदोचित
संस्कारों से
जगह पर, समय पर उपस्थित

(2)

हम थे चार पुरुष
आपस में लड़ते-झगड़ते
स्वर्णयुग का हर यूटोपिया
हमको आकर्षित करता।
कुत्ते की तरह हॉफते हुए
हम उस तक
किसी भी सूरत में
पहुँच जाना चाहते थे।

बदहाल, लगभग मनुष्य विरोधी
स्थितियों में
अपने जीवन को झेलते
अपने एक जैसे जीवन को काटते।

हमने अपने को ही खाकर
भूख मिटाई
हमने अपना लहू चाटकर
प्यास बुझाई
खुद को समिधा मानकर
हमने आहुति दी

तिल-तिल
देह गलाते गए
अन्तस् को जलाते गए।

हमने तकलीफों को छूकर
महसूस किया
पीड़ा को सीने में धरकर
समझा है
जो कुछ भी देखा और जाना
जितने अंशों तक हमने सत्य को पहचाना
उतने तक
वैसा कहने के खतरे उठाए।

अपने समय को

नपुसंक कहकर
हम किसी स्वर्णयुग की
जालिम कल्पना में तल्लीन थे।
अपने सीमित और भोंधरे
हथियारों पर
हम बहुत गर्व करते थे।

हम लड़ाकू थे
एकदम मौलिक
विचारों की लड़ाई में
समान रूप से निपुण
हम चारों
पीठ पीछे वार नहीं करते थे—
हम प्रतिपक्ष को
पूरा मौका देते थे,
इसलिए अपने को नैतिक कहना
हमें अधिकार की तरह लगता था।

हम विचार को विचार से परास्त करना
चाहते हुए भी
बार-बार खुद हार जाते थे
क्योंकि प्रतिपक्ष
विचारों की लड़ाई को
अपने कूड़ेदान से शुरू करता था
और चाकू पर
लाकर खत्म कर देता था।

दरअसल
मायावी था हमारा शत्रु
वह नए रूप धरता जाता था
और उसकी शिनाख्त मुश्किल थी।

अपने सबसे अच्छे समय
के हम लोभी
मरुस्थल में गिरते-पड़ते
कितनी ही आँखों में गड़ते
हर सूर्योदय के बाद

जब हम निकलते
तो यह सोचकर कि लेकर
आएँगे कोई न कोई स्वर्णकाल
या तो मौत हमें वापस
एक साथ मिलने नहीं देगी।

इस तरह हमने
उन तमाम लोगों को बेवजह
डरा दिया था
जो हमें कुछ दिन और
जीवित देखना चाहते थे।
वे लोग
अपने अच्छे दिनों के
न आने से खीझे हुए
पोलियो के कारण
दोनों पाँवों की ताकत खोए हुए
रोगी की तरह
अपने हाथों में
हवाई चप्पलों के साथ
घिसट रहे थे।

बेहद डरे हुए खम्भड़
वे सिर्फ
इस देश का नागरिक
बने रहने की
जद्दोजहद कर रहे थे।
वे एक अदद
मतदाता पहचान पत्र
हासिल करने के लिए
बार-बार फोटो खिंचा रहे थे
परन्तु हर बार उनकी मानवाकृति
बैल में बदल जाती थी।

वे सब
हमारे ही प्रियजन थे
और हमारा
अवांछित भविष्य हो सकते थे।

कुछ लोग बिल्कुल चुप थे
जिन्होंने कई बार
नाजुक मौकों पर हमें
आत्महत्या का परामर्श दिया
वे सब आत्म-वध को भी
क्रान्ति मान चुके लोग थे।
हमसे पहले भी आए थे
सब सच-सच कहने वाले
दुनिया को अपना
शोध सच बतलाने वाले
दुःख है तो
दुःख का कारण समझाने वाले
समतल धरती को
गोल-गोल दिखलाने वाले।

(3)

वसन्त की पहली सुबह
जब हम जागे
हमें सामने खड़ा मिला
एक दिव्य पुरुष।
ऐसा जिसे देखते ही
उमड़ पड़े श्रद्धा।

उसकी लाल-लाल आँखों
के भीतर एक साथ
चारों ने झाँका
और किसी सम्मोहन में
बँधकर बैठ गए
अपने से वंचित।

उसने हमसे कुछ भी न कहा
इस तरह हमारे साथ रहा
उतने समय में भीतर-बाहर
कि हम आतंकित होने लगे थे।

उसका होना
एक तड़प का होना था
एक छटपटाहट
उसके साथ चली आई थी।
हमारे भीतर
इसीलिए भय था।

हम चाहते थे कि बने रहें
हम जैसे हैं, वैसे ही
तो क्या हर्ज है?

लेकिन, वह न तो हमें
और न दुनिया को
इस तरह देख सकता था।
वह मौन में भी
सिर चढ़कर बोलता जैसे
वह बोलता तो
श्रोता बेचैन हो उठते
वह अदृश्य होता
तो और गहरा जाता उसका एहसास।

वह महात्मा नहीं
ज्ञानी नहीं वह
नास्तिक नहीं
अभिमानिनी नहीं
कोई नजूमी नहीं, वह प्रियंवद।

वह चाहता था
कि हम जिँएँ उसकी तरह
मगर वैसे हम जी नहीं सकते थे
वह चाहता था
कि हम सोचें उसकी तरह
मगर हम वैसे सोच नहीं सकते थे
वह चाहता था
कि हम हो जाँएँ उसकी तरह
मगर हम उसकी तरह
व्याप्त नहीं हो सकते थे।

अपनी छोटी-छोटी
सीमाओं के हम कैदी
उसका कहा नहीं मान पाए अभी।
हमने हृदय से
उसके अभिनन्दन किये
असहायता की सारी लाचारी के साथ
फिर मिलने के आश्वासन पर
हम चारों
अलग-अलग दिशाओं में चले।

(4)

हम चार दोस्त
चार दिशाओं में
बीते कल की डोर पकड़कर
अतीत के कुण्डों में
डुबकियाँ लगाते
काश! हाथ आ जाए
कोई स्वर्णयुग।
प्रथम पुरुष ने
कूच किया सरयू की ओर
किस्सा—गो वह
रामराज के किस्से में
डूबा—उतराया
कई माह सरयू के तट पर
कभी-कभी
जल भीतर घुसकर
रहा खोजता एक स्वर्णयुग।

उसे एक स्त्री मिली
स्वर्ण प्रतिमा में बदल हुई
अपनी माँग में
किसी राजा के नाम का सिन्दूर भरे हुए
उसके दोनों ओर
दो बच्चे थे गिरे और मरे हुए।

एक ऋषि मिले
अपने श्वेत केश खुजलाते
और लगभग शाप की तरह
मिली हुई लम्बी उम्र पर पछताते।

उसे एक हिरणी मिली
किसी राजकुमार की छट्टी में
सीझे हुए
अपने हिरण की गन्ध से व्याकुल
इधर-उधर भागती,
उसे एक धोबन मिली
सब दाग धोती
रात-रात भर रोती-जागती
विगत कल में, सरयू-जल में।

होता तो मिलता
न स्वर्णयुग राम का।

कनक भवन की परिक्रमा कर
मकतूल शम्बूकों से डर
सरयू से मुँह मोड़
अपना अँगोछा छोड़ वह भागा।

सरयू में गोते खाकर
जाना उसने अवध में जाकर
रामराज स्वर्णयुग होता
तो सरयू भर पानी में
क्यों डूब मरते भगवान?

द्वितीय पुरुष—कवि
चला गया उज्जयिनी
महाकाल में मन्दिर में गिरा
वह जाकर, गश खाकर।

मालवा के आकाश में
उसने मेघों से होड़ लगाई
भटकता रहा बहुत दिनों तक

कालिदास की उज्जयिनी में
मेघदूत, यक्ष अथवा
विरहिणी प्रिया को
न पाता हुआ कवि
लौटा महाकाल के पास ।
न वैसे चन्द्रगुप्त न कालिदास
न वैसी उज्जयिनी ।

स्वर्णयुग भी वह क्या भला
जिसमें कोई
सिसकियाँ भर-भर रोता हो
कोई गान भी गाता हो
तो दुःख से फट पड़ते हों मेघ
कोई भीतर-भीतर जलता हो
और बढ़ जाता हो
पूरी पृथ्वी का तापमान ।

बिना किसी तर्क
आगत और विगत का फर्क
इस सोने का
इस युग का हो बेड़ा गर्क
हाय कितना विष?
कैसा नर्क?

कवि बेहद निराश हुआ
और पहले से ज्यादा
उम्रदराज दिखता हुआ
वहाँ से लौटा ।

अपने सुख और श्री से वंचित
गँवा कर अपना
सब कुछ संचित
भीख माँगते मिले
कवि-कुल-गौरव कालिदास ।

तृतीय पुरुष
उस इतिहासकार ने

मुस्कराते हुए अग्नि में प्रवेश किया ।
स्वर्णयुग लाने की खातिर
वह खुद गोया कुन्दन बन
जाना चाहता था ।
यह था पूर्ण समर्पण उसका ।

अग्निद्वार पार कर
पहुँचा यमुना-तट पर
मुगल काल में ।

कहाँ गया वह मुगल स्वर्णयुग
ढूँढा फिर वह
दीन-ए-इलाही
मगर मिली बस उसे तबाही ।

मिले उसे
छोटी-सी कुटिया में
लगभग अज्ञातवास झेलते
मानस पर जमा
धूल की परतें
पोँछ-पोँछ कर साफ करते
जर्जर तुलसी ।

विनय पत्रिका का अकाल
इतिहासकार को
पहली बार दीखा ।

पहली बार ही उसने जाना
जैसे मिट्टी की
परतों के नीचे और परत
वैसे ही इतिहास के बीच
एक और इतिहास ।

कह ही दिया जाता है अकथ्य ।
एक सत्ता के सामानान्तर
दूसरी सत्ता
सत्य की, साहित्य की ।

अबुल फजल, अल बरूनी
स्मिथ, हेग, टॉड वगैरह
जब लिखते हैं इतिहास
मुस्कराते हैं स्वर्णयुग ।

कोई स्वर्णयुग
जब मकबरे में तब्दील
होता है
तब सिरहाने के पत्थर पर
चीखता है झूठा समाधि लेख ।

हताश इतिहासकार
वह तृतीय पुरुष
सीकरी के
एक लाल पत्थर
पर सिर पटक कर
रोने लगा ।

उड़ चले खून के छींटे
टूट गया विश्वास
इसके फटे हुए सिर के साथ ।

समय के शिलालेख पर
दर्ज हो शायद कभी
एक टूटा हुआ इतिहासकार
और उसके रक्त से
हुआ और गहरा लाल वह पत्थर ।

खून से भीगा
इतिहासकार
डूबते सूर्य की तरह लौटा ।

चौथा पुरुष
लोकतन्त्र का चौथा पाया थामे
हवा को सूँघता
और वायु के साथ ही
पहुँचा नेहरू के युग में ।

आधुनिक भारत के
स्वर्णयुग की तलाश में
टकराया भूल से
किसी की छाती में
गड़े त्रिशूल से।

छूरोँ और कटारों से
लुकता-छिपता वह भागा
खुली आँख
इधर-उधर स्वर्णयुग ढूँढ़ा
तभी दीखा कोने में
हे राम! कहता एक बूढ़ा।

अचानक दृश्य बदला
और उसने देखा
खून की एक गहरी लकीर
जहाँ बाँट रही थी
इस महादेश को
ठीक वहीं
गोली चली
और मारा गया इतिहास—पुरुष
अकाल पुरुष वह वृद्ध

उसकी आँखें
कीचड़ से चिपचिपी हो चलीं
उसके नथुनों में
प्राण वायु के साथ
घुसने लगी सड़ रही लाशों की दुर्गंध।

जरायमपेशा लोगों का
पूरा जमघट लगा हुआ था।

आश्चर्य और सन्ताप
के मिश्रण से
वह भरभरा कर गिर पड़ा।

खुदाई खिदमतगारों की

मदद से किसी तरह
एक रेलवे स्टेशन
पहुँचकर उसने पाया
कि यह शहर चण्डीगढ़ था
और उसका
'प्रेस-पास' कहीं गिर चुका था।

वायु-गमन के बाद
रेल से पहली बार बिना टिकट
यात्रा में
पकड़े जाने के भय से
वह गन्तव्य स्टेशन से पहले ही
आउटर पर
चलती ट्रेन से कूद पड़ा
और अपने हाथ-पाँव तुड़वा बैठा।

(5)

हम चार पुरुष
चार दिशाओं में
जल, नभ, अग्नि और वायु
से आत्म लज्जित
खाली हाथ लौटे हुए
जब मिले
तो एक दूसरे के गले लग-लग
खूब देर तक रोते रहे।

शिशिर की घोर रात में
काँपते हुए
चार पुरुष हम
उस वसन्त का स्मरण करते
जिसमें मिला था दिव्य—पुरुष।

यह अन्धेरी रात थी
और हम सब शीत से आतंकित
तभी हमें ईशान कोण से

आता हुआ
जलती हुई मशाल-सा
दीखा वह दिव्य-पुरुष ।

उससे हमने अपने सब
दुखड़े कह डाले
अपना-अपना आँखों देखा
सच बतलाया
हमने अपने घाव दिखाए
अपने भयावह अनुभव
उससे बाँटते-बाँटते
हम चारों
एक बार फिर रो पड़े ।

विलाप और करुणा के बीच
सिगरेट सुलगाते हुए
दिव्य-पुरुष घूमा ।

एक लम्बा कश खींचकर
हमारी ओर पीठ कर
जोर से बोलना शुरू किया उसने
वक्तव्य दे रहा हो मानो
सम्बोधित करते हुए पूरा हिन्दुस्तान—
“किसी स्वर्णयुग के
दमकते हुए सोने की
नक्काशी के भीतर
अगणित घाव
अनवरत रक्तस्राव ।

सबसे जोखिम है इतिहास
में उत्खनन ।

सिंहासनों पर
बदलते हैं शासक जैसे-जैसे
सल्लनतें बदलती हैं
वैसे-वैसे निष्ठाएँ
और काल के पत्र पर

सरकारी मुहर के साथ
अंकित हो जाता है
अंगार के समान चमकता एक स्वर्णयुग ।

किसी भी कालखण्ड के
जख्म कभी नहीं भरते
वक्त भर भी नहीं सकता
कोई जख्म
किसी युग के जख्मों से
रिसता हुआ लहू
इतिहास से ज्यादा
साहित्य में दाखिल होता है ।

किसे कहते हो स्वर्णयुग—
जिसमें जागता है कवि
रात-रात भर
या वह जिसमें
रातें नागिन-सी डसा करती हैं
वह कौन सा स्वर्णयुग
जिसमें कोई फरियादी
निरन्तर रोने और
कभी भी नींद भर न सोने
की शिकायत करता है ।

कौन वह स्वर्णिम काल
जहाँ दुर्भिक्ष-अकाल
फटता है धरती का कलेजा
एक भूमिजा स्त्री
हार कर फिर
धरती में समा जाती है ।
अथवा समानता की माँग पर
एक दलित
कत्ल कर दिया जाता हो जिसमें ।

इतिहास से बाहर
एक कविता
कैद कर लेती है

इतिहास पुरुषों के
जूतों तक के निशान।

इतिहास में सुरक्षित होंगे
अशोक महान होकर
वहीं, कहीं आस-पास
समुद्रगुप्त, विक्रमादित्य, अकबर
कितने शक, कितने हूण
कनिष्क के साथ कितने कुषाण
मंगोल, चोल, चन्देल
परमार, सिसोदिया और चौहान।

लेकिन वह कौन स्वर्णिम अतीत
जब कोई कुचलवा दिया जाता है
उन्मत्त हाथी के पाँवों तले
किसी का हाथ
काट लिया जाता है।

किस काल में होता है प्लावन
पोत में बचाए जाते हैं
किसी तरह बीज-ज्ञान
कब फटते हैं ज्वालामुखी
भूमि कब होती कम्पायमान।

सब कुछ निषिद्ध
होता है किस समय
खत्म हो जाते हैं
सारे अधिकार
शेष रह जाते बस कर्तव्य।

आप समझते होंगे
वह कौन-सा समय होता है
जब अँधेरा
जीवन का
बीजशब्द बनता जाता है
हिंसक पशु

खुलेआम घूमा करते हैं ।

स्वर्णयुग
जो तुमने चाहे
मेरे लेखे
वह कठिन समय, वह बुरा समय ।

स्वर्णयुग के लिए
पीछे मत लौटो मेरे बच्चों
आगे बढ़ो
तुम्हारे बिना
कोई स्वर्णयुग होगा कैसे?
तुम अपने भावी सपनों
का निर्माण करो
मायावी अतीत कारा है
इससे बाहर निकलो ।”

इतना कह उस दिव्य पुरुष ने
अपने बाएँ हाथ को झटका
सिगरेट
बुझ चुकी थी अब तक
जिसे उसने मसल कर फेंका ।

इससे पहले
कि उसके लम्बे वक्तव्य से
बाहर आ हम
कुछ कह पाते
वह काँपते हुए
एक प्रकाशवृत्त में बदला
और फिर गुम हो गया ।

(6)

कई-कई दिनों के जागे
हम चारों जो विफल अभागे
निश्चिन्त होकर सोए

बहुत दिनों तक खोए-खोए
भावी जीवन के स्वप्नों में
उठे तो फिर भूख के साथ ।

हम अपने समय से
खाये हुए लात
करना चाहें अब
नए दिनों की बात
मगर अब भी मुश्किलें बहुत थीं ।

गाँधी अब महज
एक मजबूरी का नाम था
ब्रह्मचर्य—नहीं वर्य
नपुंसक बनाता जो
अहिंसा के नाम पर
कनपटी पर तमाचे
ऐसे में कौन अब
गाँधी को बाँचे ।
मजबूरी का नाम था
पूरा विचार ही
लाचार और बेकाम था ।

अब उसके नाम पर
डोलता नहीं पत्ता
घिस-घिस कर नाम उसका
चोंथ-नोंच डाली सत्ता
ये बदलाव के दिन
अलबत्ता... ।

शक्तिपात
समय आपात
संवैधानिक अधिकार ही
करते आघात ।

लोहिया और जय प्रकाश
अंधकार में हारे

व्यर्थ हो चुके जैसे
चिन्तक सब लस्त-पस्त
संगठित आन्दोलन
हुए पथभ्रष्ट-न्यस्त ।

नक्सलवाड़ी के
शहीद मजदूर-किसान
आत्महत्या को विवश नौजवान
अधूरे ही रहे ख्वाब
हर बार हर सवाल
रह जाता लाजवाब ।

शासक और सन्त
एकमेक हो गए
करते हुए घोषणा—
इतिहास का अन्त
विचारों का अन्त
हा हन्त! हा हन्त!
कविता का अन्त
प्रभु—महन्त ।

जब ईश्वर बौराया
जंगल-जंगल भटके
जब आतंकी हत्यारे
उसके पीछे दौड़ें
जब ईश्वर को भी
मुश्किल से जान बचानी हो
जब भक्तों ने ही
तख्तों की हठ ठानी हो
वह कठिन समय, हमारा समय ।

चमकता हुआ बाज़ार
लपलपाते हुए हथियार
लील लेने को तैयार
समूचा संसार ।

मरता हुआ मेसोपोटामिया
घुटता हुआ कोरिया, ईरान
लातीन अमरीका, दक्षिण अफ्रीका
भूखा इथोपिया
क्यूबा, वियतनाम
ऐसे ही कितने नाम ।

अतीत से बाहर
हमारा वर्तमान कितना भयावना
साम्राज्यवादी कर
गहते केश
गिरवी होता जाता
हमारा प्यारा देश ।

स्पेशल इकनॉमिक जोन
लखटकिया कार
मोबाइल फोन
चिन्ता से बाहर—
आटा, किरासिन, नोन
स्पेशल इकनॉमिक जोन ।

किसान बेज़मीन
अपने स्वत्व से हीन
होकर माँगते-फिरते मुआवजा
भीख की तरह ।
भोगने को अभिशप्त सजा
लाठियाँ, हत्या, बलात्कार
व्यापक नरसंहार
और एक आतंककारी मौन
स्पेशल इकनॉमिक जोन ।

रक्तपात और लूट
देख-देख, टूट-टूट
फिर से एक बार जुड़े,
हम जैसे बहुत लोग
भागते—फिरते हैं छिपे
ऐसे ही लोगों की गही बाँह

हम चारों दोस्तों को
सूझी एक नई राह
हम चारों साथ मुड़े।

(7)

हम चार दोस्त
निकले वन की ओर।
वन दरोगा की आँख बचाकर
एक गिरे पेड़ को
खींच कर लाए।
बनाए उसे चीर कर चैले
फिर उपलों के ऊपर धरकर
चिता बनाई।

चौराहे पर
सिनेमा के पोस्टर
चिपकाने के लिए
रखी हुई बाँस की सीढ़ी
को हमने लालच से देखा।

उसकी डाँड़ों को तोड़
कर हमने
उसे मूँज से बाँधा
और टिकठी की शक्ति दी।

हम चार पुरुषों ने
उस पर
लिटा दिए
अपने-अपने अतीत के स्वर्णयुग।
हम चारों ने
अर्थी की अपने
पुनर्शक्तिसम्पन्न कन्धे दिये।
हमने अपने स्वर्णयुगों की
चिता जलाई
अपने-अपने मोह
को राख होते हुए देखा।

हम चार पुरुषों ने
हम चार दोस्तों ने
मृत स्वर्णयुगों पर
मिलकर गीत लिखा ।

मोहभंग से
ऊपर उठकर
मानो हँसते हुए स्वयं पर
वह शोकगीत यहाँ
फिर से गा नहीं सकते ।

विचारधारा एक सामाजिक अन्तर्ज्ञान है

जयनंदन से अविनाश कुमार सिंह की बातचीत

‘सन्नाटा भंग’, ‘विश्व बाजार का ऊँट’, ‘एक अकेले गान्धी जी’, ‘कस्तूरी पहचानो वत्स’ जैसे कुल नौ कहानी संग्रह, ‘श्रम एवं जयते’, ‘ऐसी नगरिया में केहि विधि रहना’, ‘सल्लनत को सुनो गाँव वालों’ जैसे अपनी तरह के विलक्षण उपन्यास और ‘नेपथ्य का मदारी’, ‘हगला’ तथा ‘हुक्मउदूली’ जैसे तीन चर्चित नाटकों की रचना कर चुके जयनंदन हमारे समय के निहायत जरूरी कथाकार हैं। जिस हिसाब से बाजारू मुहावरों की रौशनाई में रचनाशीलता का छद्म प्रचारित किया जा रहा है वहाँ जयनंदन जैसे कथाकार का होना बेहद आश्वस्तदायक है। जयनंदन देश के एक बड़े कॉर्पोरेट घराने के मातहत हैं लेकिन जनपक्षधरता के मसाईल पर बेलौस आवाज उठाने वाले हैं। वे स्वयं एक स्कूल हैं, जहाँ से कई लोगों ने साहित्य का ककहरा सीखा है। यह बात दीगर है कि बाजार ने अपनी गिरफ्त में आज की तथाकथित युवा रचनाशीलता को धारहीन कर दिया है। फिर भी जयनंदन आश्वस्त और आशान्वित हैं कि आज के बाढ़-साहित्य में भी कुछ मजबूत जड़ें बनी रहेंगी और कुछ कोपलें जरूर टिकी रहेंगी।

—अविनाश कुमार सिंह

अविनाश कुमार सिंह—हम बातचीत की शुरुआत युवा रचनाशीलता से करते हैं। गत वर्ष आप हिन्दी की एक प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिका के युवा-कथा-आयोजन में अतिथि सम्पादक की भूमिका में रहे। आज जब आप उम्र और तजुर्बे का लम्बा दौर गुजार चुके हैं तो आप के लिए ‘युवा’ के मानी क्या हैं? क्या वाकई युवा रचनाशीलता एक गम्भीर साहित्यिक दस्तक है या इस पूरी प्रक्रिया में बाजार की कोई चालाक भूमिका है?

जयनंदन—युवा चूँकि अपने टटके अनुभवों और वक्त के अद्यतन तकाजों से परिपूर्ण तथा किसी भी तरह के आग्रहों से मुक्त होते हैं, इसलिए उनकी रचनाशीलता में एक ताजगी और एक नवीनतम कथा रस तथा मौलिक कंटेंट का समावेश होता है। जिनमें यह सब नहीं होता वे युवा होकर भी कोई निशान नहीं बना पाते। कुछ युवा लेखक ऐसे भी प्रकट होते हैं जिनमें

सम्पर्क : जयनंदन, एस.एफ-3/116, डिस्को बारादारी फ्लैट्स, साकची, जमशेदपुर-831001 (झारखण्ड)
फोन. 06572433056, 2143942

शुरुआती दो-तीन रचनाओं तक ही युवापन अर्थात् नवीनतम कथा-बोध रह पाता है, फिर वे या तो चुक जाते हैं या फिर खुद को पुराने ढर्रे पर घसीटते चलते हैं। पिछले दिनों युवा लेखकों को आगे लाने में कुछ पत्रिकाओं और सम्पादकों ने बेशक बाजार को ही ध्यान में रखकर तथा खुद को उनका गॉडफादर के तौर पर स्थापित करने के खयाल से अति उत्साह दिखाया। यहाँ मैं जोड़ना चाहूँगा कि बाजार को ध्यान में रखना कोई गलत बात नहीं है, आखिर साहित्य जब पाठकों के पास पहुँचता है तो उसे एक उत्पाद बनकर ही पहुँचना पड़ता है। साहित्य सृजन की परम्परा को अगर आगे चलना है तो नई पीढ़ी अर्थात् युवाओं की भागीदारी सुनिश्चित करना जरूरी है। निष्कर्षतः यह कि युवा के मानी नई पीढ़ी है। साहित्य के प्रति किसी भी तरह उनमें रुचि जाग्रत की जा रही है तो इसे सकारात्मक नजरिए से ही देखा जाना चाहिए।

अविनाश कुमार सिंह—एक युवा कथाकार ने कहा है कि 'हम जो लिख रहे हैं, भाषा के जिस ढब में लिख रहे हैं वही पर्याप्त है, विचारधारा और इतिहास जैसी चीजें बेकार हैं।' क्या वाकई आज की रचनाशीलता भाषा के चमत्कारी चरित्र को बहूँ मान बैठी है और स्वयं को सिद्ध! क्या विचारधारा और इतिहास जैसी चीजें दोयम हो गई हैं?

जयनंदन—जो युवा ऐसा कह रहे हैं वे साहित्य को फास्टफूड समझ रहे हैं। भारतीय व्यंजनशाला में फास्टफूड की क्या वकत है हम सभी जानते हैं। उनके बड़बोलेपन और आत्मालाप से साहित्य की जो प्रकृति है वह बदल नहीं जाएगी। विचारधारा के बिना आदमी और केंचुए में ज्यादा फर्क नहीं रह जाता। विचारधारा का यह तात्पर्य नहीं है कि हम कसम खाकर किसी पार्टी विशेष के मेनिफेस्टो से संचालित हों। विचारधारा एक सामाजिक अन्तर्ज्ञान है जो न दिखते हुए भी रचनाओं में अन्तर्भुक्त होता है। तुलसी ने भले कहा हो कि उनका सृजनकर्म स्वान्तः सुखाय है, लेकिन उनका सामाजिक परिप्रेक्ष्य कितना व्यापक है, यह सृजन के पाँच सौ वर्षों बाद भी महसूस जा रहा है। इतिहास हमारी प्रगति की मंजिलें हैं, उन्हें नजरअन्दाज करना किसी महल की बुनियाद को झुटलाने जैसी बात होगी।

अविनाश कुमार सिंह—विचारधारात्मक प्रतिबद्धता और साहित्यिक संरचना का सवाल कैसे तो काफी पुराना है लेकिन, बदली हुई राजनीतिक, सामाजिक परिस्थितियों में इस सवाल की तीव्रता को कहाँ तक महसूस किया जा रहा है?

जयनंदन—राजनीतिक—सामाजिक परिस्थितियों में काफी कुछ मोहभंग और मूल्यों—सिद्धान्तों का जो क्षरण दिखाई पड़ता है, वह विचारधारा की अनुपस्थिति या नकार से ही उपजा है। सुर और लय की जिसे समझ न हो वह अगर कोई वाद्य बजाने की हठ कर ले तो बेसुरा शोर ही पैदा कर सकता है, कोई हृदयस्पर्शी धुन नहीं निकाल सकता।

अविनाश कुमार सिंह—आजकल फेसबुक, ब्लॉग्स जैसे संचार और सम्पर्क माध्यमों के बीच साहित्यिक लेखन पाठक-वर्ग से कितना अटैच हो पा रहा है! साथ ही चेतन भगत जैसे रचनाकारों की व्यापक स्वीकार्यता के बीच गम्भीर साहित्य का सृजन आपके हिसाब से कितना चुनौतीपूर्ण और सम्भावनापूर्ण है?

जयनंदन—फेसबुक और ब्लॉग्स बेलगाम अभिव्यक्ति के क्षणभंगुर माध्यम हैं। चूँकि इसमें चुनाव और नियन्त्रण नहीं है, इसलिए बड़ी मात्रा में कूड़ा, प्रलाप या फिर भड़ास ज्यादा आ रहे हैं। इन्हें साहित्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती। चेतन भगत चीजों को सरलीकृत करके अच्छा लिख रहे हैं। इन्हें लुगदी साहित्य का दर्जा देना न्यायोचित नहीं होगा। जहाँ तक स्वीकार्यता का सवाल है, साहित्य की स्थिति सदा ऐसी ही रही है। गम्भीर साहित्य पढ़ने वालों की संख्या हर काल में सीमित ही रही है।

अविनाश कुमार सिंह—आपकी कहानियों और उपन्यासों में हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध और इसी से लगायत साम्प्रदायिकता का प्रश्न लगातार उपस्थित है, लगभग रचनाधार्मिता के केन्द्रीय सरोकार के रूप में। इसका व्यक्तिगत सन्दर्भ क्या है?

जयनन्दन—मैं जहाँ पला-बढ़ा, वह एक मुस्लिम बहुल गाँव है। मेरी शुरू की तीन जमात तक की पढ़ाई और मेरा गाँव में रहने तक उठना-बैठना उन्हीं के साथ रहा। गाँव के जो लोग मुझे याद आते हैं, उनमें ज्यादातर मुस्लिम वर्ग के ही लोग हैं, इसलिए जब गाँव आता है मेरी रचनाओं में तो वे ही चरित्र के तौर पर उभरते हैं। उनके दुख-दर्द, तहजीब और रवादारी को मैंने गहराई से आत्मसात किया है।

अविनाश कुमार सिंह—गाँवई हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध और शहराती हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध और स्वरूप में क्या मूलभूत अन्तर आप पाते हैं?

जयनन्दन—बहुत अन्तर है। शहराती हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध सर्वथा यान्त्रिक और पाखण्ड पर आधारित है। इफ्तार पार्टी देने और खाने से यहाँ सम्बन्ध व्याख्यायित होते हैं। गाँव का सम्बन्ध नैसर्गिक सम्बन्ध होता है। उनमें कोई दिखावा या स्वार्थ निहित नहीं होता। वे दिल से एक-दूसरे की भावनाओं का आदर करते हैं और आड़े वक्त में परस्पर सहयोगी होते हैं।

अविनाश कुमार सिंह—एक साक्षात्कार में विख्यात कथाकार मंजूर एहतेशाम ने कहा था कि 'जब तक हिन्दुओं का बड़ा हिस्सा सेकुलर नहीं होगा यह मुल्क सेकुलर नहीं होगा।' आप की सहमति है या असहमति? तनिक विस्तार से बताएँ।

जयनन्दन—साम्प्रदायिक सह अस्तित्व के मामले में अपने इस मुल्क की जो बनावट है वह पूरी दुनिया में एक मिसाल है। छिटपुट दंगों और वारदातों से मुल्क के सेक्यूलरिज्म पर सवाल नहीं उठाया जा सकता। धार्मिक टकराव के नाम पर राजनीतिक कारणों से जो कुछ घटनाएँ यहाँ घटती हैं, उनसे कई गुणा ज्यादा उन मुल्कों में घटती हैं जो एक ही मजहब के मुल्क हैं। भारत की अस्सी प्रतिशत आबादी गाँवों में रहती है। गाँव के सीधे, सच्चे, सरल लोग प्रायः मिल-जुलकर रहने में ही विश्वास करते हैं। बड़े दंगे जब भी हुए हैं शहरों में ही हुए हैं। इस लिहाज से तो हम बेहिचक कह सकते हैं कि आबादी का बड़ा हिस्सा हमेशा ही धर्मनिरपेक्ष रहा है।

अविनाश कुमार सिंह—अयोध्या में जो हुआ और जहाँ वह अब ठहरा हुआ है, नोआखाली में जो हुआ, गोधरा में जो हुआ और पूरे राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय परिवृश्य में जो धर्म के नाम पर होता रहता है, क्या आपको ऐसा लगता है कि किसी धर्मनिरपेक्षता के सरकारी मुहावरे या सर्वधर्म समभाव के आदर्शवादी नारे या किसी पैन इंडियन रिलीजन के अतिवादी फैसले के अपेक्षा धर्मविहीन समाज की संकल्पना की ओर बढ़ना ज्यादा मानवीय और मुफीद होगा?

जयनन्दन—धर्म कोई भी हो, वह दया, प्रेम, सहानुभूति, भाईचारा, शिष्टता, विनम्रता ही सिखाता है। इसका विकृत रूप सामने तभी आता है जब एक धर्म के लोग दूसरे धर्म को उल्टा और विरोधी अर्थ देने लगते हैं। जब लोगों को लड़ाना और बाँटना ही उद्देश्य हो जाएगा तो धर्महीन समाज रंगभेद, कदभेद, स्थानभेद, लिंगभेद आदि पर दंगा कर लेगा।

अविनाश कुमार सिंह—सलमान रुश्दी और तस्लीमा नसरीन जैसे मुस्लिम लेखक मुस्लिम कट्टरपंथ को मुखर रूप से अपनी रचनाओं में आलोचित करते हैं। क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि कबीर और कुछ हद तक प्रेमचन्द के बाद इस पहलू से हिन्दी और हिन्दू रचनाकारों ने स्वयं को बचाने की कोशिश की है! सेकुलर छवि की निर्मिति में क्या हिन्दी पट्टी के रचनाकारों ने एक 'सेफ जोन' नहीं बना लिया है!

जयनंदन—कोई भी लेखक हमेशा अल्पसंख्यक और कमजोर हितों का ही पक्षधर होता है। जहाँ मुस्लिम अल्पसंख्यक हैं वहाँ हिन्दू या हिन्दी लेखक उनके साथ खड़ा होता है। जहाँ हिन्दू अल्पसंख्यक हैं, वहाँ मुस्लिम लेखक उनके साथ खड़े हैं। हिन्दी में विपुल मात्रा में साम्प्रदायिक सौहार्द्र की रचनाएँ मौजूद हैं।

अविनाश कुमार सिंह—ऐसा माना जा रहा है कि विमर्शों का दौर है। दलित, स्त्री का मुद्दा सबसे ज्यादा फोकस में है। क्या आपको लगता है कि अल्पसंख्यक विमर्श जैसा कोई सुचिंतित दर्शन भी इसमें चस्पा कर दिया जाए! विमर्शों की इस बाढ़ में समय और समाज—बोध को खंड-खंड कर देने की साजिश भी है क्या?

जयनंदन—अल्पसंख्यक विमर्श तो एक चिरस्थायी विमर्श है। वर्षों से इस पर मन्थन होता रहा है। दलित और स्त्री का मुद्दा भी कोई नया नहीं है, लेकिन इसे केन्द्र में लाने का सघन प्रयास जरूर इन दिनों दिखाई पड़ रहा है। इन्हें आगे बढ़ाने वाले कई सक्षम अवलम्ब भी मिल गए हैं। चूँकि इस समय स्त्री और दलित वर्ग के शैक्षणिक स्तर में काफी इजाफा हुआ है। अतः इनमें लिखने-पढ़ने वाले लोग भी बड़ी संख्या में उभरकर सामने आए हैं। विमर्शों को साजिश का नाम देना ठीक नहीं होगा। विषय के विभिन्न पहलुओं को देखने, खँगालने और समझने की दृष्टि से इस तरह के अभियान की सार्थकता स्वयंसिद्ध है।

अविनाश कुमार सिंह—पिछले दिनों नामवर जी ने गहरी चिन्ता जताई थी कि 'आज के रचनाकार किसानों की समस्या पर न कुछ लिख रहे हैं न कर रहे हैं। नोएडा, भट्टा-परसौल, सिंगूर, नन्दीग्राम जैसी ज्यादतियों पर साहित्यकारों की तरफ से कोई प्रतिरोधात्मक पहल नहीं दिख रही।' मैं इस बात से साबका रखते हुए यह जोड़ना चाहता हूँ कि सुविधापरस्त साहित्यजीविता का ही परिणाम है कि अन्ना हजारे जैसे खाए-पिए-अघाये दिग्भ्रमित घोंघाबसन्ती आन्दोलनों को भीड़ तो मिल जा रही है, लेकिन झारखण्ड सहित कई राज्यों में औद्योगिकीकरण के नाम पर जारी किसानों के विस्थापन की समस्या पर इधर से कोई समवेत और पुरअसर आवाज नहीं उठ रही। संक्षेप में मैं इस सवाल को बड़ी संवेदनशीलता के साथ रखना चाहता हूँ कि साहित्यकार को एक सामाजिक एक्टीविस्ट के रूप में उतरने के लिए और कितनी हत्याओं, आत्महत्याओं, विस्थापनों की खुराक चाहिए?

जयनंदन—विस्थापन की समस्या पर काफी कविताएँ और कहानियाँ लिखी गई हैं। किसानों की समस्या पर भी खेती-बारी और गाँव से जुड़े लेखकों ने बहुत कुछ लिखा है। नामवर जी अपने घने सम्पर्क के कुछ विशिष्ट लोगों को ही पढ़ते हैं या उन्हें पढ़ते हैं जो बार-बार उन्हें निहोरानुमा दस्तक देता रहता है। राजेन्द्र यादव कहते हैं कि साहित्यकार की लड़ाई का औजार कलम है, लाठी, तमंचा या तलवार नहीं। साहित्य वायुसेना के हवाई हमले की तरह है जो पैदल सेना का आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त करता है। इसलिए इस अपेक्षा में कि लेखक एक एक्टीविस्टके तौर पर पोस्टर, बैनर और हथियार लेकर सड़क पर उतरेगा, मंसूबे में जरा घालमेल-सा शामिल लगता है।

अविनाश कुमार सिंह—आप एक पूँजीवादी संस्थान के मताहत हैं और अपने रचनात्मक सरोकारों में जनवादी। दो बुनियादी तौर पर भिन्न संरचनाओं के बीच रचनात्मक प्रतिबद्धता और वैचारिक द्वन्द्व के बीच कथा-सूत्रों को खोजना और पिरोना आपके लिए अनुभव के स्तर पर किस तरह से सामने आता है?

जयनंदन—मेरे लेखन पर संस्थान के द्वारा किसी तरह का कोई अंकुश कभी आरोपित नहीं किया गया। इसलिए कि प्रबन्धन में कोई हिन्दी फिक्शन शायद पढ़ता ही नहीं। सहकर्मी कामगार भाइयों के अन्दरूनी अन्तर्विरोध और द्वन्द्व को सामने लाने में मैंने पूरी आजादी ली

और इसकी परवाह नहीं की कि कोई नाराज भी हो सकता है। समय ने मुझे अनुभव के अनेक जमीनी धरातलों से गुजरने का मौका दिया। बहुत कम ही उम्र में मैंने खेती के तमाम श्रमसाध्य पचड़े झेल लिए, फिर कारखाने में 20 वर्षों तक एक मजदूर के तौर पर तेल, ग्रीस और कालिख से लिथड़कर विभिन्न मशीनों पर लोहे छिले, अब इधर 16 वर्षों से ऑफिस में गृह पत्रिकाओं का सम्पादन देख रहा हूँ।

अविनाश कुमार सिंह—उद्योग-नगरी जमशेदपुर की मशीनी जीवन-शैली में रहते हुए गाँव की नॉस्टेलजिया आपकी रचनात्मकता को कहाँ तक तय करती है? छुनन मियाँ जैसे पात्रों के गठन में आपका अपना गाँव कहाँ तक शामिल है?

जयनंदन—जन्म से लेकर युवा होने तक एक-एक पल गाँव को जिया। इस जीने में गाँव का रंग एक बार जो दिलो-दिमाग पर चढ़ गया तो फिर उस पर दूसरा रंग चढ़ ही नहीं पाया। शहर में अर्से से रहते हुए भी भीतर गाँव धड़कता रहता है। छुनन मियाँ मेरे गाँव की मिट्टी की ही उपज हैं। उनके जैसे अनेक चरित्र जो मेरी कहानियों में आए हैं, रफू मियाँ, चेथरू मियाँ, रदीफ, नुरसी खाला, चमनी आपा, सलतनत, रब्बानी आदि सभी मेरे गाँव-जवार के ही बीज पात्र हैं।

अविनाश कुमार सिंह—कहते हैं कि विधाओं का अपना समाजशास्त्र होता है। आप क्या मानते हैं विधाओं के स्तर पर हिन्दी साहित्य फिलवक्त किस विधा के नेतृत्व में आगे बढ़ रहा है? और क्यों?

जयनंदन—कविता को लोगों ने आसान विधा मानकर बहुत खर-पतवार भर दिया है। दो ढाई सौ प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं के खाली पेट भरने की खुराक कविताएँ ही पूरा कर रही हैं। अतः कविताएँ सिर्फ लिखी और छपी जा रही हैं, पढ़ी नहीं जा रहीं। पठनीयता अगर बची हुई है तो उसका श्रेय कहानी को ही जाता है। कहानी में भी खर-पतवार है, लेकिन इसमें चूँकि ज्यादा एकाग्रता, ज्यादा श्रम और ज्यादा समय चाहिए होता है, अतएव इसमें कुछ न कुछ रचाव तो बेशक अन्तर्निहित होता ही है। परिमाण की दृष्टि से भी कहानी बहुत नहीं लिखी जा रही है। ज्यादातर समकालीन पत्रिकाओं को तो कहानी मिल ही नहीं रही है, वे आलेखों, कविताओं अथवा पूर्व चर्चित कहानियों के पुनर्प्रकाशन से ही काम चला रहे हैं।

अविनाश कुमार सिंह—अन्त में हिन्दी साहित्य के कुछ सम्भावनाशील हस्ताक्षर जिनमें आप भविष्य में भी दिखाई देने की जमीन देखते हैं और कुछ सन्देश वर्तमान रचनाशीलता को!

जयनंदन—कई लड़के बहुत अच्छा लिख रहे हैं और उनमें देर तक टिके रहने की क्षमता है। कुछ नाम जो मुझे याद आ रहे हैं उनमें शामिल हैं—तरुण भटनागर, पंकज मित्र, कमल, संजय कुन्दन, पंकज सुबीर, प्रत्यक्षा, वंदना राग, कविता, मनीषा कुलश्रेष्ठ, दीपक श्रीवास्तव, राकेश मिश्र, निदेश कर्नाटक, राकेश बिहारी, उमाशंकर चौधरी, चन्दन पांडेय, विमलचन्द्र पांडेय, मनोज कुमार पांडेय आदि। मोबाइल और इंटरनेट काल की ये प्रतिभाएँ पुराने हस्ताक्षरों की तुलना में एक चमत्कारिक वैश्विक दुनिया की उपज हैं, अतः वे किसी सन्देश की मोहताज नहीं हैं। ज्ञान आप्लावित इस युग में अपने कैरियर के प्रति चौकन्ना यह पीढ़ी आगे बढ़ने का सारा तिलिस्म जानती है। उनसे कुछ सीखा भले जा सकता है सिखाया नहीं जा सकता।

सम्पर्क : अविनाश कुमार सिंह, 3, न्यू स्टॉफ क्वार्टर्स, कोग-ऑपरेटिव कॉलेज कैम्पस, सी.एच.एरिया, विष्णुपुर, जमशेदपुर-831001 (झारखण्ड), मो. 09471576404

और कितने यौवन चाहिए ययाति?

अशोक कुमार पाण्डेय

इतनी मार! ऐसा अत्याचार! जैसे किसी बनैले सुअर का शिकार कर रहे हों। और गालियाँ..सिगड़ी के कोयले-सी धधकती आँखों से टपकती नफ़रत। काले नाग-सी फुँफकारती बेल्टों की सपाट बक्कल से निकलकर तीनों शेरों ने जैसे एक साथ हमला कर दिया हो (अचानक से 'लोकतन्त्र के चौथे शेर' की याद आई थी कि ठीक उसी वक़्त माथे के पिछले हिस्से पर जोर से बक्कल की चोट लगी और फिर उसके बाद कुछ याद नहीं रहा)।

आखिर ऐसा क्या कसूर था मेरा? बस एक फोटो खींचने की इतनी बड़ी सज़ा? मुझे क्या पता था कि ऐसे ऐन वक़्त पर वह बेर उठाने के लिए झुक जाएगी और उसकी आँखों की जगह कैमरे में...अब तकदीर भी तो साली फूटी ही थी न कि ठीक उसी वक़्त मोबाइल भी घनघना उठा और चोरी पकड़ी गई, फिर उसका चीखना, कम्प्यून की बाड़ के कँटीले तारों में शर्ट का उलझना, खून, पकड़ो, भागने ना पाए, गदार, जासूस, चोर, सड़क, जीप, रिक्शा, नाली, पुलिस, मोबाइल, गदार, पकड़ो, साला, कमीना, थप्पड़, जूते, बेल्ट, बक्कल, शेर, खून...उफ़!

पाँच घंटे पुराना यह किस्सा दरअसल पूरे आठ साल पहले शुरू हुआ था जब गोरखपुर से 45 किलोमीटर दूर एक छोटे से कस्बे के राजकीय इंटर कॉलेज की आठवीं (ख) के क्लास-टीचर सादिक मियाँ के मझले बेटे अफजल खान ने अपनी बारहवीं की जीव विज्ञान की 'सफ' कॉपी के आखिरी पन्ने पर अपनी पहली प्रेम कविता लिखी थी।

चाहता हूँ तुम्हें प्रेम करना
तुम्हारी झील सी आँखों में डूब कर
पार कर लेना चाहता हूँ यन्त्रणा की गहरी खाइयाँ
तुम्हारे देह की अतल गहराइयों में
चैन से सो लेना चाहता हूँ उम्र जितनी लम्बी एक रात
सारी निराशा, सारे अभाव, सारी चिन्ताएँ
बहा देना चाहता हूँ तुम्हारे प्रेम के आवेग में

सम्पर्क : 508, भावना रेसीडेन्सी, सत्यदेव नगर, गाँधी रोड, ग्वालियर-474002 (म.प्र.) मो.-09425787930

इतना मुश्किल नहीं यह सब कुछ
पर क्या करूँ इतना गहरा दाग है इस कलेजे पर...
तुम्हारी एक हँसी के बरक्स हज़ार परेशान सी छायाएँ
रूदालियों के अनन्त विलाप
तुम्हारी एक छाँह के साथ
मीलों फैला दुखों का रेगिस्तान
हृदय की एक आकांक्षा के बरक्स
आत्मा की देह पर घाव हज़ार
शान्ति के उस एक पल के मुक़ाबिल
आवाजों और चीत्कारों के आक्षिपित बियाबान

मैं चाहता तो हूँ
हो जाना तुम्हारा शरणागत
पर अभिशप्त युग के बाशिन्दे
कब पा पाते हैं
चाही हुई विश्रान्ति!

फिर जैसा कि अकसर होता है, रात में अफजल के सो जाने के बाद सादिक मियाँ ने उनकी शर्ट और पैंट की जेबों, स्कूल के बैग और दराज़ की जाँच करने के बाद टेबल पर पड़ी कापियाँ पलटीं और यह कविता पकड़ी गई। सादिक मियाँ ने सरसरी तौर पर कविता पढ़ी और फिर 'या अल्लाह' करते हुए जो कटे पेड़ की तरह धम्म से बिस्तर पर गिरने नुमा बैठे तो अफजल एकदम से उठ बैठा।

सादिक मियाँ दोनों पंजों के बीच अपना चेहरा छुपाए लगभग सुबक रहे थे...अफजल की नज़र खुली हुई कॉपी पर पड़ी तो सारा माजरा समझ में आ गया। वह उठा और छिटक कर कोने में खड़ा हो गया। अब तक अम्मी भी आ चुकी थीं...बार-बार पूछा तो सादिक मियाँ ने वही पन्ना आगे बढ़ा दिया...अम्मी ने उल्टा-पुल्टा पर उन्हें क्या समझ में आता? उनके लिए तो लिखा हुआ हर हर्फ़ एक जैसा था...सादिक मियाँ देर तक वैसे ही बैठे रहे...अम्मी 'सब ठीक हो जाएगा' की धीमी-सी बेबस राग अलापती वहीं ज़मीन पर पड़ गई और अफजल उसी कोने में वैसे ही खड़ा रहा। फिर अचानक सादिक मियाँ उठे...और अफजल की ओर देखते हुए कहा उसकी माँ से, 'बेवकूफ...अब कुछ ठीक नहीं होगा...इश्क हो गया है तुम्हारे साहबजादे को...मुदरिस की औलाद और बीमारी इश्क की...तुम्हारे मायके का यही असर होना था हमारी जिन्दगी पर...हम क्या-क्या उम्मीदें लगाए बैठे हैं और ये चले हैं इश्क लड़ाने।'...अन्तिम वाक्य जैसे द्रुत लय में कहा गया और इसके खत्म होते-होते जीवविज्ञान की वह कॉपी अफजल के सर पर तबले की अन्तिम थाप की तरह गिरी और लगभग उसी गति से सादिक मियाँ कमरे से बाहर निकल गए। अम्मी कुछ देर तक सुबकती रहीं फिर दुपट्टे से आँसुओं को सहारा देती वह भी बाहर निकल गई। दोनों के जाने के बाद अफजल ने पहले तो बड़ी फुर्ती से कॉपी से वह पन्ना अलग करके पैंट की जेब में ठूस दिया फिर चैन से बैठकर सोचने लगा कि आखिर उसे इश्क हुआ किससे है? लेकिन ख्याल मोहल्ले की सारी लड़कियों के चेहरे पार करके ज़हीर मामू की कोठी तक पहुँच गए। वही कोठी जिसके सबसे बाहर वाले कमरे में मामू का दफ्तर

था। वही दफ्तर जिसमें किताबों की वह हैरतगोज दुनिया थी जिसमें गोते लगाने वह पागलों की तरह जाया करता था...अबू की इजाजत के बगैर किया जाने वाला इकलौता काम।

अबू जहीर मामू से बेइन्तिहाँ नफ़रत करते थे। वैसे भी कामरेड जहीर उल हक से इश्क और नफ़रत करने वालों की कोई कमी न थी। मजलिसों में उन्हें खुलेआम काफिर कहा जाता था तो मंचों पर उनकी एक आवाज़ पर सैकड़ों लोग मरने-मारने को तैयार हो जाते थे। दरमियाना कद, फ्रेंच कट दाढ़ी, पान से चौबीसों घंटे सुर्ख होंठ और आँखों पर मोटा चश्मा। मामू बोलते तो फिर अच्छे-अच्छों की बोलती बन्द हो जाती। बारह साल पहले जब उन्होंने एक ब्राह्मण लड़की से शादी की थी तो वह कस्बे का पहला प्रेम विवाह था। अपराजिता शुक्ला इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की सबसे खूबसूरत लड़कियों में शुमार थी और जहीर वहाँ उन दिनों इन्कलाब की अलख जगाते घूम रहे थे। छात्रसंघ के चुनाव में शहर के एम.एल.ए और खानदानी काँग्रेसी रामायण मिश्र के प्रपौत्र को हराकर जब वह अध्यक्ष बने तो शहर की राजनीति में जैसे भूचाल आ गया...लेकिन जब उन्हीं मिश्रा जी की ममेरी नतिनी से उनके इश्क के चर्चे फैले तब तो जैसे जान पर बन आई। खैर मामू ठहरे मामू...शादी हुई...गोलियाँ चलीं...दंगे बस होते-होते रह गए...और मामू को शहर छोड़ना पड़ा। फिर जो कस्बे में लौटे तो यहीं रह गए। हिन्दुओं की लड़की उड़ाने से खुश रिश्तेदारों को जब मज़हब और दीन पर मामू के ख्यालात मालूम पड़े तो उनका भी भ्रम टूट गया। मामू अपनी किताबों, वकालत और मजदूर आन्दोलन में ऐसे डूबे कि रिश्तेदारों का उनकी ज़िन्दगी में कोई खास मतलब ही नहीं रह गया।

मामू से अफजल का रिश्ता अजीब था। मज़हब के बारे में वह उनसे एक लफज सुनने को तैयार नहीं था लेकिन इसके अलावा हर मसाइल पर मामू का कहा अन्तिम सत्य था उसके लिए। मामू और मामी के पास दुनिया के हर सवाल का जवाब था। उनकी किताबों में सारी दुनिया थी। प्रेमचन्द, अमरकान्त, यशपाल, मन्टो, निकोलाई आसद्रोवस्की, हावर्ड फास्ट, बर्तोल्त ब्रेख्त, मार्केज, डी एच लारेंस, तालस्ताय, केदार नाथ अग्रवाल, नागार्जुन, येहूदा आमीखाई, राजेश जोशी, मंगलेश डबराल, पाश, कुमार विकल...जो मिलता वह पागलों की तरह पढ़ता चला जाता। सस्ते कागजों पर छपी तमाम पत्रिकाएँ जिनमें कई बार तो कवर भी ब्लैक एंड व्हाइट होते। उनमें छपी मामी की कविताएँ पढ़ते हुए उसे लगता कि काश कभी यहाँ मेरा नाम होता... यह कविता उन्हीं पत्रिकाओं और किताबों की मोहब्बत से जन्मी थी और बिना मामी को दिखाए वह इसे नष्ट नहीं होने दे सकता था। कहीं वह मामी से ही तो इश्क नहीं कर बैठा था...यह ख्याल आते ही एक गुलाबी-सी मुसकराहट चेहरे पर आई और फिर तुरन्त ही कानों तक पहुँचे हाथों ने तौबा कर लिए।

तब लगता था अब्बा मुझे समझने की ज़रा भी कोशिश नहीं करते। अब सोचता हूँ कि बाप-बेटे के रिश्ते में समझने-समझाने की गुंजाइश ही कहाँ होती है? आपने फ्रेंचन की करेक्शन पढ़ी है? इतने खुले दिमाग वाला अल भी कितना समझ पाया अपने बच्चों को और उसके बच्चे भी कहाँ समझ पाए उसे ...और समझा तो क्या ही पाते वे खैर एक-दूसरे को...खूंटों से बँधे जानवर लड़ाई में सिर्फ अपना नुकसान करते हैं। तो अब्बा ने ब्लडप्रेसर की बीमारी पाल ली और मैंने घर छोड़ दिया।

पागल हो गया था लड़का। चौबीसों घंटे खुराफात। न आज का होश न कल का ख्याल। पता

नहीं कौन-सा नशा था। किताबें हमने भी पढ़ी हैं...लेकिन किताब के फार्मूले ज़िन्दगी में नहीं चलते। चाँद में बैठी अम्मा के हाथ का काता कपड़ा पहना है किसी ने आज तक? लेकिन इनके पाँव तो थे ही नहीं ज़मीन पर। जहन्नुम मिले इस ज़हीर और बाभनी को। अपने खानदान की नैया डुबो कर चैन नहीं मिला तो मेरे बेटे के ही पीछे पड़ गए। ठीक है...ज़हीर ने जो किया सो किया। पर पढ़ाई तो ढंग से की। बाप की जायदाद है, अच्छी प्रैक्टिस है, दिल्ली तक पहुँच है तो उनका कोई क्या कर लेगा? लेकिन ये जनाब...बारहवीं में चौहत्तर फीसदी नम्बर लाने के बावजूद जाके गोरखपुर यूनिवर्सिटी में बी.ए. में नाम लिखा आए...क्या सब्जेक्ट लिए हैं—इतिहास, दर्शन और हिन्दी। फिलासफर बनने का शौक चर्चाया है। चार-चार आने की सड़ी हुई पत्रिकाओं में छपकर खुद को कवि समझने लगे हैं। जब सारी दुनिया इंजीनियर, डॉक्टर, एम.बी.ए. और न जाने क्या-क्या बनने पर लगी है तो ये न जाने कौन-से सपने पाले बैठे हैं...पहले लगा था कि इश्क-विश्क का चक्कर है। लेकिन ये जनाब तो इससे भी आगे निकल गए हैं। कहते हैं दुनिया बदल डालेंगे। इनके बदलने से बदल जाएगी दुनिया...बड़े-बड़े तो थक हार के बैठ गए अब ये चले हैं दुनिया बदलने! कौन समझाए इन्हें कि दुनिया ऐसे ही चलती रहती है अपनी चाल से। कितने हो-हल्ले मचे लेकिन हुआ कुछ नहीं। ज़मींदारी चली गई कागज़ों से पर खेत पर काबिज ज़मींदार रहे। जाति-पाति मिट गई कागज़ पर लेकिन बाभन बाभन रहा और मेहतर मेहतर। संविधान में लिख दिया गया सेकुलरिज्म लेकिन ज़मीन पर दंगे होते रहे मुसलसल। कितना लड़े ज़हीर साहब शुगर फैक्ट्री के मजदूरों के लिए...पर हुआ क्या? दिल्ली-लखनऊ की एक कलम के आगे सब बेवस...देखते-देखते वीरान हो गई फैक्ट्री। इस दुनिया में कामयाब वही है जिसने अपने लिए एक महफूज कोना खोज लिया। लड़ने वाले सिर्फ इतिहास की किताबों में इज्जत पाते हैं, ज़िन्दगी तो समझौतों से चलती है। बीस साल से हिन्दुओं के कॉलेज में पढ़ा रहा हूँ...सरकारी है तो क्या हुआ...मेरे और सलीम मेहतर के अलावा एक कर्मचारी नहीं रहा कभी मुसलमान। दाँतों के बीच में जीभ-सा रहता हुआ मैं जानता हूँ हकीकत इस मुल्क की। सोचा था पढ़—लिखकर एक लड़का किसी ढंग की नौकरी में आ जाएगा तो ज़िन्दगी चैन से गुजर जाएगी। एक तो वैसे ही किसी मुसलमान के लिए नौकरी वैसे भी मुश्किल है और ऊपर से इसके ऐसे लक्षण...पता नहीं क्या होगा इसका? सुनता भी तो नहीं...थोड़ी सख्ती की कोशिश की तो घर ही छोड़ दिया...पता नहीं कैसे रहता होगा बिना पैसों के...अल्लाह अक्ल दे इस नादान को...वह कमबख्त तो अब तेरे वजूद से भी इनकार करता है...लेकिन तू तो परवरदिगार है मालिक...अब तेरे करम का ही भरोसा है वरना तो कहीं कोई उम्मीद नज़र नहीं आती...।

आपने उम्मीद की शकल देखी है? उन दिनों हमें वह बिल्कुल सी पी की आँखों जैसी लगती थी। अजीब से दिन थे। चौबीस घंटों में छत्तीस की ऊर्जा...लगता कि एक पल भी चुके तो इन्कलाब सदियों दूर चला जाएगा। सी पी को सुनते हुए हम सारी ज़िन्दगी गुजार सकते थे उन दिनों। सिगरेट के धुएँ से भरे कमरों में सारी-सारी रात चलने वाली स्टडी सर्किल्स... कॉलेजों-स्कूलों के गेटों पर नुक्कड़ नाटक, भीड़ भरे चौराहों पर आम सभाएँ, परचे-पोस्टर-अखबार... बहसों...तैयारियाँ...और क्या होती है ज़िन्दगी इसके सिवाय? आप नहीं समझेंगे यह सब...आप कहाँ मिले किसी सी पी से सोलह की उम्र में? हमारे लिए तो बस कम्पून ही ज़िन्दगी थी।

इसके आगे की कहानी अफजल बता पाएगा न अब्बू...कुछ चीजें थोड़ी दूर से ही साफ़ दिखाई

देती हैं...पहाड़ की चोटी पर खड़े होकर पहाड़ की ऊँचाई का अन्दाज़ा नहीं लग सकता। भीतर से जो कम्पून लगता था, वह बाहर से देखने पर शहर के एक पुराने मोहल्ले का मकान लगता था जिसकी मिलिक्यत कभी देवयानी के पिता के पास थी और जिसके उत्तराधिकार के लिए हाईकोर्ट में मुकदमे चल रहे थे तो बहुत दूर से देखने वालों को यह एक ऐसा अनैतिक अड़्डा लगता था जिसमें लड़के-लड़कियाँ साथ रहते थे। कुल सात कमरों वाला एक पुराना मकान जिसके बाहर एक छोटा-सा बरामदा था और पीछे एक किचन गार्डन जिसके चारों ओर की सात फुट ऊँची चहारदीवारी पर कँटीले तारों की तीन फेरों वाली बाड़ लगी थी। इसमें ही रहते थे अफजल, श्रीकांत, अभय, राजेश, निहाल, रत्ना, निशिता, रंजना और अनामिका। बाहर का कमरा संगठन के दफ्तर की तरह उपयोग में लाया जाता था। अन्दर जाते ही बाईं ओर का सबसे पहला और बड़ा कमरा सी पी और देवयानी के लिए था। वे जब यहाँ आते तभी उसे खोला जाता। उससे लगे दोनों कमरे लड़कियों के लिए थे। दाहिनी ओर के पहले कमरे में लाइब्रेरी थी और दूसरा संगठन का स्टोर रूम। बाक़ी दोनों कमरे लड़कों के थे जिसके ठीक बाद किचन था। बीच के आँगन में एक पुरानी खाने की मेज थी जिसका उपयोग खाने के लिए कम और बैठकों के लिए अधिक किया जाता था। घर का खर्च चलाने के लिए सभी कुछ न कुछ करते थे। ज्यादातर ट्यूशन पढ़ाते...निहाल किसी सेठ के यहाँ रोज दो घंटे अकाउंट्स का काम करता था, निशिता एक प्रेस के लिए कम्प्यूटर पर डिजाइनिंग करती थी। बस अनामिका के बारे में किसी को कुछ पक्के तौर पर मालूम नहीं था। वह शायद अनुवाद का काम करती थी...काम अकसर रात में ही करती थी वह तो उसके लिए सी पी वाला कमरा उपयोग करने की छूट थी। जब सी पी या देवयानी नहीं होते तो वह रात को उस कमरे में चली जाती जहाँ से देर रात तक टेपरिकार्ड से गानों की आवाज़ और खिड़की के शीशों से रोशनी आती रहती। रहना तो मैं भी चाहता था वहाँ लेकिन फिर संगठन के काम से मुझे हॉस्टल में ही रहने को कहा गया। तब कितना बुरा लगा था...अब लगता है कि सच में जो होता है अच्छे के लिए ही होता है क्या? फिर यह बाकियों के साथ क्यों नहीं हुआ? कम से कम अफजल के साथ तो होना ही चाहिए था।

एहसास तो मुझे पहले ही हो गया था कि अफजल के लिए आसान नहीं वहाँ रह पाना। निहाल और निशिता के अलावा और कोई नहीं था वहाँ जिससे उसकी पटती हो। महीने के अन्त में होने वाली बैठकों को लेकर वह जिस तरह तनाव में रहता था, मैंने कई बार उससे यह कहना चाहा कि वह हॉस्टल में आ जाए लेकिन कभी कह नहीं पाया। सी पी से कहने की कोशिश की तो वह बोले कि 'कम्पून के सदस्यों में सबसे ज्यादा सुधार की ज़रूरत अफजल में ही है। वह अपनी सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि के चलते दोहरी दिक्कतों का सामना कर रहा है। एक तरफ तो उसके परिवार की निम्नमध्यवर्गीय पृष्ठभूमि तो दूसरी तरफ जहीर उल हक जैसे संशोधनवादियों का प्रभाव उसकी सारी राजनीतिक समझदारी को प्रभावित करता है। तुम्हीं सोचो कि आखिर उसे ट्यूशन क्यों नहीं मिल पाते? क्यों वह इतनी अधिक भावुकता का शिकार है? तुम्हें याद है न अभियान के दौरान गर्ल्स कॉलेज के गेट पर उसका व्यवहार? इसकी जड़ें उसकी मानसिक बुनावट में हैं। इससे लड़ने के लिए उसका अलोचना-आत्मालोचना के गहन और तीखे दौर से गुजरना ज़रूरी है।' मैंने जब आशंका ज़ाहिर की कि कहीं वह टूट न जाए तो सी पी ने जो कहा वह सुनकर मैं भीतर तक हिल गया—'यह क्रान्ति की लड़ाई है कामरेड...कमजोरों के लिए इसमें कोई जगह नहीं।'।

कमजोरों के लिए कोई जगह नहीं? इस एक वाक्य ने मुझे हफ़्तों सोने नहीं दिया। क्या

हम सिर्फ मज़बूत लोगों की लड़ाई लड़ रहे हैं? क्या हम उस सेना की तरह हैं जहाँ घायलों को उनकी हालत पर छोड़ दिया जाता है? कमजोरों के हक की लड़ाई में कमजोरों के लिए कोई जगह नहीं। कमजोर तो था अफजल। पढ़ते-पढ़ते उसकी आँखों में आँसू आ जाते, जब में बचा आखिरी नोट भी वह किसी परेशान दोस्त पर खर्च कर देता, बसों में अकसर किसी बुजुर्ग के लिए सीट खाली कर देता, संगठन के सख्त निर्देश के बावजूद अगर ज़हीर मामू शहर में आते तो किसी भी तरह उनसे मिल लेता और छुप-छुपाकर अम्मी से फोन पर बात कर ही लेता महीने-दो महीने में...एक आरोप तो कविता लिखने का भी था...सीधे कोई कुछ नहीं कहता लेकिन जब पत्रिकाओं में उसकी कविताएँ छपतीं तो कुछ दिनों के लिए उसकी पैरोडियाँ कम्प्यूटर में गूँजती रहतीं...उस दिन गर्ल्स कॉलेज के गेट पर खोमचा लगाने वाले ने जब उसके भाषण के बाद अपनी दिन भर की कमाई उसे चन्दे में दे दी तो उसकी आँखें भर आईं और उसने उसमें से एक दस का नोट निकालकर बाक़ी सारे पैसे वापस कर दिए। शाम की बैठक में सी पी से इस बात की शिकायत हुई तो उन्होंने उसकी सार्वजनिक भर्त्सना का प्रस्ताव रखा और उसे आत्मालोचना का आदेश मिला। वह भरी आँखों से बस इतना कह पाया कि 'बहुत गरीब था बेचारा'...राजेश इसे आत्मालोचना मानने को तैयारी नहीं था। मैंने एक दिन का समय माँगा अफजल के लिए तो सी पी ने मुझे भी चुप करा दिया और फिर उसे दंड मिला—अगले पूरे हफ्ते अभियान से बाहर रहकर कम्प्यूटर के सारे काम अकेले करने का और साथ में लाइब्रेरी में उसके प्रवेश पर पाबन्दी। उसी दौरान एक शाम जब बाक़ी सदस्य अभियान में मिले पैसे की गिनती करने और फिर देवयानी के नए संग्रह से कविताएँ सुनने में लगे थे तो बर्तन माँजते हुए उसने मुझसे कहा था, 'मुझे पता है संजय, मैं कमजोर हूँ। छोटा था तो भाई और दोस्त भी मेरा मजाक उड़ाते थे। मैं फिल्में देखते-देखते रोने लगता, कुर्बानी के लिए लाए गए बकरे को हफ्ते भर प्यार से पालने के बाद उसका गोश्त मेरे गले से नीचे नहीं उतरता था। सब मजाक उड़ाते लेकिन ज़हीर मामू कहते थे कि यह तेरे इनसान होने का सबूत है। हो सकता है ज़हीर मामू भी कमजोर रहे हों...मैंने देखा है उन्हें अकेले में रोते हुए जब शुगर फैक्ट्री बन्द हुई थी। क्या आँसू इतने बुरे होते हैं? मैं कोशिश कर रहा हूँ...शुरुआत कर भी दी है मैंने..पिछले तीन महीनों से एक भी कविता नहीं लिखी...लेकिन सब तो मेरे वश में नहीं, क्या करूँ अगर नहीं मिलते मुझे ट्यूशन? हो सकता है मुझे ठीक से पढ़ाना ही न आता हो...हो सकता है मुझमें इतना आत्मविश्वास ही न हो...निहाल कहता है कि छह दिसम्बर के बाद लोग अपने घर में किसी मुसलमान का प्रवेश नहीं चाहते...अनामिका इसे बकवास कहती है...वह सही कहती है...आखिर कामरेडों के घर भी तो नहीं पढ़ा पाया मैं ठीक से। सी पी भी सही कहते हैं। दिक्कत मेरी पृष्ठभूमि में ही है। लेकिन क्या मैं जिम्मेदार हूँ अपनी परवरिश के लिए? पर सुधारना तो मुझे ही होगा...शायद अब तक संघर्ष से भागता रहा हूँ मैं... मुझे लगता है कि अब मुझे अपने माजी से दूरी बनानी होगी। चलो, नहीं मिलूँगा अब मामू-मामी से। अम्मी को फोन भी नहीं करूँगा। कोशिश करूँगा कि मज़बूत बन सकूँ। लेकिन यह नहीं जानता कि कभी कामयाब हो सकूँगा कि नहीं। जानते हो...कभी सोचता हूँ कि जब राज्यसत्ता से सीधी जंग होगी तो मैं क्या करूँगा...क्या गोली चला पाऊँगा मैं किसी इंसान पर? अपनी तमाम नफरत के बावजूद कहीं मेरी उँगलियाँ काँप तो नहीं जाएँगी...मैं सो नहीं पाता सारी-सारी रात यही सोचकर कि क्या इन्कलाब की इस लड़ाई में मैं सच में किसी काम का नहीं। फिर सोचता हूँ कि किसी और को नहीं मार सकता तो क्या खुद को तो मार सकता हूँ न। पीठ पर बम बाँधे कूद जाऊँगा जहाँ सी पी कहेंगे।'

ठीक-ठीक याद नहीं कि मैंने क्या कहा था उस वक़्त। बहुत कुछ कहने की स्थिति में था ही नहीं मैं शायद। शायद पहली बार मेरे मन में संगठन के पूरे ढाँचे और सीपी को लेकर तमाम सवालात उफन रहे थे। उस रात मैं लौटकर हॉस्टल नहीं गया। सीधे नरेन दा के कमरे में चला गया। वह बेहद लम्बी रात थी...नरेन दा की छत पर चाँद जैसे ठहर कर हमारी बातें सुन रहा था...उस उमस भरी रात में सब कुछ ठहरा हुआ था...बस नरेन दा की आवाज़ थी जो सिगरेट के धुँए के साथ सीने के भीतर कहीं गहरे ज़ब्व होती जा रही थी... 'इन्कलाब के मानी क्या हैं? आखिर किसलिए इन्कलाब? क्या सिर्फ इसलिए कि हमारे पुरखे मार्क्स ने कहा था कि इन्कलाब होना चाहिए...तो उसके किसी सपने को पूरा करने के लिए हम इन्कलाब की लड़ाई में लगे हैं...क्या दुनिया को बदलने का मतलब बस यही है? जो दुनिया आज है उससे बेहतर दुनिया अगर हम नहीं बना सकते तो क्या मतलब इस कवायद का? किसके लिए यह लौह-अनुशासन? जानते हो जनता लेनिन के पीछे क्यों आई थी? क्योंकि उसे भरोसा था कि वह उसके लिए ज़ार से बेहतर ज़िन्दगी देगा। वह उनके पैरों की बेड़ियाँ काट डालेगा और उनकी जबान को आवाज़ बख़्शेगा...और उसने यह किया। तुमने सुना होगा तमाम लोगों से कि 'इससे तो अँग्रेजों का शासन बेहतर था' ...क्यों कहते हैं ऐसा लोग? क्योंकि उन्हें महसूस होता है कि आज हालात उस वक़्त से भी बदतर हैं...यह सिर्फ पुराने मालिकान के प्रति श्रद्धा से नहीं उपजा है संजय...जनता किताबें नहीं पढ़ती...उसे दर्शन की गहराइयों से मतलब नहीं। उसे तो अपनी ज़िन्दगी में बेहतरी चाहिए। और यह बेहतरी कैसे हासिल हो सकती है? कोई बुरा कारीगर कभी अच्छा घर नहीं बना सकता। बेहतर इन्सान ही बेहतर दुनिया बना सकते हैं। हम अगर बेहतर इन्सान नहीं तो हम कभी क्रान्तिकारी नहीं हो सकते। यह युद्ध का मैदान नहीं समाज है संजय। यहाँ की लड़ाइयाँ युद्ध के नियमों से नहीं जीती जातीं। तुम जो अफजल के बारे में बता रहे हो वह उसके अच्छे इन्सान होने का सबूत हैं। ज़हीर को मैं इलाहाबाद के ज़माने से जानता हूँ। उसकी राजनीति से कभी सहमति नहीं रही लेकिन उसके अच्छे इन्सान होने में कोई शक नहीं। इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के अध्यक्ष का रुतबा जानते हो तुम? अगर चाहता तो बस रामायण मिश्रा से थोड़े बेहतर सम्बन्ध रखने थे उसे और सत्ता के गलियारे खुले हुए थे उसके लिए। अपराजिता को वह समझौते में स्टेक की तरह उपयोग कर सकता था लेकिन उसने कोई समझौता नहीं किया। वह उसके लिए कोई 'पीली छतरी वाली लड़की' नहीं थी जिसे उसने रामायण मिश्रा से बदले के लिए फँसाया हो। उसने प्रेम किया और उसके लिए बलिदान किया। लेकिन शुगर मिल वाली लड़ाई एक अच्छा इन्सान होने के बावजूद वह नहीं जीत सका। क्योंकि केवल अच्छा इन्सान होने से भी काम नहीं चलता। वह अब भी नेहरूवादी समाजवादी मॉडल पर भरोसा कर रहा था, राज्य की सदाशयता और क़ानून पर भरोसा कर रहा था...वह देख ही नहीं पाया कि नब्बे के बाद चीजें कैसे बदल गई हैं। और वह हारा। इस लड़ाई में जीतने के लिए सही राजनीति चाहिए और उसे लागू करने के लिए सच्चे इन्सान जिनके सीने में इंसानियत के लिए बेपनाह मुहब्बत हो। चे को पढ़ा है न तुमने? प्रेम को कितनी ऊँची जगह दी है उसने...उसकी बरसी पर फिदेल ने जो कहा था पढ़ना कभी। यह सब वही कह सकते हैं जिनके दिल में मुहब्बत का ज़ब्बा हो। जानते हो चे ने क्यूबा की मुक्ति की लड़ाई का एक मेमायर लिखा है। उसमें एक प्रसंग आता है जब उनके बीच का एक साथी गद्दार निकलता है और उसे मारना पड़ता है। वह युद्ध का समय था, जीवन-मरण का प्रश्न..फिर भी उस साथी के लिए चे के मन में जो करुणा है, मानव मात्र के लिए फिदेल के मन में जो करुणा है वह वहाँ साफ दिखाई देती है। सत्ता में आने के बाद उस साथी के बच्चे

और परिवार को वह सारी सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं जिस पर एक आम क्यूबाई का हक है। और जिस समय चे लिख रहा था इस किताब को वह बच्चा क्यूबा में एक अधिकारी बन चुका था...ब्रेख्त कमजोर था क्या? फिर क्यों लिखा उसने—कमजोरियाँ/तुम्हारी कोई नहीं थीं/मेरी थी एक/मैं करता था प्यार। तनाव और संघर्ष के उस दौर में वह यह कविता लिख सकता था और हम शान्तिकाल में बेहद धीमे स्तर पर चल रहे जनान्दोलनों में भी सहिष्णु नहीं रह पाते? कभी सोचा है क्यों?

वह घर जिसे सी पी कम्यून कहता है, क्या सच में कम्यून है? जिम्मेदारियाँ तो बराबरी में बँट जाती हैं लेकिन क्या सच में वहाँ सबका बराबर का हक है? अगर देवयानी मुकदमा हार गई तो सबको वहाँ से निकलना होगा लेकिन अगर जीत गई तो? मैं ज़्यादा कुछ नहीं कहूँगा लेकिन यह हमेशा ध्यान रखना कि जो बलिदान तुम कर रहे हो वह सही उद्देश्य के लिए है या नहीं। जिस समय आन्दोलन में बिखराव होता है, जनता की इससे दूरी बढ़ती चली जाती है। उस समय तमाम ऐसे तत्व हावी हो जाते हैं जिनका कोई दीर्घकालीन उद्देश्य होता ही नहीं। ऐसा नहीं कि ये पहले दिन से ही ऐसे ही रहे हों। लेकिन समय के साथ-साथ ये विकृतियाँ बढ़ती जाती हैं और फिर एक दिन उनकी पूरी चेतना पर हावी हो जाती हैं। यह उस इन्सान की ही नहीं राजनीति की भी कमजोरी होती है। दुर्भाग्य से यह ऐसा दौर है, संगठनों में टूट-फूट, बिखराव बढ़ता ही चला जा रहा है। हर बार एक राजनीतिक संघर्ष का हवाला दिया जाता है, दूसरा ग्रुप एक नई लाइन लेकर सामने आता है और फिर अलग हो जाता है या कर दिया जाता है। हालत यह है कि इस देश में जितने प्रदेश हैं उससे कई गुना अधिक लाइनें क्रान्ति के लिए हमारे सामने उपस्थित हैं, ख़ाँची भर दस्तावेज़ हैं...लेकिन इन्कलाब कहीं दूर-दूर तक नज़र नहीं आता। जनता को कुछ नहीं पता कि कौन उनकी लड़ाई लड़ रहा है, उसकी आँखों में परिवर्तन का कोई ऐसा सपना नहीं। कभी सोचा है ऐसा क्यों? क्यों हमेशा युद्ध का विरोध करने वाले हमारे संगठन युद्ध की भाषा में बात करते हैं? कभी गौर से सोचना। जनगीत हों, हमारी रोज ब रोज की राजनीतिक शब्दावली, हमारी बैठकों के तरीके, संगठन में नेतृत्व की अप्रश्नयेता यह सब किस तरह युद्ध की शब्दावली और मनोविज्ञान से संचालित होता है...जानते हो, मुझे हमेशा लगता है कि हम विश्वास नहीं अविश्वास से शुरू करते हैं। किसी नए साथी के प्रति पहले तो एक नकली और अतिउत्साही एप्रोच दिखाया जाता है फिर जब लगने लगता है कि अब यह हमारे बीच आ गया तो शुरू होता है व्यक्तित्व रूपान्तरण के नाम पर उसके अपने व्यक्तित्व को पूरी तरह से खत्म कर एक बने-बनाए साँचे में ढालने का काम। यहाँ खुद में शामिल करने का मतलब खुद जैसा बना लेना होता है। यह कैसी रोबोटों की फ़ौज बना रहे हैं हम? ये एक जैसा सोचने वाले नहीं हैं संजय...ये एक दिमाग के नियन्त्रण से संचालित हृदयहीन लोग हैं जिन्हें जनता से, समाज से इस कदर काट दिया जाता है कि वे खुद को किसी और दुनिया का वासी समझने लगते हैं। ये भीड़ भरे शहर के बीच में उगे टापू हैं जिन पर रहने वाले दुनिया को मूर्ख समझते हैं और दुनिया वाले उन्हें अजूबा...और अजूबे दुनिया नहीं बदलते संजय।

सोचो तो संजय, कैसी होगी वह दुनिया जहाँ सब लोग एक जैसे होंगे...क्या ऐसी किसी दुनिया के लिए लड़ रहे हैं हम? क्या यही चाहते थे हमारे पुरखे? क्या यही मतलब होता है हज़ारों फूलों को खिलने देने का...मुझे खून देखकर डर नहीं लगता। मैंने तो बन्दूक की ट्रिगर से ही सीखा था इन्कलाब...लेकिन कभी-कभी सोचता हूँ इतना खून क्यों है हमारे इतिहास में? इन्कलाब के पहले की लड़ाइयाँ समझ में आती हैं। विश्व युद्धों और उपनिवेशों के ज़माने में

पुरानी सामन्ती सत्ताओं से लड़ते हुए युद्ध के अलावा कोई चारा नहीं था। लेकिन अपनी सत्ताएँ बनने के बाद? मैं लाशें गिनकर स्टालिन और हिटलर को एक पाँत में बिठाने वालों को गम्भीरता से नहीं लेता लेकिन सही उद्देश्य के बाद भी अगर सत्ता को बनाए रखने और इन्कलाब को बचाए रखने का हमारे पास भी यही एक रास्ता है तो इतिहास हमें हत्यारों से कैसे अलग करेगा? कैसे हमारे शासक भी इतने हृदयहीन बन जाते हैं? इसकी जड़ें कहाँ हैं संजय...सोचना...मैं भी सोच रहा हूँ बरसों से। कोई जवाब मिल गया है यह तो नहीं कह सकता लेकिन इतना जरूर है कि सवाल अब साफ़ हो रहे हैं। 'सोचना' संगठन के अनुशासन का उल्लंघन नहीं हो सकता कभी...जिनके पास अपने सवाल उठाने की हिम्मत नहीं वे इन्कलाब की किसी लड़ाई के सिपाही नहीं हो सकते कभी...और फिर अचानक वह ठहाका लगा हँसे...देखा तुमने यह युद्ध की शब्दावली किस तरह हमारी भाषा का हिस्सा बन गई है...बुश जब कहता है कि 'हमारे साथ या हमारे खिलाफ' तो हम उसे फ़ासीवादी कहते हैं...और बड़े शान से पोस्टर लगाते हैं अपने कमरे में कि 'बीच का कोई रास्ता नहीं होता'...काले और सफ़ेद के बीच एक लम्बा और बेहद उर्वर धूसर मैदान है संजय...हम उसे बंजर क्यूँ बनाना चाहते हैं?

रात के तीन पहर बीत चुके थे। चाँद की थकान साफ़ झलक रही थी और उसकी जगह लेने आ रहे सूरज की धीमी आहटें सुनाई दे रही थीं। छत की कमजोर रेलिंगों के सहारे सर टिकाए नरेन दा के मोटे चश्मे के पीछे की बन्द आँखों से जैसे परावर्तित होकर प्रकाश पूरी छत पर फैल रहा था। उनकी लम्बी पतली उँगलियों में फँसी सिगरेट के आधे राख और आधे साबुत हिस्से के बीच एक चिंगारी कसमसा रही थी। थोड़ी देर पहले भरी गिलास अब तक उतनी ही भरी थी और उस शराब में चाँद का एक छोटा-सा अक्स झिलमिला रहा था। अचानक मुझे लगा कि रोशनी के कितने रूप हो सकते हैं। सब सूरज हो जाएँ जरूरी तो नहीं...लेकिन सिर्फ़ इसलिए कि इनमें सूरज जितनी आग नहीं है क्या हम इन्हें रोशनी कहेंगे ही नहीं? मैंने धीमे से उनकी उँगलियों से सिगरेट ली...राख को ज़मीन पर झाड़ कर एक गहरा कश लिया तो वह छोटी-सी रोशनी मेरे सीने में झिलमिला उठी...वह गिलास उठाकर हलक से उतारा तो जैसे चाँद मेरी नसों में उतर गया।

उस दिन रविवार था। निशिता के आने का दिन। उसके प्रेस से थोड़ी दूर पर सुकान्त का कमरा था। पिछले चार महीनों से रविवार की शाम दो घंटे वह हमारा कमरा हो जाता था। कम्यून से बिना बताए कहीं जाने की इजाजत नहीं थी। उसने सबको बता रखा था कि प्रेस रविवार को भी खुला रहता है और इस झूठ के सहारे हमारे प्रेम को यह अबाध स्पेस मिलता था...ऐसा नहीं कि हमारा प्रेम छुपा हुआ था। संगठन में सब जानते थे। नियमों के अनुसार हमने एक-दूसरे की रजामन्दी के बाद इसे सी पी को रिपोर्ट कर दिया था। सी पी ने आगे बढ़कर मुझे गले लगाया था और निशिता से गर्मजोशी से हाथ मिलाया था। यह वही दौर था जब कम्यून की योजना बन रही थी। इस योजना में सबसे पहले मेरा नाम था लेकिन जब कम्यून के बाबत अन्तिम बैठक हुई तो प्रस्ताव में मेरा नाम कहीं नहीं था। उस समय न जाने क्यूँ मुझे कुछ दिन पहले सी पी का कहा वह वाक्य याद आया—'प्रेम मनुष्य के जीवन की एक बेहद महत्वपूर्ण घटना है संजय। लेकिन एक क्रान्तिकारी के लिए सबसे महत्वपूर्ण है उसका लक्ष्य। इसलिए वह किसी रिश्ते को इस लक्ष्य के रास्ते की बाधा नहीं बनने दे सकता। उसे प्रेम भी डिटैच होकर ही करना चाहिए।'

ठीक पाँच बजे निशिता आई। उसके साथ शाम की नर्माहट भी कमरे के भीतर आ

गई थी। हम सुबह साथ थे एक अभियान में लेकिन इस समय वह दूसरी निशिता थी जिसकी आँखों में आग नहीं एक नरम-सी चिंगारी थी। जिसके हाथ हवा में मुट्ठियों के सहारे नहीं लहरा रहे थे मेरी गर्दन के चारों ओर लिपटे थे किसी नरम लता की तरह। जिसके होठों पर नारे नहीं एक नर्म लालसा थी प्रेम की जो मेरे होठों की नर्म प्यास से मिलकर एक मौन संगीत में तब्दील हो गई थी। वह संगीत उस कमरे में चारों ओर पसर गया। किताबों के उस बेतरतीब ढेर में, सिगरेट की अनगिन टूठों से भरे ऐश ट्रे में, कुर्सी पर लदे कपड़ों की गुम्साइन गन्ध में, दीवार पर लगी मधुबाला की मुसकराहट में, टेबल फैन से बिखरती हवा में। पुरानी-सी चद्दर से ढँका वह बिस्तर पियानो बन गया था और हमारी देह बीथोवेन। उस दिन बीथोवेन जैसे राग मालकौंस बजा रहा था। किसी नौसिखिए तबलावादक की तरह हम उसका पीछा कर रहे थे। ज्यों ही संगत मिली उसने छोटा ख्याल गाना शुरू कर दिया। वह द्रुत स्वर में गाए जा रहा था और हम उसका साथ निभाने के लिए जूझ रहे थे। वह हमसे आगे निकलता जा रहा था और हम उसका पीछा नहीं कर पा रहे थे...हम उसका पीछा करना ही नहीं चाहते थे। हम चाहते थे उस पल कि वह सबसे आगे निकल जाए...हमारी चेतना से, हमारे वजूद से, हमारी परेशानियों से, हमारी चिन्ताओं से...सबसे आगे...सबसे दूर... घड़ी देखी तो पौने छः बज गए थे। उसने कपड़े पहने और दीवार पर लगे छोटे से शीशे में बालों को सुलझाने लगी। मैंने गैस स्टोव पर चाय चढ़ा दी।

तुम्हें पता है आज दुकान पर अपराजिता जी आई थीं।

अच्छा...

प्रेस क्लब में उनका और देवयानी का काव्य पाठ था...वहीं से देवयानी उन्हें दुकान पर ले आई थीं।

ओह...

अफजल भी था वहाँ।

अच्छा।

जानते हो जब देवयानी जी ने उसे अपने नए संकलन की कॉपी देनी चाही तो उसने क्या किया?

क्या?

वह बिफर पड़ा...बोलने लगा...यह संशोधनवादी बकवास अपने पास रखिए। ये कविताएँ नहीं हैं ये सत्ता की चाकरी में लिखी गई छिछोरी बकवास है। एक जनविरोधी प्रलाप। और उसने किताब फेंक दी। अपराजिता जी को तो जैसे काटो तो खून नहीं। देवयानी ने भी कुछ नहीं कहा। सब चुपचाप बैठे रहे। बिचारी भरी आँखें लिए वापस लौट गईं।

अरे...मैं जैसे नींद से जागा...अफजल ऐसा कैसे कर सकता है? वह तो कितना चाहता है अपने मामू-मामी को...उसने ऐसा कैसे किया निशिता...?

वह बहुत बदल गया है संजय। बिलकुल राजेश के नक्शेकदम पर चल रहा है। मुझे डर लगता है उससे इन दिनों। तुम एक बार बात करो उससे। बहुत अकेला हो गया है वह। किसी से भी बात नहीं करता। निहाल से दूर-दूर रहता है...मुझसे भी। इन दिनों बस अनामिका और राजेश से बातें करता है। उनकी हाँ में हाँ मिलाता है। लिखना-पढ़ना सब बन्द है उसका। मुझे सच में डर लग रहा है संजय। हम जैसे सामान्य लोग रह ही नहीं गए हैं। कम्यून के भीतर तनाव, शक, षड्यन्त्र ऐसे पनपने लगे हैं कि वहाँ एक अजीब-सी घुटन होने लगी है। सब एक-दूसरे की जासूसी करते हैं। एक कृत्रिम मुसकराहट ओढ़े हम एक-दूसरे की गलतियाँ

हूँदने में लगे रहते हैं कि सप्ताहान्त की रिव्यू बैठक में उन्हें कटघरे में खड़ा कर सकें। कभी-कभी लगता है कि भाग जाऊँ वहाँ से। माँ की बहुत याद आती है इन दिनों। फिर लगता है कहीं मैं ही तो कमजोर नहीं। तुम्हारे अलावा कोई नहीं जिससे कह सकूँ यह सब। इधर कुछ दिनों से अनामिका तुम्हें लेकर पता नहीं क्या-क्या कहती रहती है। कहीं ये लोग हमें भी तो...उसका गला रुँध रहा था...

मैंने आगे बढ़कर उसके माथे को चूम लिया...कुछ नहीं होगा। तुम निश्चिन्त रहो। मैं सी पी से बात करूँगा।

निशिता का यह रूप मुझे भीतर तक हिला गया। मजबूती के ये कैसे मानदंड हैं जिनके आगे हर कोई अपने को कमजोर महसूस कर रहा है?...उसके जाने के बाद मैं देर तक सोचता रहा। परिवर्तन तो मैं भी बहुत देख रहा था अफजल में और दूसरे साथियों में भी...लेकिन मामी वाली घटना पर तो जैसे विश्वास ही नहीं हुआ। तो क्या नरेन दा की बात सच हो रही है? हम सब धीरे-धीरे एक रोबोट में बदल रहे हैं।

उस रात मैंने एक भयावह सपना देखा। सबसे आगे सी पी है। उसके ठीक पीछे राजेश, फिर अफजल, श्रीकान्त, अभय, राजेश, मैं, निहाल, रत्ना, निशिता, रंजना और अनामिका... उसके पीछे और भी तमाम साथी हैं... दूर-दराज के गाँवों, फैक्ट्रियों और दफ्तरों में काम करने वाले साथी। सी पी अपनी जगह पर कदमताल कर रहा है। उसके पैरों के साथ हम सारे कदम मिला रहे हैं। धीरे-धीरे हम सबके पैर लोहे के होते जाते हैं। चमकते फास्फोरस की तरह। फिर कमर, पेट, सीना, गला और अन्त में हमारे चेहरे भी। अब किसी को पहचान पाना मुश्किल है। सी पी के साथ हमारे कदमों की गति बढ़ती चली जाती है। फिर सी पी अचानक सामने एक कुर्सी पर बैठ जाता है। उसके ठीक बगल में देवयानी। दोनों एक-दूसरे को देखकर मुस्कराते हैं। सी पी की भारी आवाज़ गुँजती है—नम्बर एक आगे आओ...नम्बर एक आगे आ जाता है...सी पी कहता है...हँस के दिखाओ...वह चुपचाप कदमताल करने लगता है। फिर सी पी की आवाज़-अब रोओ...वह कदमताल और तेज कर देता है...एक-एक कर सारे आगे आते हैं...किसी को कदमताल के अलावा और कुछ नहीं आता। वह हँसते-हँसते ठहाके लगाने लगता है—गुड...अब सब तैयार हैं इन्कलाब के लिए। कमजोर भावनाओं को पूरी तरह खत्म कर दिया गया है। इस लड़ाई में कोई जगह नहीं कमजोरों के लिए। सारे रिश्ते-नाते भूल जाओ... जाओ...अब सारे बिखर जाओ दुनिया भर में...कॉलेजों में, स्कूलों में, फैक्ट्रियों में, दफ्तरों में...अपने जैसे इन्कलाबी तैयार करो...इन्कलाब जिन्दाबाद...देवयानी भी साथ में ठहाके लगा रही है... हँसी की आवाज़ तेज और तेज होती जाती है...तभी पता नहीं कहाँ से सामने ज़हीर मामू और नरेन दा आ जाते हैं। वे सी पी से कुछ कहना चाहते हैं। सी पी उन्हें देखकर मुस्कराता है और फिर अचानक हुक्म देता है। नम्बर दो आगे आओ...नम्बर दो आगे आता है...इस संशोधनवादी को मार डालो...नम्बर दो एक तेज धार वाला चाकू निकाल कर ज़हीर मामू के सीने में उतार देता है...चारों तरफ बस खून ही खून...वह ज़हीर मामू की लाश पर पाँव रखते हुए लौट आता है...फिर से हुक्म आता है...नम्बर छह आगे आओ...नम्बर छः आगे आता है...इस गद्दार को मार डालो...इसे पार्टी से निकाला गया था...यह ट्राटस्की की औलाद है...गद्दार है...इसे मरना ही होगा...नम्बर छह भी एक चाकू निकालता है...नरेन दा उसकी ओर देखकर मुस्कराते हैं...उसके चेहरे का लोहा गलने लगता है...अरे यह तो मेरी शक्ति है...मैं चाकू फेंककर नरेन दा की ओर दौड़ता हूँ लेकिन सारे मिलकर मुझे पकड़ लेते हैं। देवयानी जोर-जोर से नारे लगा रही है—इन्कलाब जिन्दाबाद...मैं चीख रहा हूँ...सब मिलकर मेरे ऊपर चाकू से हमला कर

देते हैं...उनकी शक्तें बदलने लगती हैं...हिटलर, मोदी, स्टालिन, चौसेस्कू, सुहार्तो, खुमैनी, बुश, फूजीमोरी...नींद खुली तो पूरा बदन पसीने से भीगा हुआ था।

मैंने फैसला कर लिया था। अब सी पी से बात करनी ही होगी। लेकिन उसके पहले मैं अफजल से बात करना चाहता था। विश्वविद्यालय में मिलना मुमकिन नहीं था क्योंकि कक्षाएँ वह अटेण्ड नहीं कर रहा था और कभी-कभार जब आता तो उसके साथ अनामिका या राजेश होते। निहाल से मैंने एकाध बार उसे सन्देश भेजने की कोशिश की लेकिन वह नहीं आया। ज़हीर मामू भी बेहद परेशान थे। उन्होंने सी पी से भी बात करने की कोशिश की थी लेकिन उन्हें जवाब भिजवा दिया गया था कि अफजल उनसे मिलना नहीं चाहता। इधर कई बार अलग-अलग बहानों से मैं कम्यून भी गया लेकिन औपचारिक सलाम-दुआ के अलावा और कोई बात नहीं हो सकी। इस नए अफजल को पहचान पाना भी मुश्किल हो रहा था। न केवल इसलिए कि उसने दाढ़ी बढ़ा ली थी, सिगरेट अब लगातार पीने लगा था, आँखों पर चश्मा चढ़ गया था बल्कि इसलिए भी कि अब वह न तो पहले की तरह मुस्कराता था, न हँसता और न ही अपनी किसी नई कविता को सुनाने के लिए छत पर चलने की जिद करता था। उसके चेहरे पर जो पथरीले भाव आकर ठहर गए थे वे मेरे लिए बिलकुल नए थे। उसके बोलने में, उसके चलने में, उसके मुस्कराने में यहाँ तक कि हाथ मिलाने में भी एक अजीब यान्त्रिकता आ गई थी। सामने पड़ने पर पहले वह 'संजय' कहकर गले लग जाता था...लेकिन अब वह 'कैसे हैं साथी' कहकर अजीब तरीके से मुस्कराता और फिर हॉस्टल की कार्यवाहियों के बारे में बात करने लगता। बात भी ऐसे कि कई बार लगता वह कुछ सुन ही नहीं रहा है। एकाध बार मैंने उससे उस दिन की घटना पर बात करने की कोशिश की तो वह टाल गया। उससे बात हो पाने की अब कोई सूरत नज़र नहीं आ रही थी। मैंने उसे पत्र लिखने का फैसला किया। ..और सी पी से बात करने के लिए अर्जी लगा दी।

अर्जी लगाए पूरे बीस दिन हो गए थे। पहले राजेश ने बताया कि वे शहर के बाहर हैं। फिर जब उनके लौटने की खबर मिली तो देवयानी ने बताया कि वह किसी दस्तावेज के सिलसिले में आए हैं और व्यस्तता के कारण मिलना सम्भव नहीं होगा। फिर बताया गया कि उनके गले में कुछ समस्या है तो बात करना सम्भव नहीं। लेकिन इस बार तो सीधे मना कर दिया। ..सी पी अभी किसी से बात नहीं करना चाहते...जो देना है लिखित में दे दो या फिर उन्हें जब इच्छा होगी तो सूचना दे दी जाएगी...

सात सालों में ऐसा पहली बार हुआ था।

और अब तो न जाने कितने साल गुजर गए। उस दिन बेहद उदास था। डायरी पलटता हूँ तो यह लिखा मिलता है...

सात साल...कहने में दो-दो अक्षरों के दो शब्द और जीने में एक पूरा युग। बाबूजी के साथ झोले में थोड़े से बर्तन और दूसरे सामान, घर के इकलौते हेंडबैग में दो-तीन जोड़ी कपड़े और किताबें लिए इस शहर में पहली बार आया था तो जैसे हर चीज़ अजनबी-सी लगती थी। गाँव से निकलकर जब बस कस्बे को पार करती हुई इस महानगर में घुसी तो काँच के पार ऊँची-ऊँची इमारतें, जगमगाती दुकानें, आलीशान मोटरकारें जैसे आँखों में समा ही नहीं रही थीं। शायद आज के लड़के तो उस मंजर को समझ ही नहीं पाएँगे। अब तो टीवी पर इतना कुछ देख लेता है इन्सान कि शहर तो क्या हिमालय को भी देख के लगे कि कहीं देखा

हुआ है। पर सात साल पहले! गाँव से दो कोस दूर के इंटर कॉलेज में पढ़ते हुए इस दुनिया के बारे में बस सुना था केमिस्ट्री मास्साब से। घर से कॉलेज...कॉलेज से घर। बस इतनी-सी थी दुनिया। अम्मा रात को बालू से माज के लैम्प का शीशा चमकाते हुए गार्ती... 'बबुआ पढ़िहें त बनिहें कलट्टर त जियरा जुड़इहें हो...कटिहें करज क फंदा कि बबुआ विलायत जइहें हो...' बाबूजी सुबह सूरज उगने से पहले उठकर गाय-भैंस का सानी-पानी करते फिर साइकिल पर लादकर पास के कस्बे में बेचने जा। दिन भर खेतों में खटते लेकिन तमाम परेशानियों और गाँव वालों के ताने के बावजूद मुझे कभी हल पर हाथ नहीं रखने देते। दसवीं के रिजल्ट के बाद केमिस्ट्री मास्साब के कहे को मन्त्र की तरह गाँठ बाँध लिया था उन्होंने, 'रामचरित, बहुत होनहार है तुम्हारा बेटा। इसे खूब पढ़ाना। नाम करेगा तुम्हारा। हल नहीं कलम चलाने के लिए जन्म हुआ है इसका।' इंटर में जब पूरे प्रदेश में पाँचवाँ स्थान आया तो उन्हीं के कहने पर बी.एससी. में दाखिले के लिए बाबूजी मुझे शहर ले आए। केमिस्ट्री मास्साब के मित्र थे डॉ. त्रिपाठी। बस उनके नाम की चिट्ठी और थोड़े से रुपये के भरोसे पिताजी जब शहर के लिए चले तो अम्मा ने उसमें सुरक्षा का एक और हथियार जोड़ दिया—डीह बाबा का ताबीज। कितना हँसी थी निशिता इस ताबीज को देखकर...

राजेश ने जब पहली बार मिलवाया था तो बताया था 'ये निशिता है, बी.ए. फाइनल ईयर में ...छात्र मोर्चे पर तो सक्रिय है ही, नारी सभा में भी सक्रिय है और कविताएँ भी लिखती है। और निशिता ये है संजय...बी.एससी सेकण्ड ईयर में...अभी हॉस्टल वाले आन्दोलन में बहुत सक्रिय था...' उसकी बात पूरी होने से पहले मेरे हाथ नमस्ते की मुद्रा में आ गए थे और बात खत्म होते-होते 'नमस्ते दीदी' फूट चुका था...पहले तो थोड़ी देर सब शान्त रहे फिर मिलाने के लिए आगे बढ़े हाथ से तालियाँ बजाते निशिता ने जो एक बार हँसना शुरू किया तो वह छोटा-सा दफ्तर ठहाकों से ठसाठस भर गया। फिर बहुत दिनों बाद जब एक शाम वह बेहद उदास थी, दफ्तर के उसी कमरे में मेरी उँगलियों से सिगरेट लेते हुए उसने कहा था '...नहीं जानती संजय कि उस दिन तुम्हारे दीदी कहने पर क्यूँ इतना हँसी थी मैं...पहली बार घर के बाहर किसी ने कोई रिश्ता जोड़ा था। पापा कहते थे कि सबसे बड़ा रिश्ता होता है कामरेडशिप का। उसी माहौल में पैदा हुई...पली-बढ़ी...बचपन याद करती हूँ तो माँ-पापा कोई जनगीत गाते हुए याद आते हैं और खुद को किसी कामरेड की गोद में पाती हूँ...कब बड़ी हो गई...कब खुद वही गीत गाने लगी पता ही नहीं चला...फैक्ट्री में काम पापा करते थे...लेकिन लगता हम सब वहाँ काम करते हैं...फिर उस एकसीडेंट में पापा का जाना...लगा जैसे ज़िन्दगी से सारे मानी ही चले गए...माँ ने यहाँ भेज दिया...सी पी तब सी पी अंकल थे...फिर यहाँ कामरेड बन गए...लेकिन कभी ढाल नहीं पाई खुद को इस माहौल में...ऐसा लगता है बस पापा का कोई अधूरा सपना पूरा करने के लिए चले जा रही हूँ...और उस दिन कैसे तुमने एक रिश्ता जोड़ने की कोशिश की तो हम सब उसका मजाक उड़ाने लगे...कुछ है इस जगह में...यहाँ कुछ सहज हो ही नहीं सकता। चलो...यहाँ से चलो संजय...कहीं भी'...और वह मेरा हाथ खींचते हुए बाहर निकल गई थी। आधी रात तक उसकी स्कूटी पर यूँ ही घूमते रहे थे हम, न जाने कहाँ-कहाँ... पर लौट कर तो यहीं आना था...

सुबह से बादल धिरे हुए थे। बीच-बीच में बादलों का पर्दा हट जाता तो सूरज जैसे गुस्से से झॉकता और फिर से ओट में चला जाता। देखने में खुशगवार लगने वाले इस मौसम की खूबसूरती धोखादेह थी। भारी उमस और हवा का कहीं नामोनिशान नहीं। शरीर का पसीना सूखने का

नाम नहीं ले रहा था। मौसम विभाग से बारिश की सम्भावना की सूचना मिलते ही लाइट कट जाती थी। सी पी से मिलने की व्यग्रता में शायद मुझे कुछ ज्यादा ही पसीना आ रहा था। इन सात सालों में औपचारिक-अनौपचारिक कितनी मुलाकातें हुई थीं उनसे। एक साधारण कार्यकर्ता से होलटाइमर बनने के इस दौर में सी पी मेरे लिए इतने अलभ्य कभी नहीं रहे। यह अलग बात है कि कितनी ही मुलाकातों के बाद ऐसा लगा था मानो उनसे पहली बारी मिला हूँ लेकिन मिलने मात्र को लेकर इतनी व्यग्रता कभी नहीं रही। तमाम सवाल मेरे दिमाग में चक्रवात की तरह घूम रहे थे और फिर जैसे अचानक गति के कम हो जाने से एक-दूसरे में गड्डमड्ड हो रहे थे। नरेन दा की बातें, अफजल का बदला हुआ रूप, निशिता का डर..इन सबके साथ कोई नितान्त निजी डर मेरा भी था और शायद चक्रवात का केन्द्र भी वही था। इस डर का चेहरा मेरी आँखों के सामने था लेकिन मैं उसे पहचान नहीं पा रहा था। इस डर की सिहरन मेरी नसों में थी लेकिन मैं उसे महसूस नहीं कर पा रहा था। मुझे डर था कि वह मेरे और सी पी के बीच किसी ऐसी अदृश्य दीवार की तरह न खड़ा हो जाए जिससे मेरे प्रश्न उस पार तक की यात्रा ही न कर पाएँ।

रात आठ बजे...कम्यून में सी पी के कमरे में...जाना तो था ही।

सी पी कमरे के बीचोंबीच रखी चौकोर मेज के उस तरफ बैठे थे। पुराना आबनूस का बना फर्नीचर किसी संग्रहालय के एंटिक पीस जैसा लगता था। चौकोर मेज के आमने-सामने रखी चार कुर्सियाँ, एक कोने में बड़ी-सी स्टडी टेबल जिसके ठीक सामने की खिड़की से गैलरी में बने गुलाब और रजनीगन्धा के पेड़ दिखाई देते थे। टेबल से लगी दीवार पर जमीन से छत तक बनी रैकों में किताबें बड़े करीने से सजी हुई थीं। दूसरी तरफ के कोने में पीतल का एक बड़ा-सा वास और उसके ठीक ऊपर फाइव ग्रेट्स की पेन्टिंग, सामने छः बाई चार का आबनूसी पलंग जिस पर झक सफ़ेद चदर बिछी हुई थी और दीवार पर एक लम्बी-सी आब्सट्रेक्ट पेन्टिंग जो सी पी के किसी विदेशी दोस्त ने भेंट की थी। मेज पर एक तरफ कुछ पत्रिकाएँ और बीच में चार्मस की पैकेट, माचिस और कलुए की पीठ की शकल का ऐश ट्रे रखे थे। सी पी ने सिगरेट सुलगाई और खड़े होकर पूरी गर्मजोशी से हाथ मिलाया। मैं सामने की कुर्सी पर बैठ गया।

कैसे हो संजय?

अच्छा हूँ कामरेड...

कहो...

जी...

अरे भाई तुम्हें कुछ बात करनी थी न...बोलो

जी...मैं असल में... मैं अफजल पर कुछ बात करना चाह रहा था...

अफजल पर तुम्हारी चिन्ता से मैं वाकिफ हूँ...और कुछ भी है...

जी...

सिगरेट लोगे...?

हाँ...मैंने अपनी चार्मस की डिब्बी निकाली...एक सिगरेट जलाई...उस धुएँ के पीछे सीपी की आँखें नीली-सी दिख रही थीं...एकटक मुझे घूरती हुई...मैं सहम-सा गया...लेकिन सीने में उतरती गर्मी ने जैसे हिम्मत-सी बँधाई...।

बोलो...

सी पी...कभी आपने कहा था कि संगठन में कमजोर लोगों की कोई जगह नहीं।
हाँ...बिलकुल...कमजोर लोग कोई लड़ाई नहीं लड़ सकते...

लेकिन मज़बूत होने का मतलब संवेदनहीनता है क्या? मेरे कहने का मतलब यह है कि एक संवेदनशील आदमी की संवेदना को नष्ट करके क्या हम उसे बेहतर बना रहे होते हैं?

जिसे तुम संवेदना कह रहे हो वह कोरी भावुकता है संजय। एक पेटी बुरुआ लिजलिजी भावुकता। क्रान्तियाँ भावुकता से नहीं होतीं। यह आर-पार की लड़ाई है। जब मैदान में गोलियाँ चल रही हों तो आप दुश्मन के शरीर के घाव नहीं गिन सकते...।

चे ने तो दुश्मनों के घायल सैनिकों का भी इलाज किया था। मार्क्स का वह किस्सा भी आपने ही सुनाया था जब प्रूदों उनके घर आया था और उसके स्वागत के लिए वह अपना इकलौता कोट गिरवी रखने को तैयार हो गए थे। लेकिन उस दिन प्रूदों के पास पैसे थे जिससे उसने मार्क्स की पसंदीदा शराब और खाना मँगवाया और फिर दोनों ने रात भर बहस की...।

तुम बातों को उलझा रहे हो। यह मार्क्स का समय नहीं और चे के प्रति पर्याप्त सम्मान के बावजूद मैं उसे मध्यवर्गीय रूमान का शिकार मानता हूँ। इसीलिए वह मारा गया और वहाँ क्रान्ति भी सफल नहीं हुई।

सफल तो हम भी नहीं कामरेड। ढाई दशक हुए नक्सलबाड़ी को और दो दशक से अधिक समय हुए हमारे संगठन को बने...क्या आधार है हमारा इतने दिनों में? ऐसा नहीं लगता कामरेड कि हमारे पास आलोचनाएँ तो बहुत अच्छी हैं लेकिन हम उसमें से अपने लिए कुछ कारगर नहीं निकाल पाते? आखिर माओ ने कहा था कि क्रान्ति की लड़ाई में मोर्चे पर लड़ने वाले से लेकर घोड़े की लीड साफ़ करने वाले सभी का महत्व है...फिर हम यह निष्कर्ष कैसे निकाल सकते हैं कि तथाकथित कमजोर लोगों को एक खास तरह के मोल्ड में ढाल कर ही इस लड़ाई का हिस्सा बनाया जा सकता है? ऐसा कैसे हो गया कि प्रेम करने वाले और कविता लिखने वाले भी अब हमारे लिए बेकार के लोग हो गए?

तुम भगोड़ों की तरह बात कर रहे हो संजय। यहाँ-वहाँ से सन्दर्भहीन तथ्य और कोटेशन निकालकर अपनी कमजोरी को ढँकने की कोशिश कर रहे हो। इन्कलाब कोई भैंस नहीं है कि सुबह चारा डालो और शाम को दूह लो। हर क्रान्ति के पीछे तैयारी का लम्बा दौर होता है। भारत जैसे देश में यह और भी मुश्किल काम है। कामरेडों की स्टील टेम्परिंग उसी तैयारी का हिस्सा है। विपर्यय और संक्रमण के इस काल में कमजोरों का भागना कोई नई बात नहीं। इस विपरीत समय में वही टिका रहता है जिसने अपने व्यक्तिवांतरण की कठिन लड़ाई ईमानदारी से लड़ी हो। कविताओं और लिजलिजी भावुकता के सहारे जीने वाले मध्यवर्गीय जन्तुओं के सहारे यह लड़ाई लड़ी भी नहीं जा सकती। लगता है पीएच.डी. के बाद मास्टरी का सपना तुम्हारे सर चढ़ कर बोलने लगा है। सरकारी घर, सुन्दर प्रगतिशील बीवी, अच्छी तनख्वाह और बुद्धिजीवी होने का तमगा...यह लालच कम नहीं है। अपने बहानों को तर्क मत बनाओ संजय...

बहाने? मैं सवाल कर रहा हूँ कामरेड। सात साल से इस लड़ाई का हिस्सा हूँ और जीवन भर रहने का इरादा है...क्या मुझे अपने जेनुइन सवाल उठाने का...अपने साथियों के जेनुइन अधिकारों की बात करने का भी हक नहीं?

जेनुइन सवाल? जेनुइन अधिकार? क्या अधिकार चाहते हो तुम? कविता लिखने का अधिकार...?

हाँ...क्यों नहीं...अगर देवयानी कविता लिख सकती है तो अफजल क्यों नहीं?...उफ़! यह बात कैसे आ गई मेरी जबान पर...।

सी पी के चेहरे पर एक अजीब-सी कठोरता आ गई। उँगलियों में फँसी अधजली सिगरेट उन्होंने ऐश ट्रे में मसल दी। उठकर स्टडी टेबल तक गए और फिर मेरी तरफ घूमे...

तुम्हें क्या लगता है कि मुझे तुम्हारी गतिविधियों की कोई खबर नहीं? मैं जानता ही नहीं कि आजकल तुम किन लोगों से मिल रहे हो? अब तक हम यह सब चुपचाप देखते रहे तो सिर्फ इसलिए कि हम देखना चाहते थे कि तुम्हारा असली मकसद क्या है...जब अफजल ने तुम्हारी चिट्ठी मुझे दी थी तभी मैं तुम्हारी योजना के बारे में समझ गया था। फिर जब तुमने बात करने के लिए समय माँगा तो मेरा शक पक्का हो गया। युद्ध की भाषा से आपत्ति है तुम्हें? तुम्हें आपत्ति है कि अफजल ने कविताएँ लिखना क्यों छोड़ दिया? तुम उसे उस संशोधनवादी जहीर से बात करने की सलाह दे रहे हो और खुद उस गद्दार नरेन से मिल रहे हो। उसे अपनी पढ़ाई ठीक से करने की सलाह दे रहे हो...कविता लिखने की सलाह दे रहे हो...उधर निशिता को भड़का रहे हो...निहाल को भी प्रभावित करने की कोशिश की है तुमने। लोवर लेवल यूनिटी बनाने का तुम्हारा षड्यन्त्र साफ समझ में आ रहा है...।

षड्यन्त्र? ...मैं अब भी जैसे मामले की गम्भीरता को नहीं समझ पा रहा था... अपने साथियों से बात करना षड्यन्त्र है? क्या मैंने संगठन तोड़ने की कोई बात की है? अगर एक संगठन के भीतर तमाम साथी घुटन महसूस कर रहे हैं तो इसमें संगठन के लिए पुनर्विचार की कोई ज़रूरत नहीं...।

घुटन? जिन्हें घुटन महसूस हो रही है वे जाकर खेत-खलिहानों और विश्वविद्यालयों की ठंडी हवाओं में दर्द भरे नगमे सुनें...यह इन्कलाब का मोर्चा है कोई मनोरंजन केन्द्र नहीं। उस नरेन की तरह नौटंकी का अड्डा नहीं चला रहा मैं...यहाँ जिनके दिल-गुर्दे मजबूत हैं वही चल सकते हैं...।

दिल-गुर्दे मजबूत हैं या फिर मर चुके हैं? ईमानदारी से कहिए साथी ये मशीनें इन्कलाब के लिए मुफीद हैं कि आपके लिए? ये कम्पून...

सी पी अचानक बिल्कुल चुप हो गया। उसके चेहरे पर एक धूर्त मुसकराहट खिल गई। वह उठा और स्टडी टेबल के पास जाकर खड़ा हो गया। भारी शोर-शराबा मच गया। कमरे में अफजल, राजेश और दूसरे कई लोग आ चुके थे। अफजल ने पीछे से मेरे हाथ पकड़ लिए, राजेश और श्रीकान्त मुझे लात-धुँसों से मार रहे थे...अचानक मुझे सी पी की चमकती आँखें दिखाई...ऐसा लगा कि मैंने ये आँखें पहले कहीं देखी हैं...ब्लू?...पामुक का ब्लू?...मैंने अचानक जोर लगाया और कोने में रखा वास हाथ में उठाकर सी पी को दे मारा...उसका माथा कट गया और खून बहने लगा...सब उसकी तरफ भागे...रास्ता मिलते ही मैं भी भागा...बाहर निशिता थी...मैंने एक नजर उसकी ओर देखा लेकिन रुका नहीं...अभी सड़क पर पहुँचा ही था कि एकदम जोर से बारिश होने लगी...अचानक...चारों ओर घुप अँधेरा...बीच-बीच में किसी वाहन की हेडलाइट चमक उठती...किसी बरसाती कीड़े की आवाज़...सड़क पर पैदल भींगते हुए अपनी साइकिल की याद आई जो मैं जल्दीबाजी में वहीं छोड़ आया था...मन में ही कहा ...'जाओ यह अन्तिम चीज़ दी तुम्हें...एक जीवन दर्शन सिखाया है तुमने...उन अद्भुत किताबों से परिचय कराया है...गुरु हुए तुम मेरे...पिता सामान गुरु...यह नचिकेता तुम्हें अपनी गुरुदक्षिणा देता है युयुत्सु...अब बचा यौवन नहीं दे सकता...।'

अफजल को इश्क हो गया था...निशिता ने बताया
अफजल का दिमाग फिर गया है...निहाल ने खबर दी

अफजल पगला गया है...राजेश ने विश्वविद्यालय में एक मित्र से कहा
अफजल घर लौट आया है...ज़हीर साहब ने फोन करके बताया।

मैं अफजल से मिलना चाहता था। मिलना ही था। नरेन दा और निशिता भी आना चाहते थे...लेकिन मैंने उन्हें मना कर दिया...मैं उससे अकेले मिलना चाहता था...बिलकुल अकेले। सुबह की बस थी। पहले सोचा था कि एकाध दिन रुक जाऊँगा। फिर तय किया कि सुबह पहुँच कर शाम को लौट आऊँगा।

दरवाजा अम्मी ने खोला। मैंने फोन कर दिया था तो परिचय नहीं देना पड़ा। अबू कॉलेज गए हुए थे। मुझे बैठक में ही रुकने को कहा गया। टीचर्स कॉलोनी का साधारण-सा घर। बैठक में पुराने तरीके का एक सोफा पड़ा था जिसकी पतली फोम की गदियों पर क्रोशिये की फुलकारी का कवर था। सामने रैक पर अफजल और उसके भाइयों की अलग-अलग उम्र की तस्वीरें और ट्राफियाँ रखी थीं। एक तस्वीर में अफजल राज्यपाल से पुरस्कार ले रहा था। एक अन्य तस्वीर में कुशीनगर के बौद्ध विहार के सामने माँ की उँगली पकड़े खड़ा था। एक पुरानी तस्वीर शायद अबू की थी जिसमें हाथ में गोलियाई हुई डिग्री लिए और चोगा पहने वह खड़े थे। रैक के ऊपर मक्का-मदीना की आयतों वाला एक बड़ा-सा पोस्टर था। सामने मेज पर बीचोंबीच में एक काँच का गुलदान जिसमें प्लास्टिक का एक पुराना गुलाब रखा था। ऊपर चल रहा पंखा भी सरकारी था जिससे हवा कम और आवाज़ अधिक आ रही थी। पहले पानी आया...फिर चाय...सबसे बाद में अफजल। लुंगी-कुर्ते में दो-तीन दिनों की बड़ी दाढ़ी के खूंटों के बीच काले से पड़ गए उसके चेहरे से टपकती शर्म और उलझन ने उसे थोड़ी देर रोके रखा फिर 'संजय भाई' कहते हुए लिपटा तो आँखों से जैसे बरसों से जमा दुःख सारे पुल-किनारे तोड़कर बहने लगा। उन आँसुओं ने ही कहा... 'आई एम सॉरी संजय'...मेरे हाथों ने उसे बालों से गुजरते हुए कहा 'कोई नहीं...मैं जानता हूँ वह तुम नहीं थे...तुम्हारे भीतर कोई और था'...लेकिन जो अफजल आज मिला था वह भी कोई दूसरा ही था...।

उसकी बातें समझ में ही नहीं आ रही थीं। अचानक बहुत उत्साहित हो जाता फिर उदास। उसकी बातों का सिरा पकड़ पाना मुश्किल था। अचानक उसने पूछा—

तुम्हारे पास मोबाइल है?

नहीं...मोबाइल तो नहीं...क्यूँ?

सोहेल के पास है...सोहेल को जानते हो न...मेरा छोटा भाई।

अच्छा।

हाँ...बहुत खूबसूरत मोबाइल है...चाइना वाला...और जानते हो उसमें कैमरा भी है...पाँच मेगापिक्सल का कैमरा...।

अच्छा।

हाँ...उसने रजिया की फोटो भी खींची है...।

कौन रजिया?

अरे उसकी रजिया से शादी होने वाली है भाई...वह खिलखिलाकर हँसा तो उसका चेहरा जैसे विकृत हो गया।

और सुनाओ क्या चल रहा है...मैंने बात बदलने की गरज से पूछा...इधर कुछ लिखा-पढ़ा?

कुछ खास नहीं। गज़लें कही हैं कुछ...आजकल सोहेल के साथ उसके एन. जी. ओ. में काम कर रहा हूँ। हम गरीब बच्चों को पढ़ाते हैं। यहाँ बस्ती में एक स्कूल खोला हुआ है...शाम को चार घंटे चलता है। तुम चलना शाम को स्कूल...मज़ा आएगा...।

नहीं शाम को निकलना है... ।
अरे मुझे लगा रुकोगे ।
नहीं यार...फिर आना होगा...अभी काफी काम हैं वहाँ ।
अच्छा...अनामिका से मिले...उसने बहुत धीमे से पूछा ।
नहीं...उससे तो इधर मुलाकात नहीं होती । निहाल मिलता है... ।
ओह...उसकी आवाज़ अचानक उदास हो गई... ।

वहाँ से निकल कर मैं सीधा ज़हीर मामू के घर पहुँचा । वे अभी कचहरी में थे । घर पर अपराजिता मिलीं । पहली बार किताबों की वह दुनिया देखी जिसने अफजल को गढ़ा था । चारों तरफ जमीन से दीवार तक किताबें ही किताबें । वहाँ टालस्टाय थे तो पामुक भी, गोर्की थे तो मुराकामी भी, ब्रेख्त थे तो बोर्हेस भी, नेरुदा भी और मार्खेज भी । प्रेमचन्द थे तो अल्पना मिश्र भी, मुक्तिबोध थे तो अनामिका भी, इचामस्की थे तो अरुन्धती राय भी...दुनिया भर की किताबें जिनका बस नाम सुना था । साहित्य, इतिहास, दर्शन, अर्थशास्त्र, विज्ञान...मैं जैसे सम्मोहित हो बस देखे जा रहा था । अपराजिता जी की आवाज़ से टूटा सम्मोहन...

कैसा है अफजल?

हूँ...ठीक ही है... ।

वह ठीक नहीं है संजय...जिस दिन दुकान पर वह घटना हुई उसी दिन मुझे ये लक्षण दिखे थे । लेकिन तब वह सी पी के प्रभाव में इस क्रदर डूबा था कि कुछ कह पाना, कुछ कर पाना मुमकिन नहीं था । जब लौटकर आया तो सीधे यहीं आया था । लगभग अर्धविक्षिप्त—सा । कोई साथ भी नहीं था । ऐसा लगता था महीनों से न ठीक से खाया है न सोया है । ज़हीर ने सादिक साहब से पहले डॉक्टर को बुलवाया । उन्होंने शायद नींद की कोई दवा दी थी तो घंटों सोता रहा । सपने में न जाने क्या-क्या बड़बड़ाता था । बार-बार अनामिका का नाम लेता था और तुम्हारा भी । पूरे दो दिन बाद थोड़ा सामान्य हुआ तो सादिक साहब को खबर दी । लेकिन वहाँ भेजकर जैसे गलती कर दी हमने ।

क्यों? मुझे तो सब ठीक ही लगा । उसने बताया कि वह किसी एन.जी.ओ. में काम कर रहा है... ।

कोई काम नहीं कर रहा । सोहेल उसके कन्धे पर बन्दूक रखकर चला रहा है । उसने गरीब मुसलमानों के बच्चों को पढ़ाने के नाम पर जम के फंडिंग कराई है । दिखाने के लिए एक स्कूल खोल रखा है । शाम को भेज देता है अफजल को दो-तीन घंटों के लिए । वह बिचारा समाज सेवा समझकर काम करता है । सादिक साहब दिन-रात ताने मारते रहते हैं । सोहेल के सामने उसे नीचा दिखाते हैं । सोहेल ने उसे झाँसा दे रखा है कि इस काम के अच्छे पैसे मिलेंगे । वह बिचारा इन दोनों के बीच पिस रहा है...सी पी ने बहुत बुरा किया उसके साथ संजय. ..फिर जैसे कुछ याद आया उन्हें...बुरा तो तुम्हारे साथ भी किया था बहुत...लेकिन तुम सँभल गए । यह सीधा था...टूट गया ।

ओह...मुझे तो पता ही नहीं था ज़्यादा कुछ । वह विश्वविद्यालय आता नहीं था और निशिता के कम्यून छोड़ देने के बाद मेरा वहाँ और कोई सम्पर्क रहा नहीं । वहाँ क्या कुछ हुआ मुझे कुछ पता ही नहीं चला ।

ज़हीर मामू आए तो उन्होंने खींच कर गले लगा लिया । उसी पल मुझे लग गया था कि आज रात रुकना ही होगा

ठंड रात के अँधेरों में चुपके-चुपके पाँव पसारने लगी थी। बुढ़ाते जा रहे साल की कमजोरी का फ़ायदा उठाकर जैसे वक्रत पर काबिज हो जाना चाहती हो। मामू की बैठक में दीवान पर अधलेटा-सा मैं कभी सामने सोफे पर बैठे मामू की ओर देखता था तो कभी सामने की रैक पर सजे दुनिया भर के दीवानों की तरफ। मामू बिलकुल खामोश बैठे थे। चश्मों के भीतर उनकी आँखें जैसे कितना कुछ कहना चाहती थीं। मैं जानता था कि यह तूफ़ान से पहले की शान्ति है। शाम को उन्होंने मुझे लुई अल्थ्यूजर की 'पॉलिटिक्स एंड हिस्ट्री' पढ़ने को दी थी। शाम से उलट-पुलट रहा था और अब भी वह हाथ में थी। अचानक उस सन्नाटे में मामू की आवाज़ गूँजी...बैग में रख लो वरना यहीं छोड़ जाओगे।

तुम्हें क्या लगता है संजय...अफजल के साथ क्या हुआ?

मैं सच में नहीं जानता। हाँ, वह जिस तरह से बदल गया था मुझे भी उसकी बहुत चिन्ता थी। लगता है इस दबाव को वह झेल नहीं पाया।

हूँ...बहुत सेंसिटिव लड़का था वह बचपन से...जैसे उनकी आवाज़ कहीं बहुत दूर से आ रही थी...अतीत के किसी झरोखे से ... सादिक मियाँ हमेशा उसे मुझसे दूर रखना चाहते थे। लेकिन भागा चला आता था। तुम अन्दाजा नहीं लगा सकते हो संजय कि किताबों से कितनी मुहब्बत थी उसे। पढ़ता नहीं चाट जाता था वह। दीवानगी की हद तक की थी उसने पढ़ाई। जब गोरखपुर गया तो सोचा था कि यह सब उसे और परिपक्व बनाएगा। सी पी के साथ गया तो एक डर तो था पर लगता था कि ये किताबें उसे रोशनी दिखाएँगी और वह सही रास्ता चुनेगा...लेकिन...ऐसा नहीं हुआ। तुम अल्थ्यूजर के बारे में जानते हो?

ज्यादा नहीं। बस नाम सुना है सी पी के मुँह से एकाध बार।

हूँ...पढ़ना...फ्रांस की कम्युनिस्ट पार्टी में था वह। जब स्टालिन के बाद पार्टी खुश्चेव के प्रभाव में थी और मार्क्सवाद को और मानवीय बनाने के लिए स्टालिन को ठुकराया था तो उसने ग्रेट डिबेट में माओ का पक्ष लिया था। बहुत आक्रमण हुए उस पर। लगभग अकेला पड़ गया लेकिन अपनी बात पर अडिग रहा। उसका मानना था कि मनुष्य चूँकि सामाजिक निर्मित है तो यह देखना ज़रूरी है कि किस तरह समाज किसी मनुष्य की अपनी छवि उसकी दृष्टि में निर्मित करता है। यह कम्यून के नाम पर जो समाज बनाया है सी पी ने उसका ही प्रभाव है कि अफजल जैसे लड़के खुद को अपनी नज़र में वैसे ही देखते हैं जैसा वह समाज दिखाता है। वह उस समाज का आदर्श नागरिक बनना चाहता था। बन नहीं पाया...अब उसके पिता उसे इस समाज का आदर्श नागरिक बनाना चाहते हैं...सोहेल जैसा...मुझे डर है वह भी नहीं बन पाएगा। अगर सम्भव हो तो उसे फिर से यूनिवर्सिटी ले जाओ संजय। उसकी पढ़ाई शुरू करवाओ। पैसों की चिन्ता मत करना। मैं मैनेज कर लूँगा। मुझे उसकी बहुत चिन्ता हो रही है साथी।

मैं बात करूँगा उससे...।

हूँ...और बताओ...क्या चल रहा है वहाँ...तुम और नरेन मिलकर सुना कुछ नया काम शुरू कर रहे हो?

हाँ...अभी तो सांस्कृतिक मोर्चे पर ही। राजनीतिक फ्रंट पर कोशिश जारी है। तमाम लोगों से बात हो रही है। जो अब तक के अनुभव हैं उनकी रोशनी में ही कुछ नया तलाशना चाहते हैं हम लोग। आपसे भी बात करना चाहता था।

मुझसे...उन्होंने अपनी आँखें मुझ पर जमा दीं। फिर उठकर आलमारी तक गए। एक किताब निकाली और सोफे पर बैठकर किताब में कुछ ढूँढ़ने लगे और मनचाहा पन्ना मिल

जाने पर मेरी ओर एक बार फिर देखा...सुनो, ब्रेख्त की एक कविता है...नई पीढ़ी के प्रति मरणासन्न कवि का सम्बोधन। उसी से ये लाइनें हैं...गौर से सुनो...

इसलिए
मैं सिर्फ यही कर सकता हूँ
मैं, जिसने अपनी जिन्दगी बरबाद कर ली
कि तुम्हें बता दूँ
कि हमारे सड़े हुए मुँह से
जो भी बात निकले
उस पर विश्वास मत करना
उस पर मत चलना
हम जो इस हद तक असफल हुए हैं
उनकी कोई सलाह नहीं मानना
खुद ही तय करना
तुम्हारे लिए क्या अच्छा है
और तुम्हें किससे सहायता मिलेगी
उस जमीन को जोतने के लिए
जिसे हमने बंजर होने दिया
और उन शहरों को बनाने के लिए
लोगों के रहने योग्य
जिसमें हमने जहर भर दिया

कविता खत्म होते-होते उनकी आवाज़ कमजोर पड़ चुकी थी...रात भी गहरा रही थी। पास की मस्जिद से नमाज-ए-अशा की आवाज़ आ रही थी। ज़हीर मामू ने एक नज़र उस ओर डाली जिधर से आवाज़ आ रही थी और फिर किताब सामने की मेज़ पर रख आँखें मूँद कर सोफे पर अधलेटे हो गए। अपराजिता ने एक बार उन्हें देखा फिर मुझे।

हम सब जानते थे कि अब सिर्फ रात बाक़ी है...बात खत्म हुई!

फिर वह दिन....

कोई ग्यारह बज रहे होंगे जब अफजल मेरे दरवाजे पर अचानक नमूदार हुआ। बेहद खुश दिख रहा था। सामने पड़ते ही 'संजय भाई' कहता हुआ लिपट गया। निशिता से गर्मजोशी से हाथ मिलाया। सामान्य से लगते सबकुछ के बीच बस उसकी मौलाना कट दाढ़ी जैसे नज़र में चुभ रही थी। हाल-चाल...शिकवा-शिकायतों के बीच अचानक उसने अपना मोबाइल निकाला। चाइनीज मोबाइल...उसने बताया... 'पाँच मेगापिक्सल का कैमरा है इसमें। दो हज़ार नम्बर की मेमोरी और दो जी बी का डेटाकार्ड...बस ब्लू टुथ नहीं है बाक़ी सारे फीचर्स हैं'...फिर उसमें सबकी तस्वीरें दिखाने लगा...अम्मी-अब्बू-फैजल...एन.जी.ओ के किसी कार्यक्रम में खींची कुछ तस्वीरें थीं जिसमें स्थानीय विधायक और शहरकाजी भी शामिल हुए थे। वह सबके बारे में बता रहा था...बिना रुके...लगातार। उसकी वाचालता थोड़ा शक भी पैदा कर रही थी लेकिन जिस विस्तार और स्पष्टता से वह सारी चीजों के बारे में बता रहा था, उससे यह शक निराधार भी लग रहा था। मैंने उससे जहीर साहब के बारे में पूछना चाहा तो बस 'वह भी ठीक है'

...कहकर उसने विषय बदल दिया। बातों-बातों में ही शाम हो गई। मैंने कई बार उससे पढ़ाई फिर से शुरू करने के बारे में या फिर राजनीति के बारे में बातें करने की कोशिश की लेकिन नाकाम रहा। शायद पाँच बज रहे होंगे तब जब वह अचानक चलने की बात करने लगा। मैंने रोकने की कोशिश की तो कहने लगा कि 'एक काम है छोटा-सा निपटा कर निकलना है...।'

फिर अचानक पूछा... 'अनामिका से मिले तुम...।'

'नहीं तो...।'

'ओह...वह आई थी हमारे शहर में...।'

'अच्छा।'

'हाँ...अपनी दीदी के साथ।'

'दीदी? यानि देवयानी?'

'हाँ, एक कार्यक्रम था...लेकिन मुझे पता ही नहीं था...तो जा नहीं पाया...दीदी साथ नहीं होती तो वह मुझसे मिलने जरूर आती।'

ओह...अचानक मुझे कुछ सूझा... 'तो क्या तुम मिलने जाओगे उससे?'

हाँ...नहीं मिलूँगा नहीं...बस एक बार देखकर लौट जाऊँगा...मुझे अपने कैमरे में उसकी एक तस्वीर चाहिए बस...।

पागल मत बनो अफजल।

नहीं...किसी को पता नहीं चलेगा...शाम को रोज वह किचन गार्डन में जरूर बैठती है एकाध घंटे...बस तस्वीर लेकर चला आऊँगा...।

विश्वास कीजिए मैंने रोकने का हर सम्भव प्रयास किया। लेकिन सुबह से सामान्य लग रहा अफजल अब कतई सामान्य नहीं था। वह गया...

फिर?

फिर क्या?

वही...

उसका चीखना, कम्यून की बाड़ के कँटीले तारों में शर्ट का उलझना, खून, पकड़ो, भागने ना पाए, गद्दार, जासूस, चोर, सड़क, जीप, रिक्शा, नाली, पुलिस, मोबाइल, गद्दार, पकड़ो, साला, कमीना, थप्पड़, जूते, बेल्ट, बक्कल, शेर, खून...उफ़!

नौ बच्चों की माँ

कृष्णकान्त

सूरज की दस्तक पर जमाना जागा तो ननका भी जाग गई और उसके भीतर की बेचैनी भी। बिस्तर से उठकर वह बाहर आई और इधर-इधर देखा कि हो सकता है जुगनू रात में घर आया हो और कहीं सो रहा हो। बरामदे में, दालान में सभी जगह देख आई। इधर-उधर निगाहें दौड़ाई, वह कहीं नहीं था। सूरज की पदचाप नजदीक आती जा रही थी और उजाला धीरे-धीरे अँधेरे को निगल रहा था। लोग एक और दिन जीतने के लिए तैयार हो रहे थे। ननका बेचौन-सी अंदर-बाहर कुछ एक बार आई-गई और फिर दरवाजे पर झाड़ू देने लगी। वह बड़बड़ाती जा रही थी-आखिर कहाँ गए? क्या उन्हें घर की चिंता नहीं सताती होगी? बिना बताए ऐसे क्यों चले गए? ऐसा तो नहीं कि गाँव वाले जो अफवाह उड़ा रहे हैं, वह सही हो? अब तक जितना दुख दिया था, वह क्या कम था कि अब ऐसा भी दिन देखना पड़ेगा? और वह चुड़ैल! जाने किस माटी से बनी है कि दूसरे का बसा-बसाया घर उजाड़ने में उसे संकोच नहीं होता?

पड़ोस में रहने वाली आरती लोटे में पानी लिए मैदान जाने को उधर से गुजरी तो पूछ लिया- अरे चाची! क्या हो गया, किस पर बड़बड़ा रही हो सुबेरे-सुबेरे?

ननका बोली- क्या होगा क्या? भगवान सब कुछ दे पर निखटू-आवारा मरद न दे। इससे भला है कि राँड़ ही रहो। सात दिन गुजर गए हैं ये अभी तक घर नहीं लौटे। जाने कहाँ कमाई करने गए हैं।

आरती बोली- पता नहीं लगाया कहाँ गए?

पता क्या लगाना, उसी आवारा सरिता के चक्कर में होंगे कहीं। ढूँढ तो आई... किसे पता कहाँ हैं? ये दर्जन भर छेवने और इतना बड़ा घर बार, सब छोड़ कर बुढ़ापे में इश्क फरमा रहा है कुत्ता। आने दो लौट कर फिर बताती हूँ। आरती दबी-सी हँसी हँसती हुई आगे निकल गई और ननका बड़बड़ाती हुए झाड़ू लगाती रही।

गाँव के सभी लोग जानते हैं जुगनू का अड्डा सुखराम चौधरी की चौपाल है। अगर वह घर पर नहीं है तो वहीं होगा। सुखराम और जुगनू बचपन के दोस्त हैं और गाँव वालों के मुताबिक, दोनों एक कान से सुनते हैं, एक ही आँख से देखते हैं। सुखराम की चौपाल उस इलाके की सबसे मशहूर अड्डेबाजी की जगह है। जहाँ पर तमाम लोग सारा दिन आते जाते रहते हैं। चिलम सुलगाती रहती है और ठहाके उड़ते रहते हैं। उस चौपाल का अपना गौरवशाली

सम्पर्क : एफ-89, गली नं. 3, वेस्ट विनोद नगर, नई दिल्ली-92 मो.-09718821664

कृष्णकान्त / 147

इतिहास है जहाँ खपरैल की बल्लियों में तीन पीढ़ियों से उड़ाया जा रहा चिलम का धुआँ चिपका हुआ है। जुगनू और सुखराम के अलावा तमाम गाँव वाले उस चिलम-परंपरा को बिना किसी व्यवधान के निभाते आ रहे हैं। जुगनू का बारह तेरह साल का वैवाहिक जीवन भी उसे इतना व्यस्त नहीं कर सका, कि उसका यहाँ आना-जाना कम हो पाता। वह जब कभी घर से गायब होता, तो सुखराम की चौपाल से ही बरामद होता।

जुगनू के घूमने और कई-कई रोज घर से गायब रहने को लेकर ननका बेपरवाह रहती। उसके मायके में भी इससे इतर कुछ कहाँ है? उसका बाप भी तो यँ ही घूमा करता है और घर-बाहर के सारे काम माँ के जिम्मे होते हैं। यह तो हर घर की रवायत है। मरद दो चार मेहनत के काम कर लेता है तो घर की औरतों पर हनक जमाता है और घर का सारा बोझ औरतों पर डाल देता है, वही जुगनू भी करता।

ननका यदा-कदा यँ ही पूछ लिया करती- कहाँ रहते हो सारा दिन? वह घुड़क देता-अपने काम से काम रखो। ननका चुटकी लेती- हाँ, क्यों नहीं? हम काम से काम से रखें और तुम इधर-उधर मुँह मारते फिरो। तुम्हारे खानदान भर का बोझ ढोने का ठेका हमी ने तो ले रखा है! इस पर जुगनू कहता- बड़ी बैरिस्टर मत बनो। जाओ भागो यहाँ से, अपना काम करो और बात टल जाती।

जब ननका की शादी हुई, उस समय वह पंद्रह बरस की थी। चेहरे-मोहरे से कुछ ज्यादा ही मासूम थी इसलिए बारह-तेरह की दिखती थी। व्याह कर ससुराल आई तो कुछ दिन तो जैसे उत्सव का माहौल रहा। सब निहाल थे। जुगनू की माँ गाँव भर में जा-जाकर अपनी पतोहू का बखान करती। दुल्हन दिखाने के लिए औरतों को पकड़-पकड़ लाती। वे ननका की तारीफ करतीं- अरे भगवान, दुल्हन तो एकदम बिजली है। इस पर वह बल्लियों उछल जाती।

जुगनू भी तब उसे जैसे सर आँखों पर रखता। जब तक घर में रहता, बस ननका के आगे-पीछे लगा रहता। ननका को लगता कि ससुराल में सभी उसको बहुत प्यार करते हैं। मगर यह उत्सव बस थोड़े दिन का था। कुछ ही दिनों में धीरे-धीरे करके घर से लेकर बाहर तक की सारी जिम्मेदारियाँ ननका के सिर आ पड़ी। उधर, जुगनू की आवागारद जीवनचर्या में कोई बदलाव नहीं हुआ। उसकी घुमक्कड़ी और अड्डेबाजी वैसे ही जारी रही, जैसी चली आ रही थी। ननका कुछ बोलती नहीं, क्योंकि वह जानती थी कि वह कुछ बोले भी तो उसकी बात सुनी नहीं जाएगी।

दो-एक महीने में ही सारे घर का बोझ ननका के सिर आ पड़ा। वह घर में चूल्हा-चौका करती। बाहर पशुओं की देखरेख करती। घर के सब काम तो निपटाती ही, यदि कहीं से मजदूरी मिलती तो जुगनू के साथ वहाँ भी हाथ बँटाने जाती। धीरे-धीरे गृहस्थी के भार से उसके कंधे झुकने लगे। अपनी स्त्रियोचित कोमलता को मार कर भी वह कितनी ताकत, कितनी क्षमता जुटा सकती है? कभी-कभी लगता कि जैसे वह अपने नाजुक हाथों से पहाड़ धकेल रही हो। वह थक कर निढाल हो जाती। इस घड़ी में उसका साथ देने वाला नहीं होता।

दो बच्चों का बाप बनने के बाद जुगनू को दारू पीने की लत लग गई। अब वह रोज ही नशे की हालत में घर आने लगा। घर आकर वह तरह-तरह की वहशियाना हरकतें करता। ननका उसे मनाने समझाने की कोशिश करती और जब वह नहीं मानता तो ननका बुत बन जाती और जो वह करता उसे करने देती। तोड़-फोड़ से लेकर मारपीट तक सब होने लगी। ननका असहाय-सी मन ही मन कुढ़ती रहती और चुपचाप देखती रहती और बहुत बार वह खुद उसका शिकार हो जाती। घंटों उसका तमाशा चलता रहता और जब वह थककर सो जाता

तो ननका खूब रोती। वह रात-रात भर आँगन में बैठी रहती और वहीं जमीन पर सो जाती। कुछ ही दिनों में उसके जीवन के जो सबसे नाजुक क्षण थे, वे नरक जैसे लगने लगे।

जैसे-जैसे रात करीब आती ननका का जी लरजने लगता कि उसके पास सोना पड़ेगा और वह जाने क्या करेगा? वह काम करके थकी होती तो उसका मन होता कि वह जुगनू के पास जाये और वह उसे बुला कर अपने पास सुला ले। वह उसके पहरे में चीन की एक नींद को तरसती रहती और जुगनू अपनी धुन में मस्त रहता। उसने कभी ननका का मन टटोलने की कोशिश नहीं की।

एक दिन गाँव भर के लड़कों ने मिलकर चंदा इकट्ठा किया और चौधरी की चौपाल में निलहकी फिल्म (ब्लू फिल्म) चलवाई गई। फिल्म देख कर दारू के नशे में जुगनू घर आया और ननका से कहने लगा कि जैसा-जैसा फिल्म में हीरोइन करती है, तू भी किया कर। ननका बोली- मुझे क्या पता वह क्या करती है? जुगनू बोला- मैं बताता हूँ न, जो जो कहूँ तू करती जा। जब ननका ने उस फिल्म के बारे में जाना तो सकते में आ गई। वह गुस्से में उठी और कमरे से बाहर जाने लगी। जुगनू ने उसे पकड़ कर बिस्तर पर खींच लिया। वह उसे मना करती रही, समझाने की कोशिश करती रही और वह किसी आदमखोर भेड़िये की तरह उस पर टूट पड़ा। यह रात ननका के जीवन की सबसे काली रात थी। जुगनू ने उसके कपड़े फाड़ दिए और उसे पीटते हुए घर से बाहर तक ले आया। ननका के चिल्लाने की आवाज सुनकर मोहल्ले वाले जाग गए। सब लालटेन-चिराग टार्च वगैरह लेकर दौड़े तो देखा ननका एकदम नंगी जमीन पर पड़ी है और जुगनू उसे बेतहाशा पीट रहा है। लोगों ने उसे झिड़क कर दूर किया और ननका को औरतें उठा कर घर ले गईं।

ननका के पड़ोस में रामधन पंडित का घर था। वह उनके यहाँ आती-जाती थी। पंडिताइन से उसकी खूब छनती थी। अपने परिवार में जैसे-जैसे वह अकेली होती गई, पंडिताइन से उसकी नजदीकी बढ़ती गई। वह आकर पंडिताइन के पास घंटों बैठी रहती। पंडिताइन के छोटे-मोटे कामों में हाथ बँटा देती। एक पंडिताइन ही थीं जिससे वह अपना दुख-सुख बाँट सकती थी। पंडित को इस बात से चिढ़ होती। वे पंडिताइन पर चिल्लाते- यह पंडिताइन हरामजादी सारा खानदान डुबो देगी। जो कभी नहीं हुआ वह अब हो रहा है। उस चमारिन से जाने इसकी क्या दोस्ती है। इसको धरम-करम, छूत-अछूत कुछ नहीं समझ में आता। पंडिताइन अपने घर में दबंग थीं और गरज भर की मुंहफट भी। पंडित का बड़बड़ाना उनपर कोई असर नहीं डालता था। पंडित की बातों को अक्सर अनसुना ही कर देती थीं। और यदि कभी गुस्सा आता तो कहतीं- हे पंडित-लंडित, बेचारी एक घरी को आती है तो क्या ले जाती है हमारा? घर में मन ऊबता है तो आकर बैठ लेती है, मन बहल जाता है। कौन-सा छूत उसे चिपका है जो हमें लग जाएगा? तुम्हारी माई तुम्हें ब्यानी होंगी तो सबसे पहले चमारिन ही बुलाई गई होगी। ज्यादा पंडित मत बनो। चोर-चंडाल सबका सीधा लाते हो खाने के लिए। चमार सोना-चाँदी, पैसा-रुपया दान में दे दे, तब नहीं मना करोगे और दरवाजे पर आकर बैठ जाये तो छूत लग गया? पंडित कुढ़ कर रह जाते।

ननका के चेहरे पर नाखून और दाँतों के निशान हमेशा ताजा रहते थे। मुहल्ले की औरतें और लड़कियाँ इस बारे में कानाफूसी करतीं। कोई जुगनू को शैतान कहता तो पिशाच कहता। कुछ औरतें तो ननका को ही दोषी ठहरातीं कि रंडियों की तरह सज-धज कर रहती है तो क्या होगा? एक तो गोरी चमड़ी, ऊपर से छम्मक-छल्लो बनी रहती है। कुछ का कहना था कि यह जुगनू की नहीं, किसी और की कारस्तानी है। बहाना जुगनू का है, मगर असलियत

कुछ और है। पंडिताइन ने एक रोज पूछा- तेर चेहरा हमेशा नोचा हुआ क्यों रहता है रे? उसने कहा- पहलवान मरद मिला है। उसी की मरदानगी है यह। मुझे नोच कर खाने में मजा आता है उसे। पंडिताइन ने सलाह दी-सिरहाने हंसिया रख कर सोया करो। भतार की तरह आए तो ठीक, छिछोर-बरवार की तरह आए तो एक दिन लिंग काट लो हरामी का। किसी काम का न रह जाए, बस सारी मरदानगी उतर जाएगी। दाढ़ीजार कहीं का!

पंडिताइन की नायाब सलाह पर ननका को हंसी आ गई तो पंडिताइन उस पर भी गुस्साई-खीस क्या निपोर रही है छिनालों की तरह। जो कहती हूँ कर, नहीं तो ये मरद सुअर की औलाद जीने नहीं देते। अरे मरद है तो साथ सोए। नोचा-नाची क्यों करता है हरामजादा? बात ननका के मन की होती, लेकिन जाने क्या था कि वह अपने मरद के बारे में बुरा नहीं सोच पाती थी।

ननका के ससुराल आने के बाद से ही मोहल्ले के जितने लड़के थे, सब ननका को ताड़ते रहते और जब दाल नहीं गलती तो किसी न किसी से उसका नाम जोड़ देते। कोई कहता पंडित के लड़के से फँसी है, तभी तो रोज-रोज जाती है उनके घर। कोई कहता ठेकेदार से फँसी है, कोई कहता चौकीदार से फँसी है तो कोई कहता पैसे लेकर चलती है। यह और बात है कि उसे किसी के साथ कभी किसी ने देखा नहीं था।

पंडित का बड़ा लड़का-रमाशंकर तो सच में यही समझ बैठा था कि ननका उसके घर उसी के लिए आती है। वह दिन भर ननका के घर के आरी-आरी मंडराता रहता। ननका जब उसके घर जाती तो भी आसपास ही रहता। ननका उसकी हरकतें समझती तो थी, लेकिन इस डर से कि किसी तरह का बवाल न हो, अनदेखा कर जाती।

एक दिन पंडिताइन ने उसे बुलाया कि थोड़ा सा चावल है, जिसमें कीड़े पड़ गए हैं। जरा आ जाओ तो मिल कर साफ कर लेंगे। वह पहुँची तो रमाशंकर बरामदे में मिल गया। बोला- आओ, आओ! तुम्हारा ही इंतजार कर रहा था। आओ बैठो। ननका बात काटते हुए बोली- पंडिताइन कहाँ हैं?

अरे आ जाएंगी वे भी, पहले हमसे तो मिलो। उसने करीब आकर ननका का हाथ पकड़ लिया और बोला- आओ बैठो तो सही। तुम तो हाथ भी नहीं रखने देती हो! ननका ने हाथ झिड़क दिया और वापस लौट पड़ी। इतने में पंडिताइन घर से बाहर निकलीं- अरे ननका आओ! काहे जा रही हो? रमाशंकर माँ की आहट पाकर वहाँ से हट गया था। ननका बोली- कोई दिखा नहीं तो हमने सोचा कि बाद में आते हैं। कहते हुए पंडिताइन का पाँव छुआ और बैठ गई।

रमाशंकर ऐसी हरकतें बार-बार करने लगा, पर वह क्या करे? सबके दुख पंडिताइन से बाँट लेती थी, पर उनसे कैसे जाकर कहे कि तुम्हारा बेटा ही मुझ पर बुरी निगाह रखता है। कभी-कभी वह सोचती कि पंडिताइन का हंसिया वाला फार्मूला पहले इसी पर अपनाया जाये, लेकिन जाने क्या सोचकर वह हमेशा टालती रहती।

ननका के घर के बगल में एक और झोपड़ीनुमा घर था जिसमें एक काका रहते थे। उनके माँ-बाप उन्हें इसी नाम से बुलाते थे और अब पूरा मोहल्ला तो क्या, पूरा इलाका उन्हें इसी नाम से जानता था। जब ननका ससुराल आई, उस समय काका दस साल की सजा काटकर जेल से आए थे। उम्र कोई पैंतीस के आसपास थी। शादी नहीं हुई थी। जब वे जेल गए थे तो उनकी एक माँ और छोटी बहन थी। जब जेल से लौटे तो कोई नहीं था। माँ ने बेटी की औने-पौने शादी की और खुद जहाने-फानी से कूच कर गई।

काका दस दरजा तक पढ़ थे और हरदम गुस्से में रहते थे, खास कर ऊँची जातियों के लोगों से। वे दस साल जेल की सजा काट कर आए थे। जेल की रहनवारी ने उन्हें और उग्र बना दिया था। वे बिरादरी वालों से कहा करते कि यह ऊँचा-नीचा, पंडित-शूद्र कुछ नहीं होता। सब साजिश है। सब इंसान एक बराबर हैं। सबको जीने खाने का हक है। किसी से दब कर रहने की जरूरत नहीं है, चाहे ठाकुर हो, चाहे बाभन। अपने इस विद्रोही स्वभाव के कारण काका हरदम ब्राह्मणों और ठाकुरों के निशाने पर रहते थे। यह गुस्सा उनमें अनायास नहीं आया था। इसकी वजह उनके तमाम भले-बुरे और बर्बरतापूर्ण अनुभव थे।

काका की उम्र 13 तेरह साल की थी, तभी बाप मर गया। बाकी बची माँ और छोटी बहन, जिसका नाम कोइला था। साढ़े तीन बीघे खेत था, जिसमें हाँड़ तोड़ कर माँ-बेटे कुछ न कुछ उगा ही लेते थे। बाकी कुछ मजूरी-धतूरी हो जाती और उसी के सहारे गृहस्थी की गाड़ी खिसकती थी।

कोइला बेहद सीधी लड़की थी जो बहुत ही कम बोलती थी। वह स्वभाव से शर्मीली थी और घर से बाहर कम ही निकलती थी। मुस्कराती तो लगता जैसे बिजली कौंध गई हो। उसका नाम भले कोइला भले रहा हो, पर उसकी सुंदरता से गाँव की सभी युवतियाँ जलती थीं। वे आपस में कहतीं- चमारिन भला इतनी सुंदर कैसे हो सकती है? पक्का किसी बाभन-ठाकुर की लड़की है, वरना इतनी सुंदर न होती। मजदूरी करती है तब भी दूध की तरह भभक्क उज्जर है। जाने क्या खाती है! गाँव में जहाँ भी दो-चार लड़कों का झुंड इकट्ठा होता, कोइला की चर्चा जरूर हो जाती।

काका और उसकी माँ अक्सर घर से बाहर का कामकाज देखते और कोइला घर सँभालती थी। वह खेतों में कभी-कभार ही जाया करती, जब बहुत जरूरी हो। काका कहता—इतनी सुंदर बहन है मेरी, खेत में काम करने के लिए? वह शरमाकर कहती- चलो हटो... हम नहीं हैं सुंदर-फुंदर...मस्का न मारो, कोई काम हो तो बोलो? इस तरह भाई-बहन में अक्सर एक बनावटी झगड़ा ठना रहता था।

माँ-बेटे मिलकर कोइला की शादी की तैयारी ही कर रहे थे कि आखिर उस पर लंपटों की नजर लग गई। ठकुराने के कुछ लंपटों में होड़ लगी कि देखना है कोइला को कौन पटा पाता है? इसके बाद लड़कों ने खूब कूल्हा पीटा, तरह-तरह के उपक्रम किए मगर किसी की दाल नहीं गली।

गाँव से लगा एक बहुत बड़ा घना-सा बाग था। झाड़ियों की आड़ के कारण गाँव की औरतें उसी में नित्यक्रिया के लिए जाया करती थीं। एक रोज दोपहर में कोइला उसी बाग में गई हुई थी। अभी वह बैठी ही थी कि ठकुराने का एक लड़का अजय अचानक आकर सामने खड़ा हो गया। कोइला हड़बड़ाकर उठी और एक हाथ से सलवार का नारा पकड़ा और दूसरे हाथ में लोटा सँभाल कर भागी। अजय ने दौड़कर उसका हाथ पकड़ लिया। कोइला ने आव देखा न ताव, हाथ का लोटा अजय के मुँह पर दे मारा। उसकी नाक से खून आ गया, चोट के कारण पकड़ ढीली पड़ गई और कोइला हाथ छुड़ा कर घर भाग गई।

यह घटना गाँव के लड़कों में काफी चर्चित हुई। जिन लोगों में कोइला को पटाने की होड़ मची थी, उनमें से कइयों ने तो अपनी उम्मीदवारी वापस ले ली। बोले- अबे यार! लौंडिया है या फूलन देवी? साली मार के मुँह तोड़ देगी, कौन पड़े उसके चक्कर में....।

इस घटना पर गाँव के लोग जितना मजा ले रहे थे, अजय उतना ही तिलमिला रहा था। आखिर उसने प्रण किया कि वह बदला लेकर रहेगा।

एक दिन काका खेत में निराई कर रहा था। माँ ने कोइला को खाना लेकर भेजा। कोइला जब तक खेत में पहुँचती, काका दूसरे रास्ते से घर आ गया। कोइला उसे खेत में न पाकर वहीं बैठ गई कि यहीं कहीं होगा और वह वहीं पेड़ के नीचे इंतजार करने लगी। इतने में अजय वहाँ आ पहुँचा। भरी दोपहरी थी। दूर-दूर तक सन्नाटा पसरा था। अजय उसके साथ जबरदस्ती करने लगा। कोइला ने भरसक अपने को छुड़ाने-बचाने का प्रयास किया, लेकिन अंत में वह हार गई। अजय जब तक वहाँ से हटा कि काका आ गया। कोइला बैठी सुबक रही थी। उसके चेहरे पर खरोंचें आ गई थी जिससे हल्का-हल्का खून रिस रहा था। कपड़े बुरी तरह क्षत-विक्षत हो गए थे। काका ने घबराहट में इधर-उधर देखा तो कुछ दूर पर अजय जाता हुआ दिखाई दिया। काका ने घबराकर पूछा क्या हुआ तो उसने सब कह दिया। काका जिस खुरपी से निराई कर रहा था, हाथ में ली और अजय के पीछे चल पड़ा। अजय ने उसे अपनी ओर आते हुए देखा पर वह बेपरवाह था। उसने सोचा आने दो क्या करेगा? अभी तक गाँव में कोई ऐसी घटना सामने नहीं आई थी कि ब्राहमणों-ठाकुरों पर कोई चमार कभी हाथ उठाये। जबकि, उनकी लड़कियों के साथ बलात्कार होना कोई नई बात नहीं थी। ऐसा सुनने में कभी नहीं आया कि किसी लड़की का बलात्कार हुआ हो तो बलात्कारी को किसी तरह की कोई सजा मिले। सब गाँव वाले मिलकर लीपापोती कर देते और बात खत्म हो जाती। काका तेज कदमों से अजय के पास पहुँचा और बिना कुछ कहे खुरपी से उसपर ताबड़तोड़ वार करने लगा। वह उसे तब तक मारता रहा जब तक वह थक नहीं गया। अजय का पूरा बदन छलनी हो गया। वह थोड़ी देर तक छटपटाता रहा और फिर दम तोड़ दिया।

इस घटना पर पूरे गाँव के सवणों को पहली बार अभूतपूर्व ढंग से एकजुट देखा गया, क्योंकि सबकी एक राय थी कि अभी ही इनको दबाया न गया तो ये आफत बन जाएँगे। काका को हत्या के जुर्म में दस साल की सजा काटनी पड़ी।

ननका के मन में काका के प्रति सहानुभूति थी। वह अक्सर उनका खाना बना आती या बुला कर अपने घर खिला देती। उनका छोटा-मोटा काम कर देती। काका, ननका की बहुत इज्जत करते। कभी चिलम पी रहे हों और ननका पहुँच जाए तो वे चिलम बुझा देते। उन्हें कोई काम पड़ता तो वे ननका को बुला लेते और वह जाकर मदद कर देती। काका अक्सर ननका से कहते- जुगनू बहुत नसीब वाला है जो तुम जैसी सुंदर और कामकाजी मेहरी पाया है। हमारा नसीब लिखने में तो मालिक ने कंजूसी कर दी। वह शरमा कर वहाँ से हट जाती।

ननका के जीवन में जो भी परेशानियाँ थीं, उनकी जड़ केवल जुगनू था। अकेले उसका सहयोग न मिलने के कारण ननका को लगता कि जैसे वह कहीं घने जंगल में भटक रही है। जब तब वह घबरा उठती और झल्लाती, चारों ओर राह तलाशती, मगर करे तो क्या करे? यह बात उसे कचोटती रहती कि मरद कितना बेपरवाह होता है? अगर औरत भी ऐसी हो जाये तो? हमें चूल्हा भी फूँकना है, घर भी देखना है, पशुओं की देखरेख भी हमी को करनी है। मजदूरी करने भी जाना है। साँझ को लौट के आयें तो दिन भर का हिसाब भी देना है। क्या मर्द यह सब निबाह सकता है?

ससुराल आने के बाद जल्दी ही वह माँ बन गई थी और फिर यह सिलसिला रुका नहीं। बारह साल के भीतर उसने नौ बच्चे जने। जैसे-जैसे बच्चों की संख्या बढ़ती गई, उसकी जिन्दगी कठिन से कठिनतर होती गई। इतने सारे बच्चों को संभालना हिमालय सर पर उठाने से कुछ कम तो बिल्कुल नहीं। उधर, जुगनू बेपरवाह। वह कभी-कभार मजदूरी के सिवा कोई और काम नहीं करता। घर पर रहता तो बस पत्नी और बच्चों को आदेश देता रहता। किसी न

किसी पर चिल्लाता रहता। इसलिए जब वह घर पर नहीं होता तो ननका ज्यादा सुकून महसूस करती। वह सोचती-जब सारे काम हमीं को करने हैं तो किसी की झिड़की क्यों? मरद जितने वक्त घर पर न रहे, जी को आराम ही रहता है। काम तो एक नहीं करना, पड़े-पड़े हुकुम चलाता रहता है।

जुगनू आठवें दिन भी घर नहीं आया। ननका जाने क्या-क्या सोच रही थी कि बड़ी लड़की माया आकर ननका से बोली-गाँव के सब लोग चौधरी की बहन सरिता और बाबू के बारे में उल्टा सीधा कहते हैं। कहते हैं कि दोनों का कुछ चक्कर है इसीलिए बाबू घर नहीं आते। इतना सुनते ही ननका ने उसे खदेड़ लिया-भाग यहाँ से हरामजादी, जो कहता हो उसी से कह दो रखवाली करे। आलतू-फालतू बातें करेगी तो खींच लूँगी जबान।

ननका ने बिटिया को खदेड़ तो लिया लेकिन उसके मन में शक पैदा हो गया। जाता तो है ही जुगनू चौधरी के यहाँ। आखिर कोई बात नहीं है तो फिर इस तरह वह गायब क्यों रहता है? कहाँ जाता है? क्या सचमुच वह.... ननका रो पड़ी।

सरिता सुखराम चौधरी की बहन है जो कि विधवा है। शादी के कुछ ही महीने बाद उसका पति एक हादसे में मर गया तो सुखराम उसे अपने घर ले आया कि दूसरी शादी कर देंगे। मगर उसने दूसरी शादी करने से मना कर दिया। वह कहती- एक बार जो हो गया, हो गया। दूसरी शादी नहीं करेंगे। हरदम बुझी-बुझी-सी रहती। बैठती तो बैठी रहती। सोती तो सोती रहती। घर के लोग उसे लेकर चिंतित रहते। जुगनू का बचपन से उसके यहाँ आना जाना था और सरिता से उसकी अच्छी जमती थी। वह उसे बहलाने की कोशिश करता। धीरे-धीरे देखने में आया कि जुगनू रहता है तो सरिता थोड़ा खुश रहती है। इसलिए वह उदास हो या खाना न खा रही हो तो घरवाले कोशिश करके उसे जुगनू के सुपुर्द कर देते और जुगनू उसे बहला देता। इस दौरान जुगनू और सरिता की नजदीकियाँ बढ़ती गईं और उनके आपस में प्रेम संबंध हो गए। इस बीच चौधरी ने गाँव से थोड़ा बाहर हटकर सरिता के रहने के लिए एक चौपाल बनवा दी। अब जुगनू को उससे मिलने में कोई असुविधा भी नहीं रही।

अब तक जुगनू और सरिता को लेकर लोगों में कानाफूसी होने लगी थी। ननका इस अफवाह की पुष्टि के लिए पंडिताइन के पास गई तो पंडिताइन पहले से ही जुगनू से खार खाये बैठी थीं, क्योंकि उन्हें सब मालूम था। बोलीं- जाकर थाने में रिपोर्ट लिखवा। वह चौधरी की बहन है न रांड, फॉस लिया है उसको। सारा दिन उसी के चक्कर में घूमता रहता है कुत्ता। उसी के साथ कहीं गायब है आठ दिन से। ननका के पैरों तले से तो जैसे जमीन खिसक गई। वह फफक पड़ी। पंडिताइन ने खूब समझाया और अंततः ननका ने निश्चय किया कि अब कुछ करने की जरूरत है।

जुगनू नौवें दिन घर लौटा। ननका ने उससे न कुछ कहा और न ही कुछ पूछा। सारा दिन उसने जुगनू से बात नहीं की। जुगनू ने जो भी पूछा या बोलने की कोशिश की तो उसने हाँ-हूँ में जवाब दे कर टाल दिया। शाम को जुगनू ने फिर घर के बारे में हालचाल पूछा तो ननका उबल पड़ी- हमें तुम्हारी घर-गृहस्थी से कोई मतलब नहीं है। ये अपने बहत्तर अंडे-बच्चे सम्हालो और जहाँ मन करे जाओ जो मन करे करो। हमसे कुछ मत पूछो। बिना बताए गायब हो, इतना बड़ा परिवार है, कैसे चलेगा, इसके बारे में कभी सोचते हो? किसके दम पर घर छोड़ गायब हो गए थे? न रह पाते हो उनके बिना तो ले आओ। हम तुम्हारी लौंडी नहीं हैं कि गुलामी करें और तुम देश भर की राँडों के पीछे-पीछे फिरो....।

वह बड़बड़ाती जा रही थी कि जुगनू ने उसे टोका-अच्छा मुँह बंद रखो नहीं मुँह तोड़

देंगे। ननका और जोर चिल्लाने लगी। जुगनू ने इतना कुछ ननका के मुँह से कभी सुना नहीं था, न उसे इसकी आदत थी। उसने ननका की पिटाई कर दी, लेकिन ननका भी अब आरपार के मूड में आ चुकी थी। जुगनू के प्रति उसके मन में कोई लिहाज नहीं रह गया था जिसे वह रख छोड़ती। उसने जी भर गालियाँ दीं। वह जितनी गालियाँ देती जुगनू उसे और पीटता, ननका और गालियाँ देती। पूरे मोहल्ले के लोग जुट गए। पंडिताइन भी आ गईं। उन्होंने बगल में पड़ा एक डंडा उठाया और जोर से गरियाते हुए जुगनू की पीठ पर दे मारा। जुगनू वहाँ से हट गया।

मारपीट का यह सिलसिला अब रुकने वाला नहीं था। जुगनू यदि काम पर नहीं जाता तो सरिता के यहाँ जरूर जाता। इस पर ननका टोका-टाकी करती और फिर झगड़ा होता। झगड़े में और होना क्या था? जुगनू उसे बेतहाशा पीट देता। इस पर ननका चीखती-चिल्लाती। जुगनू और पीटता। ननका और चिल्लाती। मुहल्ले के लोग इकट्ठा होकर तमाशा देखते। फिर कोई आकर छुड़ा देता और झगड़ा शांत हो जाता। लोग जुगनू को समझाते भी कि अब इस उम्र में यह क्या कर रहे हो? नौ बच्चों की माँ है वह। उसे मारने पीटने में तुम्हें शर्म नहीं आती? लेकिन जुगनू पर किसी के कुछ कहने सुनने का जैसे कोई फर्क ही न पड़ता हो।

इस सब के बीच घर की हालत बिगड़ने लगी। जुगनू काम पर अक्सर नहीं जाने लगा। ननका अनमनी-सी रहने लगी। घर में खाने पीने की किल्लत शुरू हो गई। ये सारी मुसीबतें भी ननका के सिर आईं, क्योंकि बच्चों को भूख लगती तो वे ननका के पास आते। किसी की तबीयत खराब है, किसी का कपड़ा फटा है, किसी के पास जाँघिया नहीं है, किसी को गोलियाँ और चूरन चाहिए, ननका परेशान हो उठती। अब उसमें शायद इतनी ताकत नहीं बची थी कि बच्चों समझा ले जाए।

बड़ी लड़की माया अब चौदह साल की हो गई थी। उसके बाद दो लड़के और फिर एक लड़की, ये चार बच्चे ऐसे थे जो अब मजदूरी के लिए भेजे जा सकते थे। ननका ने उन्हें काम पर भेजना शुरू किया, लेकिन बिना सीजन के मजदूरी भी कहाँ मिलती है? छिटपुट काम मिला तो मिला। ननका के लिए घर चलाना अब ऐसे हो गया जैसे चींटी के लिए पहाड़ उठाना।

ननका की यह सब समस्या काका देखा करता था। वह जुगनू पर भीतर ही भीतर कुढ़ता रहता। बीच-बीच में वह ननका की कुछ मदद करने की भी कोशिश करता, लेकिन ननका मना कर देती। बाल-बच्चे जिसके हैं जब उसे कोई मतलब नहीं है तो दूसरे को तकलीफ क्यों दें?

एक रोज सबसे छोटे लड़के को तेज बुखार हो आया। शाम को जुगनू घर तो आया लेकिन उसने बच्चे की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया। ननका ने माया से कहलवाया कि मुन्ने को बुखार है, तो जुगनू बात टाल कर चला गया।

लड़का चारपाई पर पेट के बल लेटा उल्टी कर रहा था। उसके पास कोई नहीं था। काका ने अपने घर से ही देखा तो आकर उसे पानी दिया और ननका को आवाज दी। वह आई तो उसे डॉटने के लहजे में बोला- क्यों नहीं इसकी दवा करातीं? मर रहा है वह तुम्हें फुरसत नहीं है?

फुरसत है तो क्या करूँ? कहाँ से करूँ? घर में एक पैसा नहीं है। लड़का बीमार है, देखा है फिर भी जाने कहाँ चले गए। मरने दो, हम क्या करें। काका ने बच्चे को अपने साथ साइकिल पर लादा और डॉक्टर के यहाँ ले गए।

ननका का डॉक्टर के यहाँ, बनिये के यहाँ, सब जगह कई महीने से खाता चल रहा था और हजार-पाँच सौ सबका उधार था। जुगनू से उसकी बातचीत एकदम बंद थी। ऐसे

में तमाम संकोच के बावजूद वह काका से अक्सर पैसे की मदद लेने लगी। काका को भी यह अच्छा ही लगता था, क्योंकि ननका भी उसके लिए बहुत करती थी। उधर, पंडिताइन भी उसे जब-तब अनाज वगैरह दे दिया करतीं, लेकिन नौ बच्चों को किसी के रहमो-करम पर कैसे पाला जा सकता है?

एक दिन काका की तबीयत खराब थी। उन्होंने ननका को बुलाया कि कुछ खाने का इंतजाम कर दे। ननका ने काढ़ा बना कर उसे पीने को दिया और खाना बनाने लगी। काका वहीं चौखट पर बैठा चाय पी रहे थे। ननका खाना बना रही थी और दोनों बातें भी कर रहे थे। काका ने कहा- आज कल तुम बहुत कमजोर हो गई हो।

कौन-सा सुख के दिन काट रही हूँ कि मोटापा आएगा?

वह तो छिछोरा निकल गया। अब उसकी करतूतों पर मत जाओ। तुम्हारा घर है, बच्चे हैं, हिम्मत से काम लो। जो जरूरत हो, बताया करो। किसी बात का कोई संकोच मत किया करो। मेरे कोई नहीं है। तुम्हीं सब हो, जिससे कभी-कभी सहारा माँग लेता हूँ। यह कर्ज इसी जनम में उतर जाए तो अच्छा है... कहते-कहते काका भावुक हो गए और आँखों के कोर गमछे से पोंछ लिए। ननका को ऐसी संवेदना की दरकार जाने कबसे थी। काका को रोते देख उसे भीतर-भीतर दुख में सनी हुई अजीब सी खुशी हुई। ननका भी रो पड़ी। मन हुआ जाकर काका से लिपट रहे। उदासी भरी आवाज से बोली- मेरा मन बहुत घबराता है काका। अब जी चाहता है अपने आप को खतम कर लूँ। वह जोर से फफक पड़ी। काका उठ कर उसके पास आ गए। वह चूल्हे के आगे ही उठकर खड़ी हो गई। काका ने उसके सर पर अपना हाथ फिराते हुए कहा—जब तक मैं हूँ तब तक यह कतई न करना। मैं तुम्हें इस तरह कायरता से मरने नहीं दूँगा। जब तक चला सकती हो चलाओ, जब न चल पाए तो बताना। मुझ पर भरोसा रखो। ननका खाना तैयार करके चली गई।

एक दिन ननका बहुत उदास थी। वह जुगनू के बारे में सोचती रही और अचानक लगा कि कलेजा फट पड़ेगा- वह ऐसा निष्ठुर हो गया? मेरा न सही, अपने पैदा किये नौ बच्चों का तो ख्याल किया होता! वह खूब जी भर रोई फिर उठकर चल दी पंडिताइन के पास कि कुछ जी हाल कहेगी उनसे, और अगर मन-मुँह देखा तो थोड़ा सा अनाज माँग लेगी। आज घर में बनाने को एक दाना नहीं है।

वह पंडिताइन के दरवाजे पर पहुँची तो देखा कि घर की दालान से कपड़े ठीक करती-घबराई हुई माया निकल रही है, उसके पीछे रमाशंकर। उसके तो जैसे प्राण ही सूख गए—तो क्या मेरी बच्ची आ गई इस शैतान के चंगुल में? उसने ननका से पूछा—कहाँ थीं? वह काँप रही थी। चुपचाप माँ को देखती रही, मगर बोली कुछ नहीं। ननका ने फिर पूछा- क्या कर रही थीं दालान में? वह फिर कुछ नहीं बोली। रमाशंकर ने ननका को देखा तो दूसरी ओर चला गया। उसने माया का बाल पकड़ा और घसीटते हुए घर तक लाई और ताबड़तोड़ उसकी पिटाई करने लगी- कुतिया...रामजादी अब यह दिन भी दिखाएंगी तू? जबसे इस घर में आई हूँ, तब से वह सुअर की औलाद मेरे पीछे पड़ा था। मुझको छू भी न सका लेकिन तू... भेड़िए हैं ये सब। नोच कर खा जाएँगे तुझे....।

ननका ने उसे बिस्तर पर धकेल दिया और दूसरी कोठरी में जा कर खूब फूट-फूट कर रोई।

इतनी असहाय वह कभी नहीं थी। आज यह पहली बार है जब उसने पंडिताइन के पास जाकर अपनी व्यथा नहीं कही। क्या पंडिताइन यह स्वीकार कर पाएँगी कि उनके लड़के

ने ही उसे लूट लिया? क्या जुगनू इस बारे में सुनेगा तो अपनी बच्ची की लुटती अस्मत् के बारे में व्यथित होगा? वह तो खुद अपनी बीवी बच्चों को छोड़ कर रंगरलियाँ मना रहा है? ननका अब क्या करे, कहाँ जाए?

इतने में छोटी लड़की आकर पूछने लगी—अम्मा खाना क्या बनेगा?

वह पंडिताइन के यहाँ इसीलिए तो जा रही थी। आजघर में खाने को कुछ नहीं है। वह गुस्से में चीखी- कुछ नहीं बनेगा। जहर खा लो और मर जाओ सब के सब...हट जाओ यहाँ से। बिटिया ने रुआँसी हो कर ननका की ओर देखा और चुपचाप चली गई। उसे जाते देख ननका को लगा कि उसका कलेजा दो टुकड़े हो जाएगा। क्या अब यह दिन आ गया है कि वह अपने बच्चों को भूख से तड़पता हुआ देखेगी?

नहीं...मैं यह नहीं देख सकती...मैं.....।

वह उठी और पीछे के दरवाजे से निकलकर लंगड़ा ताल की ओर चल दी। यह गाँव के बाहर बहुत ही गहरा ताल है। बताया जाता है कि उसमें लगभग हर साल एक न एक आदमी किसी बहाने डूब जाता है। दरवाजा खुला तो काका को भनक लग गई। ननका माया को पकड़कर ला रही थी तो काका ने देखा था। वह सारा माजरा समझ गया था। ननका बेतहाशा चली जा रही थी। वह तालाब के करीब पहुँचकर जरा देर के लिए ठिठकी और मुड़कर पीछे देखा तो काका खड़े थे।

अरे यह क्या? अपनी मर्जी से मौत भी नहीं मिलेगी? उसने हड़बड़ी में तालाब की ओर छलांग लगा दी। लेकिन काका ने झपटकर उसे पकड़ा और बाल हाथ में आ गया। वह ताल के कगार पर ही गिर गई। झटके से उठकर खड़ी हुई और चिल्लायी- छोड़ दो मुझे...छोड़ दो काका...छोड़ो मुझे...काका...

काका ने उसे ताल की कगार से खींच कर दूर जमीन पर पटक दिया- पागल हो गई हो? तुम्हारे बाल-बच्चे हैं। क्या होगा उनका?

जहन्नुम में जाएँ बाल-बच्चे...जहन्नुम में जाए मरद... हमें अब किसी की जरूरत नहीं है। हमसे अब और सहा नहीं जाता।

काका ने जोर से से डांटा—मैंने कहा था न कि जब तक मैं हूँ, तुम्हें मरने नहीं दूँगा। दुनिया में ऐसी भी कोई परेशानी नहीं जिसका कोई समाधान न हो। चलो, वापस चलो।

- मैं नहीं जाऊँगी अब।

- चलो... तुम्हें घर चलना होगा।

- मैं सिर्फ एक शर्त पर चल सकती हूँ।

- क्या?

- अब मैं उस घर में नहीं जाऊँगी। वहाँ अपने बच्चों को एक-एक दाना अन्न के लिए तरसते देखने और घुट-घुट कर मरने के अलावा के कुछ नहीं है। मैं जिसके लिए उस घर में गई थी, वह मेरा नहीं रहा। अब वहाँ मेरा कोई सहारा नहीं। मेरी फूल-सी बच्चियों को ये गाँव वाले मेरी ही आँखों के सामने नोच-नोच खाएँगे और मैं कुछ कह भी नहीं पाऊँगी, जैसे आज कुछ नहीं कह पाई। आज बड़ी लड़की है कल छोटी का भी यही होगा। अगर मेरा मरद खुद छिछोरा न होता, तो यह सब कभी न होता? मैं कुछ बोलूँ तो किसके दम पर बोलूँ? मैं उस हरामी का मुँह नोच लेती, लेकिन किसके बल पर करूँ? मैं कितनी असहाय हूँ?

- तुम असहाय नहीं हो, चलो घर। मैं अभी उसका हिसाब किए देता हूँ। मैं इतना कर सकता हूँ कि आज से तुम्हारी बच्चियों को छूने की कोई हिम्मत न कर पाए। तुम चलो घर,

मैं उसे सबक सिखाता हूँ। आज के बाद इस गाँव में कोई तुम्हारी ओर आँख उठाकर नहीं देखेगा।

- फिर से जेल जाओगे? नहीं, यह नहीं होगा। अपनी परेशानी की सजा तुम्हें नहीं दे सकती। और फिर इन पाखंडियों के बीच क्या करूँगी जाकर, जो अपनी ही बच्चों तक का बलात्कार कर सकते हैं? जो अपने नौ बच्चों सहित अपनी पत्नी को छोड़ सकता है किसी के लिए, क्या करूँगी उसके पास जाकर, मैं अब उसका मुँह नहीं देखना चाहती। इन गाँव वालों का भी नहीं।

- चलो मेरे साथ। आज के बाद जिसने तुम्हारी ओर बुरी निगाह की, उसे मैं कच्चा ही चबा जाऊँगा। हम पर भरोसा करो...चलो वापस...।

- तुम गाँव वालों से लड़ सकते हो, लेकिन मैं तो अपने से हारी हूँ। उसका क्या करूँ? वह मेरा मरद है, उसके लिए तो नहीं कह सकती कि उसे भी चबा जाओ। वह अपना नहीं रहा, फिर भी अपना है। उसके लिए मौत नहीं माँग सकती, पर त्याग तो सकती हूँ।

- तो क्या करोगी?

- जो भी करूँगी, अब इस गाँव में नहीं रहूँगी। या तो मरूँगी या कहीं और जाऊँगी।

- इतनी अधीर क्यों होती हो, मैं तुम्हारे साथ हूँ।

- मगर यहाँ नहीं, मैं घर तो क्या, यह गाँव भी छोड़ रही हूँ। अगर तुम्हें मेरी फिक्र है तो चलो मेरे साथ।

- और बच्चे।

- मैं नहीं जानती। जिसके हैं वो पाले या छोड़ दे गाँव वालों को नोच कर खाने के लिए।

- इसमें बच्चों की कोई गलती नहीं है। उन्हें साथ ले लो।

- इतनी बड़ी फौज कहाँ लेकर जाऊँगी।

- जहाँ हम रहेंगे, वहीं वे भी रहेंगे।

- फूटी कौड़ी नहीं है पास। नौ-नौ बच्चों को किसका माँस खिलाएँगे? छोड़ो और चलो। मुझे अब किसी का कोई मोह नहीं है।

ननका कहते-कहते वह बुरी तरह फफक पड़ी। काका ने ननका का हाथ पकड़ा और गाँव सड़क की ओर चलते हुए कहा—चलो, रहने का कोई ठिकाना बना लेंगे, फिर आकर बच्चों को ले जाएँगे।

ननका ने फटी आँखों से आँखों से काका की ओर देखा और काका से लिपट गई। काका ने उसे परे हटाते हुए कहा—गाँव पास ही है, कोई देखेगा। चलो यहाँ से।

दोनों सड़क पर पहुँचे तो काका ने कहा—तुम यहाँ रुको। मैं घर से होकर आता हूँ। कुछ पैसे हैं, वह ले आऊँ तो कुछ दिन खर्च चल जाएगा।

काका घर आए और अपने पास पड़े हुए रुपये लिए। कुछ सामान बाँधकर तैयार किया। माया को बुलाया और उसे सारी बातें बताईं फिर समझाते हुए बोले—मेरे घर की चाबी ले लो। वहाँ जितना भी अनाज है, उठा ले जाओ। करीब पंद्रह दिन तक चल जाएगा। भाई-बहनों को सम्हालना और घर से बाहर कहीं मत जाना। तुम्हारे एक गलत कदम से तुम्हारी माँ मरना चाहती है। बोलो, क्या यह ठीक है?

माया फूट-फूट कर रोने लगी—माँ से कह दो हमें माफ कर दें। हमसे गलती हो गई। मैं अपनी मरजी से नहीं गई थी। उसने हमसे कहा था कि पंडिताइन बुला रही हैं। हम गए तो मुझे दालान में खींच लिया और जबरदस्ती की।

काका उसे समझाते हुए बोले—जो हुआ उसे भूल जाओ, लेकिन अब कोई भी ऐसा काम तुम्हें नहीं करना है जो तुम्हारी माँ को पसंद न हो।

उसने हाँ में सर हिलाया। काका ने उससे यह आश्वासन लिया कि उनके लौटने तक वह सभी बच्चों को समहालेगी और दरवाजा बंद कर उसे चाबी देकर चले गए।

शाम हुई। जुगनू घर लौटा तो सरिता उसके साथ थी। माया खाना पका रही थी। जुगनू ने दबी-सी आवाज में पूछा— तुम्हारी अम्मा कहाँ हैं?

उसने न में सिर हिलाते हुए कहा—पता नहीं और आँखों में भर आये आँसुओं को चूल्हे के धुएँ में छुपा लिया। जुगनू ने घर के अंदर बाहर सभी जगह ननका को ढूँढा, वह कहीं नहीं मिली। अगले दिन भी नहीं। काफी छानबीन हुई और उसके निष्कर्ष निकाला गया कि काका भी नहीं दिख रहे और ननका भी। दोनों कहीं भाग गए। गाँव के एक बुजुर्ग ने इसकी पुष्टि की कि वह खेत में घास छील रहे थे तभी ननका को काका के साथ सड़क की ओर जाते देखा था।

गाँव भर में हल्ला मच गया— ननका-काका के साथ भाग गई... बताओ... नौ बच्चों की माँ थी, उसको बुढ़ापे में ही यह सब करना था? छिः छिः... हे भगवान! दो के दोनों मरद-मेहरी एक जैसे ठहरे... अरे जब मरद ही शोहदा ठहरा तो मेहरी भी वैसी ही हो गई और अब बच्चे...

माया अब घर से नहीं निकलती और हमेशा सोचा करती है कि वह दिन कब आएगा जब काका हम सब को लेने आएँगे। वह रोज ही छुप-छुप कर रोती है और यह बात किसी से नहीं कहती।

एक दिन वह पीछे के दरवाजे पर उदास खड़ी थी तो देखा दूर खेतों की तरफ से काका चले आ रहे थे।

काम वाली बाई अभी आई है

संजीव बख्शी

काम वाली बाई अभी आई है
कह रही है
उसकी कल्पना
चार साल की है
पास एक झुग्गी झोपड़ी में रहती है
एक ही तो है, बताती है कि
कितनी मन्नत की तो कई साल के बाद हुई
कल्पना

अंग्रेजी स्कूल में भर्ती कर दी है उसे
उसे ड्रेस पहन कर रिक्शा में बैठ कर स्कूल जाने का
शौक था
घरवाला रिक्शा चलाता है
एक उसका ससुर चलाता है
दो रिक्शा है
ड्रेस में बच्चों को छोड़ने जाते हैं तो
कल्पना देखती है बड़े ध्यान से
बताती है बाई मेरी पत्नी को बर्तन घिसते।

क्यों करती है रे तू चार घर का काम
सुबह से शाम क्यों खटती है
तेरे घर में दो रिक्शा है
पत्नी कहती उससे

क्या फायदा इसका
दोनों दारूबाज हैं

जो कमाते हैं दारू में उड़ा देते हैं
ससुर तो रिक्शा को बीस रुपए लेकर दे देता है
किसी को चलाने
उसको रोज दारू चाहिए
नींद नहीं आती बिना दारू के
कई-कई दिन तो सास कमा के लाती है उसी में
उसके लिए दारू आ जाती है

एक कमरा है सास ससुर का
दूसरा कमरा उन लोगों का, बताती है बाई

रोजाना स्कूल के लिए एक टिफिन लेकर जाती है
कल्पना
स्कूल से लौट कर आती है
दूसरों के टिफिन में कुछ देखती है अलग तो
शाम को बता देती है क्या रखना है कल टिफिन में
कल पोहा कहा था
फिर नूडल और
चना की सब्जी और पूरी
आज के लिए कहा गया
सैंडविच
पर न तो सैंडविच कह सकती कल्पना
और न सैंडविच कहने से समझेगी उसकी माँ
पर बताया गया और बताए गए को समझ लिया गया
ब्रेड के स्लाइस को घी से तवे पर सेक कर बीच में
आलू की रख दी गई सब्जी

काम पर निकलने के पहले बाई
उसका टिफिन तैयार कर देती है
स्कूल से लौट कर आती है कल्पना तो
उसका इंतजार करती है उसकी खाने की थाली
और थाली पर दो रुपए
जो माँ रोजाना बिना नागा रख देती है
उसे देख कर कल्पना पूछती नहीं माँ कहाँ है
माँ होती है घर घर के काम पर और कल्पना
दो रुपए के साथ घर में अकेले
इस तरह दो रुपए रोज का नियम-सा बन गया है

घर में हो या मोहल्ले में
सब काम नियम से होता है

नियम है कि टैंकर जब पानी लेकर आए तो
सब पहले दो-दो बाल्टी भर ले
और पानी बच जाए तो फिर एक-एक बाल्टी और मिलता है

घरवाला और ससुर रोज दारू पीते हैं
नियम से पीते हैं
कभी ज्यादा तो कभी सीमा में

जिस दिन ज्यादा हुआ तो
समझ लो मोहल्ले में मचा झगड़ा
यह भी जैसे मुहल्ले का नियम हो कि सब समझ जाते हैं

एक दिन बाई काम पर आई तो बताती है
गए रात पति को चप्पल से उसने मारा
ज्यादा पी लिया था
कहीं गए थे वहाँ सबके सामने
जाने क्या-क्या कहने लगा
घर आई तो गुस्सा तो था ही

पर बाई साब डर भी लगता है
जिस दिन ज्यादा पी कर आता है
तो आते ही सो जाता है
में जागती हूँ रात भर कि रात में उठ कर
कुछ का कुछ न कर दे क्या भरोसा मंदहा का

कल्पना की होने वाली है
गर्मियों की छुट्टी
स्कूल में उसने सबसे सुना है कहीं जा रहे हैं सब के सब
उसने भी घर में एलान कर दिया है
नानी के यहाँ जाना है उसे
काम वाली बाई ने माँग ली है छुट्टी चार दिनों की
यह सब बता कर

बागबहरा के पास एक देवी के मंदिर में मानता की है
वहाँ भी नहीं गई अब तक
जाना है, कहते हैं देवी की ऊँचाई बढ़ती जा रही है

छत तक पहुँच गई है, अब और नहीं बढ़ना चाहिए
उसने बताया और श्रद्धा से उसकी आँखें नम हो गईं
कल्पना के लिए मानना किया था वहाँ।

छुट्टी का समय है
अब दिन भर रहना है कल्पना को घर में
सो पाँच रुपए में होती है कल्पना तैयार
भाइयों के परिवार के पाँच बच्चे
कोई खरीद लाता है दुकान से थोड़ा शक्कर
कोई नींबू और एक भाई जो चपरासी है
उसके यहाँ फ्रीज है सो
ठंडा पानी या बर्फ वहाँ से
और शर्बत तैयार
ऐसे कटती रोजाना की दोपहरी माँ के बगैर
वाह रे पाँच रुपया

पानी का टैंकर आया था और मैं नहीं पहुँची थी घर
बाई ने बताया
कल्पना थी अकेली
उसने जो मिला बर्तन छोटे-मोटे उसमें से ला लाकर
एक गंजी में आधा पानी भर लिया
वह घर आई, खड़ी थी सामने कल्पना पूरी भीग गई थी पानी से
घर भर में पानी फैला हुआ था
कह रही थी इसी पानी में खाना बनाना और
बर्तन भी धोना

काम पर आज आई तो कहने लगी बाई साहब से
बी सी खेलती है वह और जमा करती है इस तरह पैसे
इस बार वह खरीद कर ले आई है फुल साइज की आलमारी
साढ़े छः हजार में
बहुत महँगी है रे, कहने लगी बाई साब तो
उसने कहा हॉ बाई
आधी तो उधारी में है, किश्त भरेगी तो ज्यादा तो देना ही पड़ेगा न
एक डबल बेड का पलंग भी उसने लिया है
वह उसकी बहन है न
वह जहाँ काम पर जाती है उनके यहाँ
आया है नया डबल बेड तो निकालना था पुराना
देखने गई थी और दो हजार में खरीद ली
अच्छा किया रे तुमने पर रखेगी कहाँ घर में जगह है?

इसलिए तो उसे माँ के यहाँ छोड़ दिया है
बीच का दीवाल तोड़ना होगा कि बेड के लिए जगह हो जाए
फिर ले आएँगे।

वाह रे पगली है रे तू।
पर होशियार भी!
कुछ ही दिन बीते होंगे बताती है बाई
मोहल्ले में निगम वाले आए थे
सड़क के चौड़ी करण में तोड़े जा रहे हैं घर
उसके घर की भी नाप हो गई है
जो सबके साथ होगा वही तो उसके साथ होगा
चली जाएगी जहाँ सब जाएँगे
वह बता रही पर चिंता हो रही है बाई साहब को
कहाँ खोजेंगी दूसरी बाई

कहती है बाई
डबल बेड को ले आई है
माँ वाले हिस्से के मकान में अभी रखी है
बीच की दीवाल को अभी नहीं तोड़ रही है कि
देख लें निगम वाले क्या तोड़-फोड़ करते हैं

माँगती है वह पगार एक महीने का और
तो पूछती जरूर है बाई साब उससे
क्या हो गया रे
फिर कोई बीमार हो गया
सरकारी में क्यों नहीं जाते
नहीं बाई साब
कहती है बाई कि
चार दिन हुए कल्पना का बाप पी कर आ गया था
और टीवी को उठा कर जमीन पर पटक दिया
टुकड़ा-टुकड़ा हो गया
चार दिन तो कल्पना चाचा के यहाँ गई
टीवी देखने पर
जिद करने लगी
क्या करती ले आई छोटी वाली रंगीन टीवी
पाँच हजार की है।

कल्पना के स्कूल में होना था फैंसी ड्रेस का कार्यक्रम
गोलबाजार के एक दुकान में किराए में ड्रेस मिलता है

सो जमा करना है दो सौ
एक दिन के लिए मिल जाएगा ड्रेस
राधा बनना है उसे और उसके चचेरे भाई को शंकर जी
तैयारियाँ जोरों से चलीं
एक दिन सुबह से घूमने निकल रहा था
रिक्शे पर तैयार राधा बैठी थी और बाजू में शंकर
जरा भी नहीं हिल रहे थे
रिक्शे को घेर कर खडे थे मोहल्ले के
सारे के सारे स्त्री पुरुष बच्चे बूढ़े
काम वाली बाई दूसरे दिन बताती है वह गई थी स्कूल
साथ में गए थे घर के सारे लोग और पड़ोसी

हर महीना दो सौ देती है बिना नागा माँ के लिए
बीमार रहती है और दवा के लिए लगता है
बचा कर देती है वह पगार से
कहती है इतना तो माँ के लिए वह करती है
कल्पना से छुपा कर देती है कि
कहीं बता न दे वह पति को

वाह रे बड़ी समझदार है तू!

छः कविताएँ

शंकरानंद

घंटी

अक्सर मिलती है कहीं टँगी हुई और
एकदम चुप किसी कोने में पड़ी रहती है

कोई उसे देखता है और कोई देखता भी नहीं है
घंटी रहती है एकदम उपेक्षित और उदास

जब तक बजती नहीं
किसी को एहसास ही नहीं होता कि
ये कान के पर्दे भी झनका सकती है।

समय

गुल्ले का तनना और चिड़िया का गिरना
एक साथ होता है

अक्सर जब पतीले का पानी खौलता है
तब कोई नहीं जानता कि
भाप में किसी की जान भी जा सकती है

सम्पर्क : क्रान्ति भवन, कृष्णा नगर, खगड़िया-851204 (बिहार) मो.-08986933049

५५५५५ / 165

अधिकांश उसी की जिसका सम्बन्ध न पानी से
न आग से न भाप से न अन्न से होता है।

डर नहीं था

चलते-चलते चींटी रुक गई

चिड़िया ने पंख समेट लिया और
मछलियाँ थम सी गईं

वहीं कहीं एक आदमी भी खड़ा था जो
चलते-चलते रुक गया था
शायद सामने कोई खतरा था

एकाएक रुकने का कारण
डर तो बिल्कुल नहीं था!

चित्र

तुम पहचानती हो रंग
रंग की जरूरत जानती हो तुम

जब भी तुम्हारी उँगलियाँ डूबती हैं रंगों में
सब कुछ खिल जाता है और फिर
कभी नहीं मुरझाता

यहाँ तो बाँस के पत्तों का रंग कब से हरा है
घनी है दूब और चिड़िया के पंख में
थकान का रंग नहीं है

जब तुम सँभालती हो रंग तो उसे
बिखेर देती हो उस तरह कि
जीवन का सूर्यास्त कभी नहीं होता
साँस दिखती तो नहीं लेकिन चलती रहती है।

तब

असंख्य बार मैंने गिनना चाहा
लेकिन तारे कभी उँगली पर नहीं आए

हमेशा बाहर रहे और उनका टिमटिमाना
धूल ने भी अपने पानी में देखा

बच्चे जब-जब थके
बैठ गए अगली रात के इन्तजार में और
फिर निराश हुए
ये तारे फिर नहीं गिने गए

ये तारे जहाँ रहे
कभी झाँसे में नहीं आए किसी के
वरना जिनके पास ताकत है
उनकी जेबों में टिमटिमाते रहते।

दूसरे दिन के लिए

आज भी दिन भरा है उजाले से
भरी है चिड़िया की चहक पत्तों में
रंगा है आसमान काले-उजले पंख से और
होटों पर हँसी खिली है
लेकिन ये बहुत नहीं है

धरती की चादर तो दूब के रंग की है
हल्का गाढ़ा-सा उल्लास का रंग पक रहा है धीरे-धीरे
कहीं पत्ते निकलने को आतुर हैं और
कहीं फूल आकार ले रहा है निपट सन्नाटे में
कहीं धागे बन रहे हैं कहीं पतंग
कहीं बीज बन रहा है कहीं रस और
कहीं किलकारी गूँजने ही वाली है

खुशबू है हवा है नमी है सपने हैं
धूप है और कहीं रेत पर बरस रहा है पानी

अगर धुआँ है तो वह टूटने की कगार पर है
अगर धुंध है तो वह छँटने की तैयारी कर रही है

अंडे से कल जो पर निकलेंगे वे फड़फड़ाने की आवाज
भर देंगे हर जगह और
जो थका है वह नए हौसलों के साथ उठ खड़ा होगा

दूसरे दिन के लिए आज ही तैयार हो रहा है सूरज
जग चुकी हैं आँखें और
कोंपल के आने की आहट सुनाई पड़ रही है।

तीन कविताएँ

जितेन

ऐसा ही होता है हर बार

लाल किले पर
जब तिरंगा फहराकर, प्रधानमंत्री
दे रहे थे भाषण
देश की समृद्धि और
खुशहाली का
ठीक उसी वक्त
फँसे हुए थे हजारों लोग
बाढ़ में
भूख में
और महामारियों की चपेट में
और हमारे क्षेत्रीय प्रतिनिधि
कर रहे थे हवाई सर्वेक्षण
प्रभावित इलाकों का
अपनी-अपनी फाइव स्टार रखैलों के साथ
सरकारी खर्च पर।
रोज मरते हैं
लाखों माताएँ और बच्चे
अस्पतालों में
अस्पतालों के बाहर
और देश के सबसे बेहतरीन डॉक्टर

सम्पर्क : कमरा नं. 119, माही छात्रावास, जे.एन.यू., नई दिल्ली-67, मो.-09873712275

पक्षधर / 169

परखनलियों में निषेचित भ्रूणों के लिए
तलाश रहे हैं सरोगेट मदर।
और इस दौरान
देश का सबसे सशक्त मीडिया
खोज रहा होता है
सेक्स और सनसनीखेज खबर
रईसों की कॉलोनियों में।
अब आजादी के दीवानों
की मजार पर लगी हैं मोटी जंजीरें
वीरान पड़े हैं उनके बताए रास्ते
उनमें लगी हैं तख्तियाँ
'यह आम रास्ता नहीं है।'
इसी तरह चलता रहता है सबकुछ
और हम आजादी की अगली वर्षगाँठ
मनाने की तैयारी में लग जाते हैं।

बड़की सोरेन

कभी सोचा है बड़की
कि तुम्हारे ही
बाप दादाओं की जमीन पर हैं
सारे पत्थर की खदानें
और इतने सारे क्रेशर'
फिर भी आधा पेट खाकर सोना पड़ता है तुम्हें।
इन्हीं क्रेशरों में
हर रोज सुबह से शाम तक
खटने के बाद भी
तुम बचा नहीं पाती
महीने में पाँच सौ रुपये।
और वो सिन्धी ठेकेदार
गटक जाता है करोड़ों
तुम्हारी जमीन और तुम्हारी ही मेहनत पर।
जानती हो बड़की
एक करोड़
बहुत बड़ी रकम होती है
इतनी कि

अगर हर रोज तुम खर्च करो
एक हजार
तो पूरे खर्च होने में लगेंगे
सत्ताईस साल साढ़े चार महीने
और सत्ताईस साल
बहुत लम्बा समय होता है
इतना कि
जितने में तुम्हारी पाँच साल की
बिटिया होपोन्टी
तुम्हारी जितनी हो जाएगी
और उसका बेटा
तोड़ रहा होगा पत्थर
और उसके भी छोटे-छोटे बच्चे
सीख चुके होंगे पत्थर तोड़ना
खेल-खेल में।
सोचा है कभी
तुम्हारी ही झोपड़ी को
मुँह चिढ़ाती उसकी कोठी
बनी है तुम्हारी ही जमीन पर
तुम्हारे ही खदान के पत्थरों से
तुम्हारे ही बाप दादाओं की मेहनत से
फिर भी तुम्हारी झोपड़ी
इतनी कमजोर क्यों है?

(1. क्रेशर : पत्थर तोड़ने वाली मशीन)

कुत्तों का रोना

जानते हो दोस्त
कुत्तों का रोना
अशुभ नहीं होता हर बार
यह सभी 'लोग' जानते हैं।
यहाँ 'लोग' से कन्फ्यूज मत हो जाना।
लोग का मतलब वे अस्सी करोड़ लोग
जो कुत्तों का रोना अशुभ मानते हैं,
जो बदलते भारत का हिस्सा

कभी नहीं हो सकते
जिनकी आँतें मरोड़कर
अपना भारत बढ़ रहा है आगे।
जिनके आँसू, खून-पसीने और भूख पर
मेरे और तुम्हारे जैसे उल्लू के पट्टे
लिखते हैं कविता
और कवि होने का भ्रम पाले बैठे होते हैं।
और दुनिया से शिकायत करते हैं कि
हमारा साहित्य कोई नहीं पढ़ता।
हाँ तो बंधु!
ऐसे 'लोग' रोते कुत्तों को मार भगाते हैं।
दरअसल वे जानते हैं कि
कुत्तों के रोने का मतलब ठंड बढ़ रही है
और ठंड बढ़ने का मतलब 'लोग' मरेंगे
वे रोते कुत्तों को भगा कर
अपने सामने पड़ी एक भयावह
सच्चाई को झुठलाना चाहते हैं।
इसलिए कुत्तों का रोना उनके लिए अशुभ है
इसलिए वे रोते हुए कुत्तों को मारना चाहते हैं।
अब तुम्हीं बताओ
रोते हुए कुत्तों को मारने से
अशुभ दूर होता है भला!

लोक संगीत गुरु और शिष्य का मिलन¹

पी.सी जोशी

उत्तराखण्ड की लोक-संस्कृति के आन्दोलन के अग्रदूत मोहन उप्रेती को दिवंगत हुए जून, 2012 को पंद्रह वर्ष हो जाएँगे। उनका निधन इतना आकस्मिक तथा अप्रत्याशित था कि एक शून्य छोड़ गया जो भर न सका, एक ऐसी क्षति काल के दीर्घ अन्तराल के पश्चात् भी जिसकी पूर्ति न हो सकी। अपने जीवन के अन्तिम तीन महीनों में मोहन अपनी वाक्-शक्ति पूर्णतया खो चुके थे, एक ऐसे रोग के कारण जिसका निदान न हो सका। एक संगीतकार के प्रति कुदरत की कितनी निर्ममता! एक संगीतकार जिसकी वाक्-शक्ति अनगिनत स्वर-लहरियों के सृजन में समर्थ थी और स्वर-सृजन में ही जिसके जीवन की सार्थकता थी। यह कितना दुखदायी अहसास है कि स्वयं संगीतकार से हम उसकी वह वाणी अब कभी नहीं सुन सकेंगे जो हमारे अन्तर की अतल गहराइयों को उद्वेलित करती थी।

हममें से अधिकांश के लिए मोहन के निधन के पश्चात् जीवन प्रक्रिया पहले जैसी नहीं रही—उनके विस्तृत स्नेहिल परिवार के लिए, उनके अन्तरंग सखा तथा मित्रों के लिए जिनसे मोहन के सम्बन्ध, उनके जीवन-पर्यन्त बने रहे। नाट्य-केन्द्र विद्यालय के सहकर्मियों तथा पर्वतीय कला-केन्द्र के सहयात्रियों तथा उत्तराखण्ड की जनता के लिए, जिनके लिए वे स्थानिक, सांस्कृतिक नवजागरण के प्रतीक बन गए थे।

हाल के दिनों में सच्चे शोक की ऐसी प्रखर अभिव्यक्ति हमने नहीं देखी जैसी हमारे बीच से यकायक चले गए मोहन के महाप्रयाण के समय देखी गई—व्यक्तिगत रूप से अनुभूत तथा सार्वजनिक रूप से अभिव्यक्त। एक ऐसे व्यक्ति के लिए जो न तो कोई बहुत बड़ा अधिकारी था, न मीडिया द्वारा बहु-प्रचारित व्यक्तित्व। मोहन अपने संगीत के द्वारा असंख्य हृदयों में प्रवेश पा चुके थे अपनी उस कला के प्रति निष्ठा के कारण भी कि जिससे प्रेरित होकर उन्होंने स्वयं को एक ओर कला के बाजारीकरण से अलग रखा तथा सत्ता के गलियारों से संरक्षण और सम्मान पाने के रास्ते से भी।

1. यह लेख मूल रूप से अंग्रेजी में लिखा गया था और सर्वप्रथम अंग्रेजी साप्ताहिक 'मेनस्ट्रीम' में (जून 3, 2000) में छपा था। इसी लेख का एक संशोधित रूप संगीत नाटक अकादमी, नई दिल्ली की पत्रिका में भी छपा था। हिन्दी में यह लेख अंग्रेजी लेख का पूरी तरह से महज अनुवाद नहीं, उस आधार पर तैयार किया हुआ लेख है। हिन्दी लेख को तैयार करने में श्री विपिन चन्द्र जोशी से जो मदद मिली है उसके लिए मैं जोशी जी का आभार व्यक्त करता हूँ। लेख में जो भी कमजोरियाँ रह गई हैं उसकी जिम्मेदारी मेरी है।

जिस मार्ग पर चलकर वे आज भी याद किए जाते हैं प्रदर्शित करता है कि वह जीवन जो सादगी तथा शालीनता से जिया गया हो, जो आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति से मुक्त हो और जिस आदर्श को वरण किया हो उसके प्रति सम्पूर्ण सेवा का भाव हो, ऐसे आदर्श के लिए समर्पित जीवन में वह आकर्षण होता है जो जन-मन को प्रेरित कर सके और गहराई में प्रभावित कर सके। मोहन ने स्वयं को और अपने संगीत को क्रय-विक्रय की वस्तु कभी नहीं बनाया। उनके भीतर वह प्रतिभा थी तथा वह आकर्षक रूप-रंग भी था जिसको लेकर वह चित्रपट तथा दूरदर्शन के चमक-दमक वाले संसार में उच्चतम स्थान प्राप्त कर सकते थे और प्रतिष्ठा के साथ समृद्धि भी प्राप्त कर सकते थे। हमने कई प्रतिभाओं को सांस्कृतिक उद्योग मंडल और कला के बाजार द्वारा निगले जाते देखा है। किन्तु मोहन ने सामान्य पथ के पथिक बनने का विकल्प स्वीकार किया। उन्होंने अपनी ही सांस्कृतिक परियोजना पर अपनी सारी सृजनात्मक ऊर्जा केन्द्रित करने का निर्णय लिया, वह भी अपनी शर्तों पर स्वल्प साधनों के आधार पर अपने ही मार्ग पर चलने का सपना सँजोया। उनके सहयोगी ऐसे युवा थे जो कला से अपनी आजीविका नहीं, बल्कि आजीविका अलग से जुटाने के साथ-साथ पर्वतीय कला-केन्द्र के कार्यकर्ता भी थे। इस प्रकार उनका केन्द्र उभरती हुई युवा प्रतिभाओं पर निर्भर था। कोई भी लोक कला में रुचि रखने वाला किसी भी क्षेत्र से केन्द्र में आकर अपना योगदान देने में सफल हुआ था। यही मोहन की कार्यशैली की विशिष्टता तथा भिन्नता थी।

अपने ही जीवन काल में मोहन उत्तराखंड की लोककलाओं एवं लोक-संस्कृति के रचनात्मक विकास एवं पुनरुत्थान आन्दोलन के अग्रदूत के रूप में स्वीकृति तथा स्थापित हो चुके थे। उन्होंने इस क्षेत्र की सांस्कृतिक परम्परा को विस्मृति तथा गुमनामी से बाहर निकालकर राष्ट्रीय धरातल पर मान्यता प्रदान की। लोक परम्परा में जो भी जीवन तत्व और सम्भावनाएँ निहित हैं, मोहन ने उनके प्रति देश के सभी प्रदेशों में लोगों को जागरूक बनाया और एक नए लोक सांस्कृतिक पुनर्जागरण के लिए भारतवर्ष के कोने-कोने में कलाकारों को प्रेरित किया। वे पर्वतीय कला-केन्द्र के हरेक संस्थापक और निर्माता के रूप में तथा आधुनिक मंच पर लोककला को उतारने के बहुमुखी, रचनात्मक प्रयोगकर्ता के रूप में एक आदर्श प्रस्तुत करने में सफल हुए। उन्होंने एक मॉडल प्रस्तुत किया जिससे अन्य अंचलों में भी अपनी-अपनी विशिष्टताओं की रक्षा करते हुए कलाकार प्रेरणा ले सकें। मोहन ने दिखा दिया कि यह सारी उपलब्धि अल्प राजकीय सहायता से तथा धनी एवं शक्तिशाली वर्ग पर निर्भर हुए बिना भी प्राप्त की जा सकती है।

पिछले कुछ दिनों में गहरे शोक के साथ सम्मान तथा प्रशंसा के स्वर मोहन के अभाव में व्यक्त हुए वह अपने मूल रूप में एक ऐसे कलाकार के प्रति सहज हार्दिक श्रद्धांजलि थी जो अपने वातावरण से ऊपर उठ सका तथा जो दिल्ली की चकाचौंध में गुमराह नहीं हुआ जहाँ कई विशिष्ट प्रतिभाएँ अपनी अस्मिताओं को खोकर मार्ग भ्रष्ट हो चुकी थीं और आज भी हो रही हैं। एक वरिष्ठ कलाकार ने सही कहा कि “महानगरों में कलाकार तो सम्पन्न, समृद्ध हुए हैं, किन्तु कला दरिद्र और निस्तेज हो गई है।” दिल्ली में मोहन एक अपवाद स्वरूप थे जिनकी कला समृद्ध हुई तथा गहरी जड़ें जमा पाईं, किन्तु वे कलाकार के रूप में अपनी आडम्बरहीन जीवन-शैली में, अपनी चिर-परिचित सादगी में ही सीमित रहे। अपने निधन के दिनों में, मोहन तथा उनकी पत्नी नईमा एक-दो कमरों वाले छोटे-से आवास में रह रहे थे, जिसे उन्होंने अपनी और अपनी पत्नी की अत्यल्प बचत से ईदगाह परिसर में खरीदा था, अभिजात्य वर्ग के बीच नहीं किन्तु अभावग्रस्त सरल, कार्यरत श्रमजीवियों के बीच में; जो प्रथम बार उनके निधन पर शोक प्रकट करने आए थे वे यह देखकर बहुत व्यथित हुए कि एक विख्यात कलाकार

ऐसे साधारण आवास में साधारण लोगों के बीच रह रहा था और इसी से सन्तुष्ट था। मोहन को न इस बारे में कोई खेद था और न अपनी सादगी का कोई अभिमान। इस सादगी के बीच भी उनको सजना, सँवरना और एक गरिमा बनाए रखना आता था। कला के प्रति मोहन के दृष्टिकोण तथा कलाकार के रूप में जीवन-यापन करने के उनके प्रेरक कौन-से प्रभाव रहे होंगे यह विशेष खोज का विषय है।

मुझे प्रतीत होता है कि उनके चाचा श्री चन्द्रशेखर पन्त जो एक विख्यात शास्त्रीय-संगीतज्ञ थे युवा संन्यासी बन गए थे। वे मोहन पर गहन अमिट छाप छोड़ गए थे। कला के प्रति तथा एक कलाकार के संयमित और समर्पित जीवन के प्रति मोहन का लगाव चाचा का गहरा प्रभाव व्यक्त करता है। किन्तु चाचा का प्रभाव एक-दूसरे स्रोत से शक्ति पाकर पूर्णरूपेण सशक्त बन सका। मेरी दृष्टि में रोमाँरोलाँ की उत्कृष्ट रचना 'जाँ क्रिस्ताफ' ने मोहन की युवावस्था में उनके निर्माण काल में उन्हें सर्वांगीण रूप से प्रभावित किया था। उनके साथ मैंने भी इस महान ग्रन्थ को पढ़ा था, जो एक संगीत की महान प्रतिभा की जीवन-गाथा थी, जिसने जीवन-पर्यन्त पाखंड और मिथ्याचार के विरुद्ध संघर्ष किया तथा जो उन सभी विरोधी शक्तियों के विरुद्ध आजीवन लड़ा चाहे वे उद्योग-धन्धों से सम्बन्धित हों या राजनीतिक शक्तियों से, जिसने भी कला तथा कलाकार को निम्न स्तर पर रखने की चेष्टा की हो। मोहन के लिए 'जाँ क्रिस्ताफ' एक प्रेरक आदर्श बन गया, संगीत के प्रति समर्पित अनुराग के आदर्श जीवन के सच्चे मूल्यों की खोज के आदर्श तथा संगीत द्वारा जनता की सेवा का आदर्श। मार्क्स और माओ के प्रभाव से भी पूर्व 'जाँ क्रिस्ताफ' ने वे बीज पहले ही बो दिए थे जो कला के एक सलुझे हुए दर्शन के रूप में पल्लवित पुष्पित हुए। यहाँ पर मैं इस दर्शन के दो मूल बिन्दुओं का जिक्र करूँगा जिन्हें मोहन ने आत्मसात् कर अपना बना लिया तथा जिनका स्रोत उन्हें 'जाँ क्रिस्ताफ' में प्राप्त हुआ।

पहला वक्तव्य है कि "कला की साधना तथा धन प्राप्ति के प्रयत्न एक साथ नहीं चल सकते।" मोहन ने यह स्पष्ट सन्देश जो रोमाँरोलाँ के निम्न शब्दों में अभिव्यक्त हैं आत्मसात् कर लिया था—

"यह अनुभव करने के हेतु कि धरती मेरी माता है, मुझे अपने चरण दृढ़ता से उसकी गोद में ऐसे ही मजबूती से रखने होंगे एक नवजात शिशु की तरह जो इसी में जीवन का प्रकाश पाता है। धन उस कोमल बन्धन को तोड़ देता है जो मानव को धरती माँ से और धरती-पुत्रों को एक सूत्र में बाँधता है। तुम कलाकार बनने का स्वप्न कैसे देख सकते हो? कलाकार तो धरती की वाणी है। एक धनी व्यक्ति महान कलाकार नहीं बन सकता।"

उसकी कला के दर्शन का दूसरा मूल बिन्दु यह था कि "जन ही कला का उद्गम तथा चरम लक्ष्य है।" इसका भी प्रथम बोध 'जाँ क्रिस्ताफ' ने ही कराया। कितनी बार मैंने उन्हें उस उपन्यास से बार-बार इन पंक्तियों को पढ़ते हुए पाया था—

"'जाँ क्रिस्ताफ' अपने संगीत को जनता से सहभागिता की प्रक्रिया मानता था, मानवता से जुड़ी हुई कला के अतिरिक्त अन्य कोई जीवन्त कला महान नहीं है। ऐसा सम्पर्क अत्यन्त प्रेरणादायी है। संगीतकार विथोवन को भी जनसाधारण से ही सम्पर्क करना पड़ा था। मानवता किसी भी प्रतिभावान कलाकार को बार-बार यह स्मरण कराती है कि "तुम्हारी कला में हमारे लिए क्या है? यदि कुछ नहीं तो हमारे बीच तुम्हारी कोई जगह नहीं।"

"ऐसे अनुशासन से ही कला और कलाकार का विकास होता है। अवश्य ही कई ऐसे महान कलाकार हैं जो अपने को ही अभिव्यक्त करते हैं। किन्तु उनमें भी महानतम वे हैं जिनके हृदय समस्त मानवता के लिए स्पन्दित होते हैं।"

मुझे प्रतीत होता है कि कला के इसी दर्शन ने जैसे मोहन के लिए लोक कला और संस्कृति के अछूते अमूल्य रत्नों का भंडार खोल दिया तथा उन्हें लोक-संगीत सीखने तथा आधुनिक श्रोताओं के लिए उसे पुनःसृजित करने की प्रेरणा दी। यह एक नया मार्ग था जो मार्ग खोजने की प्रेरणा का फल था। इस नए मार्ग को चुनने का मनोबल बनाने के लिए सांस्कृतिक जगत के प्रचलित मार्गों से भिन्न एक उत्प्रेरक की आवश्यकता थी और यह उत्प्रेरणा उनके वामपंथी आन्दोलन से जुड़े होने से प्राप्त हुई। माओ के कला तथा साहित्य सम्बन्धी नव पथ निर्माणकारी लेख से जिसका शीर्षक 'येनान फोरम में कला और साहित्य पर वार्ता' है मोहन का परिचय भी इसी उत्प्रेरणा का अभिन्न अंग था। इसी उत्प्रेरणा का हिस्सा था उनका विद्यार्थी जीवन में भारत लोकमंच संस्था का सदस्य बनना तथा इस संस्था के प्रेरणास्रोत तथा एक महान साम्यवादी नेता कामरेड पी.सी. जोशी से उनका परिचय। इस परिचय का अवसर कामरेड जोशी के अल्मोड़ा आगमन और रीठागाड़ भ्रमण के दौरान प्राप्त हुआ। रीठागाड़ जागीर में कुमाऊँ के प्रमुख काँग्रेसी नेता श्री प्रताप सिंह के अतिथि के रूप में पी.सी. जोशी के साथ हम सभी निमन्त्रित थे। इसी दौरान हमें उत्तराखंड के महानतम लोक गायक मोहन सिंह जी को जानने का अवसर मिला जो प्रताप सिंह जी के रिश्तेदार भी थे।

मोहन सिंह अपने जीवन काल में असाधारण लोकप्रियता प्राप्त कर चुके थे और लोगों के दिल में अपनी बेजोड़ जगह बना चुके थे। लोककला के शिखर पुरुष से रीठागाड़ में यह मिलन मोहन के जीवन का एक परिवर्तन बिन्दु बन गया। फलस्वरूप उन्होंने यह संकल्प लिया कि अपना समस्त जीवन लोक संगीत सीखने तथा लोककला के संरक्षण और प्रसार को समर्पित कर देंगे। यह 1954 की घटना है। उसके उपरान्त चार दशकों से अधिक मृत्यु-पर्यन्त मोहन के जीवन का मुख्य लक्ष्य और लगाव लोक-संगीत तथा उसका पुनरुत्थान बन गया।

मोहन का लोक-संगीत के प्रति आजीवन लगाव और एकनिष्ठ समर्पण मध्यवर्गीय महत्वाकांक्षाओं से विच्छेद का सूचक था। एक प्रतिभाशाली युवक के सामने उन्नति के कई रास्ते खुले थे। वह राजकीय सेवा में आइ.सी.एस. या पी.सी.एस. बनकर प्रवेश करे या कूटनीतिक पदों में उच्च अधिकारी बनने का प्रयत्न करे या किसी स्नातकोत्तर कॉलेज या विश्वविद्यालय में प्रवक्ता का पद पाने की कोशिश करे। मोहन ने वास्तव में 1948 में कूटनीति विषय लेकर इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम.ए की परीक्षा पास की थी। शायद वे भी स्वतन्त्र भारत में कूटनीतिक पदों में कार्य करने के अवसर की खोज में थे जैसा कि उत्तराखंड के एक दूसरे प्रतिभाशाली युवक श्री राजेश्वर रावत ने भी किया था। मोहन के लोक संगीत को जीवन समर्पित करने के अप्रत्याशित निर्णय ने उच्चवर्गीय ब्राह्मण समाज की जीवन शैली से मूलभूत रूप से अपने आपको अलग करने स्थिति प्रस्तुत कर दी थी। उनकी पृष्ठभूमि उन्हें निम्न स्तर पर उतरने की आज्ञा नहीं देती थी कि वाद्य यन्त्र 'हुड़का' हाथ में लेकर वे आगे बढ़ें जिसे निम्न जाति के लोक-गायक संगीत के साज के रूप में बजाते थे। उनकी हैसियत इस बात की इजाजत भी नहीं देती थी कि वे अपने को और भी निम्न बनाकर एक अपने से निम्न जाति के गायक को अपना गुरु स्वीकार करें। यह एक ऐसा कृत्य था जो उच्चवर्गीय जीवन-मूल्यों को चुनौती देने और उनकी अवमानना करने के बराबर था। यह स्थापित सामाजिक मूल्यों के विरुद्ध एक विद्रोही कृत्य था जो अज्ञात स्थिति में कूद पड़ने के समान था और अपने परिवार तथा उच्च जातीय समुदाय द्वारा पूर्ण अस्वीकार निमन्त्रण देना था, यह कृत्य सामाजिक बहिष्कार को आमन्त्रित करने के समान था, यहाँ तक कि सत्ता द्वारा उत्पीड़ित और दंडित किए जाने के योग्य भी था।

मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि मोहन को ऐसा साहसिक कदम उठाने की प्रेरणा और शक्ति उनके क्रान्तिकारी (रेडिकल) राजनीतिक रुझान और प्रतिबद्धता से मिली। उन्हें यह शक्ति उस नई लहर से भी मिली जो रूढ़िवादी उच्चवर्गीय समाज में युवा पीढ़ी के एक हिस्से को आन्दोलित करने लगी थी। इस नवजागरण के मोहन कदाचित प्रथम, उत्कृष्ट और आकर्षक प्रतीक थे। उनसे पहले किसी ने स्थापित परम्परा और मूल्यों से सम्बन्ध विच्छेद का इतना साहसिक कदम नहीं उठाया था। इस परम्परा ने अभिजात्य और लोककला के बीच जैसे एक सशक्त दीवार खड़ी करके उसे पुष्ट किया था। 'कला के लिए कला' पर विश्वास करने वाला कोई कलाकार ऐसा साहसिक कदम नहीं उठा सकता था। केवल वही कलाकार जो क्रान्तिकारी राजनीतिक लक्ष्य लेकर तथा जनहित के लिए कृतसंकल्प तथा जनता के सांस्कृतिक पुनरुत्थान और अभ्युदय के लिए समर्पित हो वही ऐसा साहसिक कदम उठा सकता था। यह केवल ऐसे व्यक्ति का कार्य था जिसे क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों के पूरे समुदाय का समर्थन प्राप्त था। हमें क्रान्तिकारी नेता पी.सी. जोशी के नेतृत्व को भी पूर्ण महत्व देना होगा जिनको यह पूर्वाभास था कि समाज की सांस्कृतिक जड़ों तक पहुँचे बिना हिमालय प्रान्त की जनता का नव अभ्युदय और नवजागरण सम्भव नहीं। बिना एक सांस्कृतिक अभियान के उच्चवर्ग और निम्नवर्ग के बीच की उस खाई को कम नहीं किया जा सकता जिसे आन्तरिक उपनिवेशवाद ने भयावह दरार और विभाजन का रूप दे दिया था। कामरेड जोशी जी की दृष्टि में ऊपर के जिस अभिजात्य वर्ग ने लोक और लोक की सांस्कृतिक परम्परा से पूरी तरह सम्बन्ध विच्छेद कर लिया हो उसका राजनीतिक स्तर पर रेडिकल बनने का दावा सतही ही माना जा सकता है।

कामरेड जोशी ने अनुभव किया कि वास्तव में अभिजात्य वर्ग एवं साधारण जनता के बीच सांस्कृतिक विभाजन राजनीतिक-आर्थिक विभाजन से कहीं अधिक गहरा और व्यापक है। गाँधी जी के नेतृत्व में उपनिवेशवाद विरोधी आन्दोलन ने निस्सन्देह उच्च वर्ग तथा निम्न वर्ग के बीच की खाई को दूर करने के मुद्दे को उठाया था। गाँधी जी ने उच्च वर्ग के प्रबुद्धजनों को गाँवों की ओर ध्यान केन्द्रित करने के लिए अवश्य प्रेरणा दी तथा तृणमूल जनता से जुड़ने के लिए प्रेरित किया। गाँधी जी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन ने राजनीतिक-आर्थिक योजना की भी रचना की थी जो जनसाधारण की आर्थिक उन्नति में सहायक हो और जो उन्हें छूआछूत के अभिशाप से भी मुक्ति दे सके। उन्होंने अभिजात्य वर्ग को परजीवी जीवन शैली त्यागकर, आजीविका के लिए श्रमाधारित जीवन-यापन करने को प्रेरित किया जिससे उच्च वर्ग साधारण जनता के समीप आ सकें। लेकिन गाँधी जी को छोड़कर कांग्रेस में शायद किसी ने भी उस जाति और वर्ग की खाई को पाटने के मुद्दे को पूर्ण रूप से समझा भी नहीं जो जाति और वर्ग-भेद सदियों की परम्परा से चला आ रहा था। जहाँ तक सांस्कृतिक विभाजन का मुद्दा था स्वयं गाँधी जी को भी इसके महत्व का पूरा और सही अहसास शायद नहीं था। अभिजात्य वर्ग तथा साधारण जनता के बीच के सांस्कृतिक विभाजन को दूर करना उत्पीड़ित जन के सर्वांगीण पुनरुत्थान के लिए कितना आवश्यक है, इस चेतना को सर्वप्रथम जगाने का श्रेय कामरेड जोशी को जाता है। वे पहले और एकमात्र राजनैतिक नेता थे, जिन्हें सारे राष्ट्रीय नेतृत्व मंडल में, उत्पीड़ितों के सर्वांगीण अभ्युदय में संस्कृति की निर्णायक भूमिका और महत्व का अहसास था।

पी.सी. जोशी प्रथम नेता थे जिन्होंने बुद्धिजीवी समुदाय के प्रबुद्धजनों से संस्कृति के प्रश्न को लेकर सम्बन्ध स्थापित किया। उन्होंने विशेष रूप से विशिष्ट वर्ग में उन कलाकारों

और संस्कृति के विशेषज्ञों से सम्पर्क किया जो अपनी उच्चवर्गीय और उच्चजातीय सीमाओं के भीतर ही सांस्कृतिक जनजागरण की सम्भावनाएँ खोजते थे। शायद वे एकाकी नेता थे जिन्होंने क्रान्तिकारी राजनैतिक कार्यकर्ताओं में राष्ट्रीय और सामाजिक मुक्ति संग्राम में संस्कृति के मुद्दे की भूमिका के प्रति चेतना जागृत की। उन्होंने सांस्कृतिक क्षेत्र के कार्यकर्ताओं में इस बात की भी चेतना पैदा की कि सामान्य जनों के पास सांस्कृतिक सम्पदा का कितना अपार भंडार है जो अभी अछूता है तथा भविष्य के सांस्कृतिक जागरण में उसकी कितनी अहम भूमिका हो सकती है। किन्तु उनकी सफलता इस क्षेत्र में आंशिक ही रही। उनके द्वारा कला और संस्कृति के क्षेत्र के कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के सहयोग से 'इंडियन पीपुल्स थियेटर एसोसिएशन' की स्थापना की गई। किन्तु 'इप्टा' एक ऐसी परियोजना मात्र बनकर रह गई जिसने क्रान्तिकारी कलाकारों की प्रतिभा और ऊर्जा को शहरी विशिष्ट वर्ग से ही संगठित किया। बहुत कम संख्या में जनजातीय वर्ग, किसान तथा मजदूर समुदाय की प्रतिभा को संगठित करने की कोशिश हुई। इसलिए इस बात पर कोई आश्चर्य नहीं कि इप्टा उच्च परम्परावादी सांस्कृतिक प्रतिष्ठानों के विरोध और संस्कृति के पुरोहितों के आक्रमण से बच नहीं पाया और उनके प्रहार का मुकाबला करने के लिए जन की सांस्कृतिक शक्ति का प्रयोग करने में असफल रहा। फलस्वरूप इप्टा निस्तेज बनकर बिखर गया।

विशेष रूप से इप्टा पर नवनिर्मित 'फोरम फॉर कल्चरल फ्रीडम' द्वारा भी इस मुद्दे को लेकर प्रहार हुआ कि उसने कला और कलाकार की स्वायत्तता की रक्षा नहीं की और कला और संस्कृति को राजनीति और आइडियोलॉजी की कठपुतली बनाने में सहायक बना। दूसरी ओर क्रान्तिकारी विचारधारा के उच्च सिद्धान्तवादियों के द्वारा भी इप्टा पर यह आक्रमण किया गया कि वह क्रान्ति के प्रति प्रतिबद्धता की प्रखरता और आवेग को जो वर्ग संघर्ष के लिए अनिवार्य है कुन्द कर रहा है तथा तीव्र वर्ग-चेतना के स्थान पर एक दन्तहीन मानवतावाद को बढ़ावा दे रहा है। उस पर यह अभियोग भी लगाया गया कि उसके आन्दोलन का प्रतीक अब 'हँसिया हथौड़ा' नहीं 'हुड़का' बन गया है। पार्टी के सिद्धान्तवादी गीत, नृत्य, कविता और उपन्यास को हेय दृष्टि से देखते थे। उनका मत था कि अपनी पार्टी के समर्पित सदस्य हुड़के के प्रभाव में जुझारू संघर्षशील होने के स्थान पर कोमल दिवास्वप्नदर्शी युवक बन जाएँगे। कुछ लेनिन की इस उक्ति को त्रुटिपूर्ण ढंग के उद्धृत करते थे कि "संगीत उन्हें उदास बना देता है और उनकी लड़ने की इच्छाशक्ति को कमजोर कर देता है।" कुछ पंडित नेहरू की अपनी छोटी बहन को दी हुई सलाह को उद्धृत करते थे कि उपन्यास पढ़ने में व्यर्थ समय व्यतीत मत करो जिसके प्रभाव में पाठक की प्रवृत्ति भावुक हो जाती है, जबकि देश को इस समय संघर्षशील युवक-युवतियों की आवश्यकता है जिनमें तीव्र तार्किक बुद्धि और शक्तिशाली इच्छाशक्ति हो।

पी.सी. जोशी का मुक्ति संघर्ष में कला और संस्कृति के प्रति इन सबसे एकदम भिन्न दृष्टिकोण था तथा राजनीति में विशेष रूप से जनता की मुक्ति की राजनीति में कला और संस्कृति के प्रति एक नई दृष्टि थी। उनकी दृष्टि में जैसे-जैसे एक कलाकार या बुद्धिजीवी साधारण जनता से दूर हटता जाता है और जितना वह उनके दैनिक जीवन से, वास्तविक जीवन से दूर रहता है उतना ही वह बौद्धिकों के वागविलास में, संस्कृति तथा राजनीति के सम्बन्धों पर बाल की खाल निकालने वाले तर्क-प्रतर्कों में उलझ जाता है। जितना ही वह सामान्य जन के समीप आता है तथा उनकी जीवन-शैली से परिचित होता है उतना ही वह उनके जीवन में अर्थशास्त्र, राजनीति तथा संस्कृति के एकीकृत अविभाज्य अन्तःसम्बन्धों को भली-भाँति समझ

सकता है। दलित, पिछड़े वर्ग तथा किसानों के जीवन का मूल परिचय भी यह प्रदर्शित करने के लिए काफी है कि संस्कृति ने उनके सभी कार्यकलापों को सार्थकता और महत्व प्रदान किया है, यहाँ तक कि उन क्रियाकलापों में भी जिनको संकीर्ण अर्थों में राजनैतिक-आर्थिक कहा जाता है। एक राजनैतिक कार्यकर्ता जिसे ग्रामीण जीवन में संस्कृति के महत्व को समझने की संवेदनशीलता नहीं है उसके पास किसान राजनीति को समझने की प्राथमिक योग्यता भी नहीं है। वह किसानों तथा दलितों में राजनैतिक जागरण का ककहरा भी नहीं जानता। कामरेड जोशी ने अपने दृष्टिकोण को एक सिद्धान्त में ग्रथित किया था।

“एक क्रान्तिकारी राजनैतिक कार्यकर्ता जो ग्रामीण समाज में कार्य करना चाहता है, विशेष रूप से हिन्दी भाषी केन्द्र में, उसके एक हाथ में ‘कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो’ होना चाहिए और दूसरे हाथ में रामायण और महाभारत के जन-भाषा के रूपान्तर होने चाहिए। यदि वह किसी एक को भी नजरअन्दाज करता है तो उसका राजनैतिक चरित्र प्रभावहीन हो जाएगा।”

कामरेड जोशी का विचार था कि माओ की शैली में गाँवों के सीधे निरीक्षण से तथ्य खोज और जमा कर तथा गाँवों में किसानों के साथ रहकर लोक गाथाएँ तथा लोक गीत, लोक नृत्य, लोक नाटिकाएँ तथा वीर गाथाएँ संग्रह करना किसी भी गम्भीर राजनैतिक अभियान या आन्दोलन की सफलता की अनिवार्य शर्त है।

मोहन, मैं तथा रूबी जिनसे मैंने एक वर्ष पश्चात विवाह किया और जो रेखा जैन, दीना पाठक, रेवा राय और शान्ता गाँधी के साथ इप्ता दल की केन्द्रीय सदस्य रह चुकी थीं कामरेड जोशी के साथ उनके 1954 के कुमाऊँ के दौरे पर साथ थे। अल्मोड़ा जिले के रीठागाड़ तहसील के नौगाँव की यात्रा पर भी हम उनके साथ थे। अल्मोड़ा जिले के काँग्रेसी नेता प्रताप सिंह जी ने उन्हें नौगाँव आमन्त्रित किया था। प्रताप सिंह जी कुमाऊँ के दो बड़े जागीरदारों में से एक थे। हम लोगों ने अल्मोड़ा नगर में नौगाँव तक की दूरी पैदल ही तय की। जोशी जी को पहाड़ में पैदल चलने की आदत न होने के कारण इस यात्रा में चौदह से सोलह घंटे लग गए। गाँव की इस लम्बी यात्रा में पी.सी. जोशी लगातार बोलते रहे। यह एक प्रकार का ‘लाउड थिंकिंग’ (मुखर चिन्तन) था। उन्होंने अल्मोड़ा में बिताए अपने शैशव तथा युवावस्था को याद किया तथा उत्तराखंड में स्थित अल्मोड़ा में घट रहे परिवर्तनों पर अपने विचार प्रस्तुत किए। वे स्वतन्त्रता आन्दोलन की विरासत को आगे बढ़ाने वाले नए उत्तराखंड के सपने की रूपरेखा प्रस्तुत कर रहे थे। वे उत्तरखंड के सम्मुख आने वाली चुनौतियों पर भी अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर रहे थे। वे हम जैसे युवा बुद्धिजीवी वर्ग के जनता को दिशा देने हेतु बौद्धिक आधार तथा गहराई प्रदान करने के दायित्व पर प्रकाश डाल रहे थे। उनका यह विचार था कि इस नए दिशा-निर्देशन में सांस्कृतिक योजनाएँ और सामाजिक-विज्ञान योजनाएँ साथ-साथ चलाना जरूरी होगा। उन्होंने मोहन के सामने लोक-संगीत सीखने और पुनःसृजित करने का परिदृश्य प्रस्तुत किया, रूबी के सामने लोक नृत्य सीखने तथा पुनःसृजित करने का परिदृश्य तथा मेरे सामने गाँवों के वैज्ञानिक अध्ययन तथा उत्तराखंड की आर्थिक स्थिति के अन्वेषण का परिदृश्य जो गाँव के स्तर से तथ्यों तथा आँकड़ों पर आधारित हो, प्रस्तुत किया।

उनकी दृष्टि से इप्ता अपनी मौलिक अस्मिता खो चुका था क्योंकि वह जनजातियों और किसानों की कला और संस्कृति में अपनी जड़ें नहीं जमा सका। इप्ता की क्षमता और प्रतिभा चलचित्र संगठनों और अन्य व्यावसायिक संगठनों ने अपने में आत्मसात् कर ली थी और सरकारी सांस्कृतिक संस्थानों (संगीत नाटक अकादमी, गीत-नाट्य विभाग तथा राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय आदि) ने उसका स्थान ले लिया था।

कुछ इने-गिने लोगों ने जो शास्त्रीय संगीत और शास्त्रीय नृत्य में कठोर परिश्रमी, तपे हुए कलाकार थे अपने एकल प्रदर्शन को ही अपना लक्ष्य बनाया था। कामरेड जोशी का विचार था कि अर्थशास्त्र, राजनीति तथा अन्य वैज्ञानिक अनुशासन, स्वतन्त्रता पूर्व के मूल्यों और आदर्शों के प्रतिकूल दिशा में अपने विकास की सम्भावनाएँ खोज रहे थे। विशेष रूप से क्षेत्रीय स्तर पर ग्रामीण आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थिति की तथ्यात्मक खोज की प्रक्रिया से उनका सम्बन्ध टूट गया था। इस कारण वे अपनी प्रामाणिकता, सामाजिक धार तथा सार्थकता खो चुके थे।

इस लम्बी यात्रा के दौरान कामरेड जोशी बोलते रहे, हम उन्हें मन्त्रमुग्ध सुनते रहे। बौद्धिक तथा भावात्मक दोनों स्तरों पर उनके विचारों और गहरी पहुँच से प्रेरित तथा प्रभावित होते रहे। उन्होंने हमारे सामने अपने सपनों के नए उत्तराखंड के परिदृश्य से हमारा परिचय कराया, साथ ही इस स्वप्न को सार्थक बनाने में हमारी भागीदारी तथा दायित्व का आभास भी कराया कि कैसे भविष्य में इस परिदृश्य को साकार किया जा सके। इस पर सोचने की हमें प्रेरणा दी। हमारे युवा मस्तिष्क तथा हृदय एक सर्जनात्मक उत्तेजना एवं उथल-पुथल की स्थिति में थे। यह अनुभव शायद जो कुछ घटित होनेवाला था उसकी भूमिका मात्र था। एक ऐसा अनुभव जिसने हमारे अस्तित्व की गहराइयों को तथा हमारे अन्तरतम को झकझोर दिया। यह शायद एक रहस्योद्घाटन था, एक खोज और एक अविस्मरणीय एवं अनिर्वचनीय अनुभूति थी। यह हमारी उस उच्चजातीय अहमन्यता के बन्धन से मुक्ति थी जो अपने से निम्न जाति के ऊपर सांस्कृतिक उत्कृष्टता का दम्भ था। यह उस श्रेष्ठता के मिथ्याभिमान से हमारी मुक्ति थी जिसका पढ़ा-लिखा मध्यवर्ग ग्रामीण अनपढ़ बहुजन के प्रति अपने व्यवहार में हमेशा शिकार होता है। वह हमारे उस अज्ञान से भी मुक्ति थी जो अभिजात्य कला तथा संस्कृति को कला और संस्कृति का ही पर्याय मानता है। यह एक प्रकार का 'कल्चर शौक' या 'शौक ट्रीटमेंट' था जो अप्रत्याशित या आकस्मिक तरीके से हमें मिला नहीं किसी योजना के मातहत।

जब एक रात्रि के विश्राम के पश्चात हम प्रातः काल जागे, हमको हमारे मेजबान द्वारा बड़ी शालीनता से अपने युवा भतीजे राजेन्द्र के माध्यम से यह संकेत मिला कि वे बहुत कृतज्ञ होंगे यदि हम नौगाँव में जितने दिन टिकें तब तक अपनी क्रान्तिकारी राजनीति को भूल जाएँ और अपने मेजबान के लिए किसी प्रकार का धर्म संकट न पैदा करें। यह सुनकर हम चौंक उठे। वास्तव में हम नहीं जानते थे कि हम अपना समय कैसे व्यतीत करें यदि हम अपने दैनिक जीवन से राजनीति को अलग कर दें। फिर भी कामरेड जोशी ने हमारे मेजबान को विश्वास दिलाया कि वे कुमाऊँ में किसी संकीर्ण राजनीतिक उद्देश्य को सिद्ध करने नहीं आए हैं किन्तु पहाड़ से तथा यहाँ की जनता से नराई ही उन्हें पहाड़ खींच लाई है। वे तीन दशकों से अधिक समय से पहाड़ों से बिछुड़े रहे हैं। उन्होंने मेजबान से पहाड़ी लोकगीत सुनने तथा लोक नृत्य देखने की अपनी इच्छा व्यक्त की। यदि यह सम्भव हो सके तो उन्हें बड़ी खुशी होगी। हमारे मेजबान ने सूचित किया कि उन्होंने पहले ही पहाड़ों के सबसे विख्यात तथा प्रतिभावान लोक-संगीत गायक को सूचना भेजी है और यदि एक बार वह यहाँ पहुँच गए तो जितना गीत-नृत्य हम चाहेंगे, सुन सकेंगे, देख सकेंगे। और सचमुच में कुछ ही घंटों के भीतर एक लम्बे कद, सुगठित काया के बलवान तथा अत्यधिक आकर्षक व्यक्ति का आगमन हुआ। वह शायद चालीस वर्ष के आसपास के थे। एक लम्बा कुर्ता और धोती पहने वे हमारे बीच प्रकट हुए। उन्होंने अपना आगमन हुड़का बजाते हुए प्रचारित किया। हुड़के में पर्वतीय वाद्य के स्वरों में उन्होंने सम्मानित अतिथियों का संगीतमय स्वागत किया जिसने हमें अत्यधिक रोमांचित किया और स्तब्ध कर दिया। उनके आगमन का प्रभाव, उनका विशिष्ट अन्दाज, आकर्षक व्यक्तित्व, आत्मा

को इंक्रुत करनेवाला संगीत, उनकी चाल-ढाल, एकदम ऊर्जस्वित, लयबद्ध तथा शालीन-यह सब विद्युत संचार-सा करते थे। ऐसा लगता था मानो वसन्त ऋतु का आगमन हुआ हो नवजीवन के उन्मेष और सम्मोहन के साथ।

कुछ भी पहले-सा नहीं रहा और मोहन सिंह जी के आगमन के पश्चात् सब कुछ जैसे बदल गया। सारी आँखें उन्हें देख रही थीं और सम्पूर्ण श्रवण शक्ति उनके शब्द और लय को आत्मसात करने के लिए उत्सुकता के साथ केन्द्रित थीं। मोहन सिंह जी को आभास था कि प्रतिष्ठित अतिथि एक विख्यात राजनैतिक नेता थे जो कि एक प्रकार से लगभग तीस वर्ष अपनी जन्मभूमि से निर्वासित रहे और अब अपने जनों के बीच अपने गृह जनपद में वापस लौटे रहे थे। मोहन सिंह एक महान लोक गायक और कवि थे, शायद उस मंडल में सबसे उत्कृष्ट तथा सबसे लोकप्रिय थे। वे एक प्रखर व्यंग्यकार भी थे जो अपने गीतों और कविताओं को अपने समय के समाज के लिए तीखे व्यंग्य के लिए प्रयोग में लाते थे। वे बड़े-बड़ों को भी नहीं छोड़ते थे और अपने बेजोड़ व्यंग्य और निष्क्राय निन्दा गाने से निरुत्तर कर देते थे। कामरेड पी.सी. जोशी को भी नहीं छोड़ा। यदि मुझे ठीक से याद है तो उनका कथन, उनका व्यंग्य गीत इस प्रकार था—

हे पूरन चन्द्र जी, आपका स्वागत है
 आपकी कीर्ति आपके नाम के सदृश है
 पूर्ण चन्द्र के समान जाज्वल्यमान
 सारे विश्व में
 भारत के कोने-कोने में।
 किन्तु हे कुमाऊँ के दीवानवंश के शीर्ष मुकुट!
 हे पर्वत पुत्र
 तुम्हें अभी भी उक्लण होना है
 अपनी जन्मभूमि से
 तुम्हें अभी भी उक्लण होना है
 अपनी जन्मभूमि से
 तुम्हें अपनी जननी-जन्मभूमि को याद करने में
 तीस वर्ष लग गए!
 एक किशोर वय में तुम हमसे दूर हुए
 अब तुम हमारे बीच लौटे हो
 जब तुम्हारे केश श्वेत होने लगे हैं
 कब आप ऋण चुकाएँगे
 और कैसे? हे पर्वत पुत्र!
 अभी भी आप अपनी पत्नी
 और अपने बच्चों को साथ नहीं लाए
 कहाँ आपकी जड़ें हैं
 हे पर्वत-पुत्र!
 एक शक्तिशाली देवदारु की जड़ें भी
 धरती में ही गहरी होती हैं

हे पर्वत पुत्र!

कब तुम पहाड़ का ऋण चुकाओगे?

मोहन सिंह की बुलन्द आवाज में गीत स्पन्दित होने लगा। मुझे लगा वह नौगाँव की पूरी उपत्यका में छा गया। पी.सी. जोशी, मोहन, रूबी और मैं—हमारे समूह के सभी सदस्य पूर्ण रूप से प्रभावित, अभिभूत हो गए, न केवल मोहन सिंह के संगीत से, उनके प्रचुर कल्पना विम्बों से, कविता की उत्कृष्टता से किन्तु बदलते हुए सामाजिक यथार्थ और परिवेश ने जनता के सम्मुख जो नई समस्याएँ या चुनौतियाँ उत्पन्न कीं तथा जो आघात एवं तनाव पैदा किए हैं मोहन सिंह जी ने लोक गीत के माध्यम से उन सबको बड़े प्रभावी और मार्मिक तरीके से वाणी दी जिसने हमें अत्यन्त प्रभावित किया। उनमें देशज अन्तर्दृष्टि तथा वाग्वैदग्ध्य की मर्मस्पर्शी शक्ति थी तथा धरती के एक सच्चे पुत्र की मर्मभेदी जीवन दृष्टि थी जो औपनिवेशिक शासन के अन्त के बाद के शासक वर्ग के पाखंड और ढोंग, स्वार्थी प्रवृत्ति, सत्ता-लोलुपता पर तीखी टिप्पणी और व्यंग्य करने से नहीं चूकती थी।

भले ही कामरेड जोशी एक समर्पित क्रान्तिकारी का जीवन-यापन करते थे, जो मजदूरों और किसानों की मुक्ति के हेतु समर्पित था तथा श्रमिक जन की असीम रचनाशक्ति पर उनका विश्वास था। शहरी लोगों की आत्म-केन्द्रित दुनिया के वासी हम सबके लिए यह एक देशज, जीवन्त, श्रमजीवियों के प्रति संवेदना के धनी संसार से परिचय एक रोमांचकारी अनुभव था जिसने हमारे जीवन की दिशा ही बदल दी। किन्तु कई वर्षों से वे राजनैतिक संगठन के शिखर के नेता के रूप में कार्य कर रहे थे और जनता के बीच काम करनेवाले नेता के रूप में नहीं। सामान्य रूप से उनका सम्पर्क और प्रभाव अपनी पार्टी तथा अन्य पार्टियों के कार्यकर्ताओं तक सीमित था। संगठन के सर्वोच्च नेता होने के कारण उनके लिए सम्भव नहीं था कि वे सामान्य जनता से रोजमर्रा के सम्पर्क में आ सकें। भले ही उन्होंने मजदूर और किसान वर्ग के आन्दोलन के केन्द्रों में जाने और उनके सम्बन्ध में लिखने के प्रत्येक अवसर का फायदा उठाया था। उनके द्वारा तैयार क्षेत्रीय रिपोर्ट तत्कालीन पत्रकारों के लिए आदर्श बन गई थी। किन्तु उनका अपने जन्म स्थान उत्तरखंड से कई वर्षों से सम्पर्क कट चुका था। इसलिए पर्वतीय क्षेत्र की यात्रा का यह अवसर उनके लिए अपनी जड़ों में वापसी का सुनहरा अवसर बन गया। यही मोहन उप्रेती के लिए भी सत्य था, जो शहर में जन्मे थे तथा ग्रामीण किसानों के जीवन से नितान्त अनभिज्ञ थे। मैं गाँव में जन्म था और बीच-बीच में अपने गाँव जाता रहता था। किन्तु फिर भी अपने गाँव जाने पर भी मुझे गाँव के युवाओं से नहीं मिलने दिया जाता था विशेष रूप से हमसे निम्न जाति के युवाओं से। इसलिए नौगाँव आना ऐसा था जैसे हम सब एक लम्बे निर्वासन के बाद अपनी जन्मभूमि तथा उसकी जनता के बीच लौटे हों। शहर से दूर एक गाँव में हमारा प्रवेश एक नई ऊर्जा का स्रोत सिद्ध हो रहा था। यह हमारे लिए जैसे अपने मन और आत्मा की क्षीण होती हुई बैटरी को फिर से चार्ज करने का अवसर बन पाया।

नौगाँव में कामरेड पी.सी.जोशी, मोहन, रूबी और मैंने अपने आप को रीठागाड़ रियासत के हष्ट-पुष्ट और जिन्दादिल किसानों के बीच पाया। मोहन सिंह जी स्वयं राजपूत जाति के श्रमिक किसान परिवार के थे। वे ऊँचे कद के, शरीर से हष्ट-पुष्ट शानदार और आकर्षक व्यक्तित्व वाले लोक कलाकार थे। अत्यन्त ऊर्जावान, तीक्ष्ण, सूक्ष्म और सतर्क दृष्टि के साथ-साथ वे तात्कालिक कविता सृजन और उसे संगीत का रूप देकर अपने स्वर माधुर्य से श्रोता समुदाय

को मुग्ध करने की अद्भुत प्रतिभा के धनी थे। वे अपनी मुखर मुख-मुद्राओं तथा मुखर देह-गति तथा अंग-भंगिमा से भी बहुत कुछ अभिव्यक्त कर जाते थे, जिसे आज की भाषा में देह-भाषा कहा जाता है। उनकी तीक्ष्ण दृष्टि, कल्पना शक्ति और संवेदनशीलता से ग्रामीण जीवन का कोई भी पक्ष अछूता नहीं था। जब वे गाते या नृत्य करते थे तो कुमाऊँ के पर्वतीय प्रदेश में कहीं भी या सभी जगह सभी जन-समुदायों में आकर्षण के केन्द्र बन जाते थे। अपने नौगाँव वाले दिनों में हम लोग स्वयं उनके व्यक्तित्व के चुम्बकीय आकर्षण और सम्मोहन के साक्षी थे।

हम भाग्यशाली थे कि हमें मोहन सिंह जी को उनके नैसर्गिक वातावरण में देखने का अवसर प्राप्त हुआ, उनके रचनात्मक शक्ति के पूर्ण विकास में। हमने पूरा एक सप्ताह उनके सम्पर्क में बिताया। दिन के अधिकांश भाग में और चाँदनी रातों में मोहन सिंह गाते रहे, लोक गाथाओं के चुने हुए अंश और लोक परम्परा की वीरगाथाएँ जैसे राजुला-मालूशाही, रसिक रमौल, अजवा बफौल, घना गंगनाथ, रामी जीतू बगड़वाल, ऋतु रेण, लोक-देवता, हरू हीत इत्यादि। उन्होंने झोड़े चोंचरी आदि भी गाए जिनमें सामयिक विषयों पर काव्यात्मक संगीतमय, प्रासंगिक रचनाएँ प्रस्तुत की गई थीं। मोहन सिंह जी की प्रतिभा एक ओर प्रेम और रोमांस, वीरता और साहसिकता, अच्छाई और बुराई, मिलन का आनन्द तथा वियोग की वेदना, देवी और देवताओं का प्रकोप और वरदान, प्रकृति की प्रचंड क्रूरता और असीम करुणा, श्रम और आजीविका की खुशियाँ और कठिनाइयाँ, सुन्दरता और कामुकता जैसे शाश्वत विषयों पर रोमांचक सृजन के लिए प्रेरित होती थीं तो दूसरी ओर दैनिक सांसारिक जीवन की चिन्ताएँ और समस्याएँ, तकलीफें और तनाव, कामयाबियाँ और विफलताएँ जो पहाड़ी ग्रामीण जीवन के कभी न शेष होने वाले अभाव और असुरक्षा, सामाजिक उत्पीड़न और अन्याय से उत्पन्न होती थीं। मोहन सिंह जी की प्रतिभा इन जमीनी सच्चाइयों को सामने लाकर लोगों का दिल छू लेती थी। साथ ही उनकी प्रतिभा जनता की उस असहायता और असुरक्षा की भावना को भी व्यक्त करती थी जो भूमि, जल, जंगल, प्राकृतिक सम्पदा तथा नैसर्गिक सुविधाओं पर सामुदायिक नियन्त्रण और अधिकारों के समाप्त हो जाने से पैदा हुई थी तथा जो पारम्परिक नैतिक मूल्यों के हास से अधिक तीव्र हो गई थी। लोक कला संगीत नृत्य के उस एक सप्ताह के ग्रामीण उत्सव में ऐसा लगता था कि मोहन सिंह जी की कलात्मक सृजन-शक्ति अथक और असीम थी और उनकी प्रतिभा का प्रवा पहाड़ी झरनों की तरह कभी न रुकने वाला था।

मोहन सिंह जी के अक्षय और समृद्ध भंडार से निकलने वाली स्वरलहरियों से श्रोताओं पर जादू का-सा प्रभाव हो जाता था। वे हर्ष तथा शोक, विरह की वेदना, मिलन की आशा और आह्लाद, विजय का उल्लास और पराजय की त्रासदी को वाणी देती थी। विशेष रूप से जब उनकी गीत लहरी भावानुकूल काव्य-रचनाओं से मिश्रित होती थी उनकी अपील शतगुनी हो जाती थी। उस शक्ति के सम्बन्ध में जो कविता के मिश्रण से संगीत में आती है रोमाँरोलॉ ने 'जाँ क्रिस्ताफ' उपन्यास में अत्यन्त मार्मिक शब्दों में लिखा है—

“संगीत, लोग कुछ भी कहें, एक सार्वभौम भाषा नहीं है। ध्वनि का वाण सब लोगों के हृदय में प्रेषित करने के लिए शब्दों का धनुष आवश्यक है।”

और यह संगीत और कविता का तथा कविता और संगीत का ऐसा मिश्रण जब दोनों एक दूसरे में अभिन्न रूप से एक हो जाते हैं लोकगीत में पूर्ण रूप से प्रस्फुटित होता है। गाते हुए मोहन सिंह का मुखमंडल, उनकी आँखें, उनकी पूर्ण आकृति एक आत्मा को विचलित करनेवाले आन्दोल्लास से आलोकित हो उठती थी। ऐसी अनुभूति जो न केवल उनकी थी किन्तु पूर्ण रूप से श्रोताओं को भी जिसमें सहभागी बनाया जा सकता था।

मोहन सिंह जी को कुमाऊँ के समाज में जोशी वंश की उच्च प्रतिष्ठा की पूरी-पूरी जानकारी थी। कामरेड जोशी के एक राजनैतिक नेता के रूप में सार्वजनिक जीवन में उच्चतम स्थान से अवगत थे। वे जानते थे कि कामरेड जोशी का जीवन सामान्य जनों के मुक्ति संघर्ष में तथा स्वतन्त्रता आन्दोलन में बीता था और उनके कारण उत्तराखंड भी विश्वचेतना का अंग बन गया था। लेकिन एक सच्चे धरती पुत्र की अचूक अन्तर्दृष्टि से मोहन सिंह को अहसास था कि भारत का यह महान सपूत भी अपने ही स्वजनों से तथा अपने ही क्षेत्र से कितना कटा हुआ था। कामरेड जोशी के लिए उनके द्वारा रचा गया प्रशंसा गीत उनका गुणगान भी है और उन पर व्यंग्य भी।

प्रशंसा गीत में वे कामरेड जोशी से सीधा प्रश्न करते हैं—

“हे जोशी कुल के महान वंशज! महान राष्ट्र नेता और कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माता! तुमने कभी सोचा है कि पहाड़ ने तुम्हें जन्म दिया और जिसने तुम्हारे पूर्वजों को इतना गौरव दिया उसके लिए तुमने क्या किया? तुम्हारे जीवन के सबसे उत्तम वर्ष पहाड़ के बाहर तुमने बिताए हैं। अब तुम पहाड़ लौटे हो जब तुम्हारे बाल सफेद होने लगे हैं।”

ऐसा प्रतीत होता है कि वे जोशी जी की जीवन-संगिनी कल्पना के बलिदानों से भी अवगत थे। कल्पना चिटगाँव के ऐतिहासिक सशस्त्र आन्दोलन की क्रान्तिकारी सदस्या थीं। उन्होंने जोशी जी से कहा कि तुम वह नहीं कर सके जो तुम्हारी पत्नी ने अपने जन्म स्थान के लिए किया। और एक सुन्दर काव्य-रचना में, जो सुन्दर स्वरों से ओत-प्रोत थी, उन्होंने कल्पना का वर्णन किया तथा उन पर प्रशंसा गाई कि वह बंगाल की एक वीर युवती है जिनसे हिमालय भी गौरवान्वित है और कुमाऊँ की पुत्रवधु के रूप में पहाड़ उनका अभिनन्दन करता है।

मोहन सिंह ने सम्पूर्ण ब्राह्मण अभिजात्य वर्ग पर कटाक्ष किया तो उत्तराखंड के नाम पर फले-फूले किन्तु उत्तराखंड छोड़कर अधिक सुविधाजनक स्थानों को पलायन कर गए। फिर मोहन और मेरी ओर इशारा करते हुए मोहन सिंह ने टिप्पणी की कि हम युवा हैं तथा होनहार हैं पर क्या हम भी पहाड़ों से बाहर उज्ज्वल भविष्य खोज रहे हैं जैसा अधिकांश प्रतिभा सम्पन्न पहाड़ी युवा-युवती हमेशा से करते आए हैं। या हम अपने को हिमालय के सच्चे सपूत सिद्ध करेंगे और पहाड़ की उपेक्षित जनता की सेवा का व्रत लेंगे?

यह पहाड़ के उस अभिजात्य वर्ग पर एक कटाक्ष था जिन्होंने जीवन में उन्नति के लिए जनता को सीढ़ी की भाँति साधन बनाया था किन्तु उनसे उद्धार होने के लिए कभी भी लौटकर नहीं आए। उन्होंने बहुत प्रभावशाली ढंग से सामान्य जनों की पीड़ा और मनोभावों को व्यक्त किया। साथ ही उन्होंने अभिजात्य वर्ग के परजीवी स्वभाव पर गीत-काव्य के माध्यम से बहुत प्रखर तथा व्यंग्यात्मक टिप्पणी की थी। यह शहरी क्रान्तिकारियों की शैली से एकदम भिन्न था। यह प्रचार न लगते हुए भी अत्यन्त शक्तिशाली प्रचार था। भाषा और अभिव्यक्ति मोहन सिंह की ऐसी प्रभावकारी थी, ऐसे प्रखर व्यंग्य उच्च वर्ग पर थे तथा इतनी गहरी अभिव्यक्ति इतने सहज भाव से मुखरित थी कि हम लोग अभिभूत हुए बिना नहीं रह सके। यहाँ तक कि हमारे मेजबान, रीठागाड़ के शासक प्रताप सिंह जी तक को न छोड़ा गया। कवि गायक ने श्री प्रताप सिंह को भी अपनी शालीन निन्दा का लक्ष्य बनाया, अप्रत्यक्ष किन्तु प्रभावकारी ढंग से उच्च वर्ग के भूस्वामियों द्वारा ग्रामीण स्त्रियों के प्रति कामुक दृष्टि की ओर संकेत किया। हमारे मेजबान प्रताप सिंह जी भी इन आरोपों का आनन्द लेते हुए प्रतीत हुए। मोहन सिंह ने सत्ता लोलुप राजनैतिक उच्च वर्ग तथा उच्च वर्ग से निम्न वर्ग तक भ्रष्ट अधिकारियों और उन नए दलालों को जो गाँव में कार्यरत थे तथा जनता पर परजीवी थे अपने तीखे व्यंग्य का निशाना बनाया।

हमारे मेजबान द्वारा हमारे लिए मनोरंजन प्रस्तुत करने का अवसर हमें कुमाऊँनी लोक संगीत तथा नृत्य का आस्वाद ही नहीं करा गया अपितु हमें प्रथम श्रेणी की राजनैतिक शिक्षा भी दे गया। असंख्य ग्रामीण जनता का सबसे उत्कृष्ट कलाकार हमारे लिए एक कभी न भूलने वाले अनुभव और शिक्षण का श्रोत बन गया। यहाँ कला एक विशिष्ट प्रकार की मनोरंजन थी, कला जो एक सामाजिक आलोचना के अस्त्र तथा राजनीतिक प्रतिरोध का माध्यम बन गई थी। यहाँ कला लोक की सामूहिक इच्छाशक्ति की तथा सामूहिक विवेक की निश्चयात्मक अभिव्यक्ति बन गई थी। मोहन तथा मुझे मैक्सिम गोर्की के लोककला सम्बन्धी सार्थक कथन का स्मरण हुआ जो लोक कला की सामाजिक जड़ों और सामाजिक भूमिका को रेखांकित करते हैं। प्रगतिशील कला के उन दिग्गज सिद्धान्तवादियों के लिए जो कला को राजनीतिक शिक्षण और सामाजिक आलोचना का सशक्त माध्यम बतलाते हुए कभी नहीं थकते थे मोहन सिंह जी से आमना-सामना उनके लिए वास्तव में वे इस जनता के कलाकार से बहुत कुछ सीखते जो सर्जनात्मक ऊर्जा, उनका एक घर्मंड तोड़ने वाला तजुर्बा बन जाता तथा सामाजिक आलोचना का अपूर्व मेल प्रस्तुत कर सकता था, जो कला की स्वायत्तता और कलाकार की स्वाभाविक गरिमा को किसी अंश से कम नहीं होने देता था। जो कुछ इस कलाकार ने अर्जित किया था वह उसने किसी प्रगतिशील सिद्धान्तवादी से ग्रहण नहीं किया था, न किसी आधुनिक कला विद्यालय में उसका शिक्षण हुआ था। उसने सब कुछ अपनी सामुदायिक परम्परा और स्वयं अपने लोगों से पाया था जो एक साथ उसके शिष्य भी थे और शिक्षक भी, जो उसके श्रोता भी थे और उसकी सृजन प्रक्रिया में उसके सहभागी भी। मोहन सिंह की कोई उस जन-समुदाय से अलग कलाकार के रूप में कल्पना भी नहीं कर सकता था जिसमें उनकी जड़ें अत्यन्त गहरी थीं कि मोहन सिंह उस समुदाय की ही जीवन्त वाणी थे जिसके वे एक अभिन्न अंग थे।

कुछ बरसों के अन्तराल के बाद हमने उन्हीं मोहन सिंह को संगीत नाटक एकेडमी की प्रथम सचिव कुमारी निर्मला जोशी की बैठक में गाते हुए सुना तथा बाद में एकेडमी के स्टूडियो में जहाँ उनके गीत रिकार्ड हो रहे थे। वे अपने गृह जनपद के प्राकृतिक वातावरण से अलग विस्तृत, हरी-भरी रीठागाड़ की ऊपर चीड़ तथा बाँज के जंगल से घिरे हृष्ट-पुष्ट पर्वतीय जन की आबादी वाली घाटी से दूर देखा था। इस कृत्रिम परिवेश में मोहन सिंह अपने पहले स्वरूप की छाया से लगे। इतने पर भी उनकी काव्य-गीत शक्ति इतनी प्रभावशाली थी कि वे महानगर संगीत प्रेमियों को घंटों मंत्रमुग्ध कर सकते थे। निर्मला जी ने मोहन सिंह जी को एक उच्च वेतनमान का पद प्रस्तावित किया था भारतीय कला-केन्द्र में युवक-युवतियों के लोक-संगीत के शिक्षक के रूप में। मोहन सिंह ने एक क्षण सोचे बिना वह प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया था। उन्होंने कहा था कि उनकी काव्य-प्रतिभा तथा संगीत उनके इष्टदेव का तथा उन देवी-देवताओं का वरदान है जिनका निवास हिमालय पर्वत में है। वह उसे वहाँ की जनता की सेवा के लिए मिला है और जनता की खुशी ही उनका असली पुरस्कार है। उनकी काव्य तथा संगीत प्रतिभा अपनी जनता के साथ रहकर ही पल्लवित-पुष्पित होती है। वह उसी क्षण नष्ट हो जाएगी जब वे अपने जनसमुदाय से विच्छिन्न किए जाएँगे, क्योंकि उसी समुदाय की सम्पदा उनकी संगीत-कविता है। उनका संगीत किसी भी मूल्य पर बाजार में विकने के लिए नहीं है। फिर भी उन्होंने निर्मला जी को आश्वस्त किया कि यदि कुछ बालक-कविताएँ लोकगीत तथा लोक कविताएँ सीखना चाहें तो वे सदा उसके उद्गम स्थान पर आ सकते हैं। मोहन सिंह जी ने पुनः निश्चय से कहा कि वे इतने मिथ्याभिमानी नहीं हैं कि उनके द्वारा प्रस्तुत संगीत तथा कविता रचना को अपना ही सृजन मानें। सच तो वह है कि जब वे अपने जनों के बीच में

होते हैं तो सहज रूप से उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा सक्रिय होने लगती है। संगीत, नृत्य, कविता सब सहज सृजित होने लगते हैं। वे तो केवल वाद्ययंत्र मात्र हैं जबकि उनकी जनता उनकी असली वादक बनती है। जनता के बिना यंत्र निर्जीव है। मोहन सिंह ने कहा कि उनके स्वर तथा लय उसी संगीत की अनुगूँज हैं जो पवित्र हिमालय में अनन्त काल से सृजित, प्रतिध्वनि होता रहा है। पक्षियों की चहचहाहट, अरण्य के बीच पवन के स्पर्श मात्र से संगीतमय स्वरों में मुखरित होता है—कभी सौम्य, कभी उद्दाम तथा हिमालय के उत्तुंग शिखर जैसे नीचे विस्तृत घाटी में आशीर्वाद की वर्षा कर रहे हों। यह एक ऐसे कलाकार की छवि थी जो बाजारू सभ्यता के पूर्वकाल का था। प्रकृति का एक शिशु, सहज पवित्र, अपने में अविनाशी, बाजार की खरीद-फरोख्त से ऊपर और शासक वर्ग के सामने निर्भीक और अवज्ञाकारी।

मोहन सिंह का संगीत उसके समुदाय की सृजन-प्रतिभा का प्रतिफल था—पीढ़ी-दर-पीढ़ी मोहन सिंह के सामान ही कवि गायकों द्वारा प्रेषित—प्रति पीढ़ी में अन्य गायकों में सर्वोत्कृष्ट—जिन्होंने केवल अर्जित कला का प्रेषण ही नहीं किया अपितु उसे अपनी प्रतिभा द्वारा अधिक समृद्ध बनाया। मोहन सिंह ने कभी मौलिक सृजन का दावा नहीं किया, किन्तु पूर्वज कलाकारों के ऋण को नतमस्तक होकर स्वीकार किया।

यह भी रेखांकित करना जरूरी है कि शीर्ष लोक गायक सदा पुरुष होते थे, भले ही स्त्री-शक्ति सदा सृजन प्रक्रिया में सहभागी थी। कुमाऊँ के संगीत का केन्द्र बिन्दु बहुधा स्त्री-केन्द्रित होता था। नायिकाएँ नायकों के समकक्ष लोक-काव्यों में चित्रित की गई हैं, जैसे राजुला मालुशाही, रसिक रमौल तथा असंख्य गीति काव्यों की संरचना में। कई रचनाएँ स्त्री-सौन्दर्य तथा व्यक्तित्व पर केन्द्रित थीं। स्त्री-समुदाय सृजन प्रक्रिया को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में प्रभावित और प्रेरित करता रहा है। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध अनेक शाखा-प्रशाखाओं में समाज द्वारा मान्य और अमान्य सम्बन्धों में, आशाओं और निराशाओं में, सुख और दुख में, उत्तेजनाओं और प्रत्याशाओं में, ईर्ष्या और प्रतिद्वन्द्विता में, तनाव और संघर्ष में, यौवन काल से वृद्धावस्था तक की अवस्थाओं में लोकगीत और कतिवा में प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। यौन सम्बन्धों में अतृप्त महिला, नपुंसक पुरुष से ब्याही हुई अपनी तृप्ति घर से बाहर खोजती कुमाऊँ के लोक संगीत में बहुधा दिखाई देती है।

क्षेत्र के भक्ति संगीत में उच्च वर्ग और जाति की महिला अभिजात समाज के बन्धनों और रीति-रिवाजों से पीड़ित, बहुधा यौन तृप्ति से तथा स्वायत्त सामाजिक अस्तित्व से भी वंचित लोकगीतों में वर्णित है। लेकिन अधिकांश लोकगीतों में केन्द्रीय व्यक्तित्व श्रमिक किसान महिला का है जो अपनी स्वायत्तता प्रमाणित कर सकती थी तथा अपने पति के निधन पर पुनर्विवाह कर सकती थी। इस स्थिति को जमीनी स्तर पर शुष्क, संयमनिष्ठ, आनन्द वंचित, उच्च-जातीय, विधवा की स्थिति से अधिक मान्यता प्रदान की गई। वह उच्च जातीय नारी यौन उत्पीड़न तथा सामाजिक शोषण का पुरुष प्रधान समाज में शिकार बन जाती थी। एक श्रमिक किसान नारी अपनी सखियों और पुरुष मित्रों के बीच नाच तथा गा सकती थी तो यह छूट उच्च जाति की स्त्री को नहीं थी। लोक संगीत प्रकृति की इस पुत्री श्रमिक किसान नारी को महिमामंडित करता था। उसकी शारीरिक स्फूर्ति तथा आत्मगौरव की, उसकी सामर्थ्य को तथा खेतों और जंगलों में वृक्षों, पक्षियों तथा पशुओं के नैसर्गिक संसार के बीच स्वच्छन्द विचरण करने की उसकी सामर्थ्य को पशुओं के पालक के रूप में तथा एक बड़े परिवार को प्रकृति की संहारनात्मक शक्तियों से आमना-सामना करने की उसकी निर्भीक प्रकृति का लोक संस्कृति अभिनन्दन करती थी। अपने बच्चे की माँ के रूप में, खेतों में कठिन परिश्रमी के रूप में, पालतू तथा जल तथा

ईंधन की सुविधा प्रदान करने वाली संरक्षिका और सेविका के रूप में वह लोक गाथाओं में वर्णित है। कृषि उत्पादन में पूर्ण रूप से सहयोगिनी होने के कारण जो घर के बाहर के कार्यों में आने वाले खतरों से खेलती थी, ऐसी श्रमिक किसान महिला उस स्त्री से बहुत भिन्न थी जो धर्मग्रन्थों में वर्णित महिला है, जो शैशव में पिता पर, युवावस्था में पति पर, वृद्धावस्था में अपने पुत्र पर आश्रित रहती थी। वह स्वायत्त निर्णय लेने की शक्ति रखती थी, वह पति के कामों और जिम्मेदारियों में सहभागिनी और पति की अनुचरी या पुरुष की पराधीन लेशमात्र भी नहीं थी।

श्री उदयशंकर नृत्य सम्राट ने इस श्रमिक नारी को, जो लयबद्ध गतिशीलता तथा आकर्षक व्यक्तित्व-संपन्न थी अपनी कृति 'कुमाऊँ की घसियारिन नारियाँ' पर आधारित नृत्य के रूप में अमरत्व प्रदान किया है। यह मशहूर नृत्य 'कल्पना' फिल्म में विशेष स्थान रखता है। उदय शंकर इस नृत्य के रचनाकार थे तथा सिमकी, जोहरा और उजरा इस नृत्य की नर्तकियाँ थीं। उन्होंने कई दिनों तक पशुओं के चारे के लिए सिटोली जंगल के मार्ग में लावण्य और शालीनता से घास काटने जाती हुई घसियारिनों का उदय शंकर के निर्देशन में अवलोकन किया था। उदय शंकर को यह अनुभव हुआ था कि पहाड़ी घसियारिनों की अप्रतिम कलात्मकता तथा लयबद्ध गतिशीलता का वह केवल एक अंश ही अपने नृत्य में ढाल पाए।

मोहन सिंह के साथ नौगाँव में गीत, कविता और नृत्य का पूरा सप्ताह हमें कुमाऊँ के श्रमिक किसानों के सांस्कृतिक संसार का परिचय करा गया। उसने हम उच्च जाति के शिक्षित समुदाय की सांस्कृतिक श्रेष्ठता के मिथ्याभिमान को झकझोर दिया। श्रमिक जातियों की उस सांस्कृतिक पिछड़ेपन और हीनता की सदियों से चली आती हुई उस मान्यता को खंडित कर दिया जिसको उच्च वर्ग के सैद्धान्तिकों ने प्रचारित किया था। हमारी उच्चजातीय मानसिकता को एक करारा झटका लगा जब हमने जो कुछ अपनी आँखों से देखा और कानों से सुना। उसने हमारे सामने श्रमिक जनों की सांस्कृतिक समृद्धि की एक प्रभावकारी झाँकी प्रस्तुत की। हमारी चेतना जो परम्परा के स्थापित प्रतिनिधियों द्वारा निर्मित या परिचालित की जाती रही है यह मिथ्या-चेतना साबित हुई। श्रमिक जन के जीवन का जो यथार्थ है उसका मूल्यांकन करने की हमारी स्थापित धारणाएँ अचानक उलट-पुलट हो गईं और सांस्कृतिक यथार्थ सम्बन्धी परम्परा-प्रदत्त हमारी दृष्टि पर प्रश्नचिह्न लग गया। हमारी इस परम्परा-प्रदत्त दृष्टि का विघटन एक नई दृष्टि के निर्माण की प्रक्रिया का ही एक हिस्सा था। पुराने के विघटन के बिना नए की रचना नहीं हो सकती थी।

पुरानी दृष्टि का विघटन यानी उच्च जाति की सांस्कृतिक श्रेष्ठता के मिथ्याभिमान का विघटन कितना ही पीड़ादायी हो, लेकिन श्रमिक जनों की सांस्कृतिक प्रतिभा के प्रति सम्मान की भावना के बिना एक नए सांस्कृतिक भविष्य के क्षितिज कभी उजागर नहीं होते। एक नए सांस्कृतिक नवोदय की सम्भावना जिसके केन्द्र में श्रमिक जन के प्रतिनिधि कलाकार मोहन सिंह की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका होगी। विघटन भी नए विकास की प्रक्रिया का जरूरी हिस्सा था। एक नवजागरण जो मोहन सिंह जैसे कलाकारों को सांस्कृतिक जगत से निर्वासित किए हो वह कभी व्यापक जनाधार वाला नवजागरण नहीं हो सकता। नौगाँव में हमारे वास की सबसे बड़ी उपलब्धि यही अहसास था और उससे भी बड़ी उपलब्धि थी श्रमिक जनों के सांस्कृतिक जगत के साथ हमारा परिचय। हम में से प्रत्येक—कामरेड जोशी, मोहन, रूबी और मैं—इस अनुभव से गम्भीर रूप से प्रभावित हुए किन्तु मोहन के लिए यह जीवन में एक नया मोड़ बन गया—एक नया मार्ग का आविष्कार। रीठागाड़ में मोहन सिंह के रूप में मोहन की एक गुरु की खोज सफल हुई। यह एक ऐसा मार्ग था जिसे उच्च जाति के किसी कलाकार ने

न कभी अपनाया था न कभी उच्चनीति के किसी कलाकार ने श्रमिक समुदाय के मोहन सिंह सरीखे किसी कलाकार को अपना गुरु स्वीकार किया था। उन्हीं मोहन सिंह को युवा मोहन ने अपना गुरु स्वीकार किया और आजीवन वह मोहन के गुरु बने रहे—लोक संगीत के शिक्षक और नए मार्ग के पथ प्रदर्शक और उस पारम्परिक लोक संगीत के गुरु मोहन सिंह ने भी मोहन में एक शिष्य पाया जो आधुनिक श्रोताओं के लिए उनके संगीत को पुनः सृजित करेगा। गुरु और शिष्य एक नूतन सृजन प्रक्रिया में प्रवेश करनेवाले थे, लोक-संगीत और नृत्य के एक नए आदर्श को भारतवर्ष भर के जन कलाकारों के लिए पुनर्निर्मित करनेवाले थे।

एक सप्ताह के नौगाँव प्रवास के पश्चात् अल्मोड़ा लौटने पर हममें से प्रत्येक के भीतर सम्पूर्ण आन्तरिक रूपान्तर हो गया था। कामरेड पी.सी. जोशी एक नई ऊर्जा और उत्साह के साथ अपने जीवन के शेष भाग को नव उत्तराखंड के निर्माण के लक्ष्य को समर्पित किया। मैं स्वयं अपनी मध्यवर्गीय मानसिकता से मुक्त गाँवों के अध्ययन के लिए प्रेरित हुआ। मुझे भूमि समस्या का अध्ययन, किसानों की आर्थिक स्थिति, समाज तथा संस्कृति के अध्ययन की नई प्रेरणा का अपने अन्दर अहसास हुआ। किन्तु सबसे बड़ा प्रभाव नौगाँव के वास का मोहन पर पड़ा जिसने अपने समग्र जीवन को अपने गुरु से लोक संगीत सीखने के लिए समर्पित कर दिया तथा उत्तराखंड में मोहन सिंह द्वारा प्रेरणा प्राप्त कर एक समर्पित कलाकारों की टोली को संगठित कर उत्तराखंड की लोक कला के पुनरुद्धार में लगा दिया। मोहन एक नए लक्ष्य को लेकर एक नए पथ पर चल पड़े। अब वह शास्त्रीय संगीत के समर्पित विद्यार्थी नहीं रहे, न वह एक होनहार कुमाऊँनी युवा ही रहे जो कूटनीति के पेशे या फिल्मों में अपना भविष्य देखता हो, उत्तराखंड के विकासोन्मुख लोक गायक के रूप में जैसे उनका पुनर्जन्म हुआ हो। कुमाऊँ के सर्वोच्च लोक-गायक के प्रथम शिष्य के रूप में जो उच्च जातीय सांस्कृतिक संस्कारों से मुक्ति पथ पर अग्रसर था।

मोहन का प्राथमिक प्रशिक्षण मोहन सिंह के संरक्षण में नौगाँव से प्रारम्भ हुआ। जिस क्षण से मोहन सिंह ने मोहन को शिष्य के रूप में स्वीकार किया यह स्पष्ट हो गया कि यह प्रशिक्षण आरम्भ में कतना कठिन, कितना सख्त, कितना पीड़ादायी होगा। मोहन के लिए प्रारम्भ में एक लोक धुन भी गा सकना कितना कठिन साबित हुआ। बार-बार चेष्टा करने पर भी उन्हें गुरु से यही सुनने को मिला कि उन्हें नया कुछ सीखने के लिए पुराने को भूलना होगा, पुराने संस्कारों की जकड़ से मुक्त होना पड़ेगा। किन्तु वे जुटे रहे। उन्होंने अनुभव किया कि अभीप्सित स्तर का गायन सीखने में जीवन-पर्यन्त साधना अपेक्षित हो सकती है। गुरु मोहन सिंह जी ने नव सृजनात्मक प्रतिभा के संकेत अपने शिष्य में देख लिए थे। मोहन सिंह ने निरन्तर जोर दिया कि मोहन का प्रशिक्षण सर्वप्रथम सीखे हुए को भुलाने के रूप में अधिक होगा नया सीखने का कम, इसलिए सीखना और भुलाना साथ-साथ ही चलाना होगा। रीठागाड़ की घटना के पश्चात् किन कठिनाइयों को मोहन को पार करना पड़ा, किन मार्गों पर उसे संघर्ष करना पड़ा, उस लम्बी यात्रा का वर्णन फिर कभी किया जाएगा।

इस निबन्ध को मोहन के निम्न शब्दों के साथ ही समाप्त करता हूँ जो मोहन ने मोहन सिंह के साथ परिचय के अवसर पर तथा मोहन सिंह जी के प्रभाव के सम्बन्ध में लोक गायक बनने पर लिखा था। निम्न उद्धरण जो मोहन के एक भाषण का अंश है 'पहाड़' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। कुमाऊँ की लोककला और संस्कृति के सम्बन्ध में मोहन के अनुभव का विवरण अत्यन्त दिलचस्प और रोचक है। मोहन अपने गुरु के ऋण के सम्बन्ध में कृतज्ञता ज्ञापन निम्न शब्दों में करते हैं—

“मैं मोहन दा से सर्वप्रथम 1954 में मिला जब कामरेड पी.सी. जोशी हममें से कुछ लोगों को लेकर श्री प्रताप सिंह बिष्ट कुमाऊँ के एक नामी स्वतन्त्रता सेनानी, रीठागाड़ जागीर के मालिक के आतिथ्य को स्वीकार कर उनके गाँव नौगाँव पहुँचे थे। वहाँ हमें बिष्ट जी के भतीजे और हमारे मित्र राजेन्द्र सिंह ने बताया कि उनके बहनोई श्री मोहन सिंह, जो ख्यातिप्राप्त लोक-गायक थे, आकर्षक व्यक्तित्व के धनी, हमारे मनोरंजन के लिए नौगाँव पधार रहे हैं। इससे अधिक हम क्या चाहते थे? मोहन सिंह जी जिनको पर्वतीय जन स्नेह से मोहन दा कहते थे शीघ्र हमारे बीच उपस्थित हो गए। मोहन दा प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने मुझे इस खोज तथा आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रेरित किया कि कुमाऊँनी लोक-संगीत एक अतल महासागर के समान है तथा वह अनेक स्थानीय संस्कृतियों और सभ्यताओं के योगदान से निर्मित हुआ है। अनेक जाति, सम्प्रदाय तथा प्रजातियों का इसमें योगदान है। आज इसका जो स्वरूप है उसके पीछे अनेक प्रभाव तथा समीकरण हैं।

मैंने पहली बार यह महसूस किया कि यह एक मूल्यवान सांस्कृतिक धरोहर है, जिस पर कुमाऊँ को ही नहीं सम्पूर्ण भारतीय लोक संगीत को गर्व हो सकता है। उस रात्रि मोहन सिंह ने ‘रमोला’ के गायन से प्रारम्भ किया। जैसे-जैसे संगीत का प्रवाह द्रुत गति और तेजी प्राप्त करने लगा मैंने महसूस किया कि ध्वनि चित्रों का एक अलौकिक इन्द्रधनुष अपने सभी रंगों और भव्यता में मेरी आँखों के सामने अपनी सतरंगी शोभा में खुलता जा रहा है। मैंने ऐसा आत्मविभोर कर देनेवाला संगीत पहले कभी नहीं सुना था। शब्द और स्वर माधुर्य का ऐसा बेजोड़ मेल एक अत्यन्त मधुर और गुंजायमान कंठ, जिसमें धरती की माटी की सुगन्ध थी, उनके कंठ-स्वर की उष्मा जैसे पर्वत प्रान्त में खिली धूप, उनके संगीत का स्पन्दन और सृजन पल-पल परिवर्तित पर्वत प्रदेश के दृश्यों के समान था। यह सब तथा इससे अधिक मैंने देखा, अनुभव किया, आत्मसात् तथा अर्जित किया उस रात्रि को जिसने मेरे जीवन की धारा को ही नई दिशा में मोड़ दिया।”

मोहन की जिन्दगी ने किस प्रकार एक नया मोड़ लिया और एक नई दिशा प्राप्त की यह एक लम्बी और अत्यन्त मार्मिक और रोचक कहानी है। इसके लिए तथ्य और सामग्री जुटाकर उसकी पूरी सच्चाई और गहराई को सामने लाना स्वयं एक बड़ी चुनौती है। यह कार्य एक व्यक्ति की सामर्थ्य के बाहर है और इसके लिए सामूहिक प्रयास की आवश्यकता है।

मैं उम्मीद करता हूँ कि जिन युवाओं या बुजुर्गों को अपने साथ लेकर लोक कला के नवजागरण के कार्य में मोहन ने अपना जीवन समर्पित किया वे मोहन के सहयात्री मोहन की इस यात्रा का प्रामाणिक विवरण और मूल्यांकन प्रस्तुत करने की हिम्मत जुटाएँगे।

मोहन के लोकसंगीत के कठिन मार्ग पर चलने का निर्णय लेने के प्रारम्भिक वर्षों में जो महत् व्यक्तित्व उनका प्रमुख प्रेरणाश्रोत बना वह कामरेड पी.सी.जोशी थे। मोहन की इस यात्रा का विवरण और मूल्यांकन अपूर्ण रहेगा अगर कामरेड जोशी से उनके सम्पर्क, कामरेड जोशी का उन पर प्रभाव तथा स्वयं कामरेड जोशी द्वारा समाजवादी आन्दोलन और लोक संगीत नृत्य अभियान में सेतु बन्ध की उनकी महत् भूमिका को मोहन की यात्रा के विवरण और मूल्यांकन की गाथा में शामिल न किया गया। यह एक बड़ी चुनौती है जिसे आनेवाली पीढ़ी अवश्य स्वीकार करेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

मुर्दहिया : सामाजिक पड़ताल का साहित्यिक पैमाना

जय कौशल

हिन्दी दलित आत्मकथाओं में डॉ. तुलसी राम की 'मुर्दहिया' अकेली ऐसी रचना है, जो पुस्तकाकार रूप में आने से पूर्व अपने 'तद्भव' में प्रकाशित अंशों से ही न केवल चर्चा में आ चुकी थी, बल्कि वाद-विवाद का हिस्सा भी बन गई थी। लोकार्पण वाले दिन से ही इसकी विधा को लेकर सवाल उठाए जाने लगे। स्वयं लेखक के बार-बार इसे 'आत्मकथा' कहने के बावजूद इसे 'उपन्यास', 'कथाकृति' आदि कहा गया और बुद्धिजीवियों के एक वर्ग द्वारा इस मुद्दे को बार-बार हवा भी दी गई। शिल्पगत बहस अभी थमी भी नहीं थी कि दलित आलोचक डॉ. धर्मवीर ने 'बहुरि नहीं आवना' पत्रिका के नवीन अंक में प्रकाशित अपने लेख में आत्मकथाकार की अस्मिता पर ही सवाल उठा दिया और विवाद को एक अलग ही दिशा में मोड़ दिया। यद्यपि डॉ. धर्मवीर के आरोप न केवल बेबुनियाद हैं, वरन अतार्किक भी।

असल में, 'मुर्दहिया' को अपने नाम के अनुरूप सिर्फ एक व्यक्ति-विशेष की आत्मकथा तक सीमित नहीं माना जा सकता, इससे कहीं आगे बढ़कर यह लेखक डॉ. तुलसी राम के गाँव धरमपुर के दलितों की पीड़ा-कथा बनकर उभरी है बल्कि अपने बृहत्तर परिप्रेक्ष्य में कहीं न कहीं पूरे दलित समाज की जीवन-कथा ही बन पड़ी है। इससे पहले प्रकाशित हुई कुछ दलित आत्मकथाएँ जैसे 'जूठन', 'अपने-अपने पिंजरे' और हाल ही में आई 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' सचेत रूप से व्यक्ति-केंद्रित आत्मकथाएँ ज्यादा लगती हैं, जबकि 'मुर्दहिया' में एक व्यक्ति के बहाने पूरा दलित समाज अपने रंग-रेशों के साथ उपस्थित है। इसकी पहली ही पंक्ति 'मूर्खता ही मेरी जन्मजात विरासत थी' दलितों के प्रति साधारणीकृत हो चुकी सामाजिक सोच के प्रति इशारा करती है। अगर खानदान में कभी शिक्षा का प्रवेश ही न हुआ हो तो 'मूर्खता' और 'अंधविश्वास' स्वयमेव आ जाते हैं। अपने परिवार में पीढ़ियों से चले आ रहे 'अंधविश्वास' का कारण रचनाकार अशिक्षा को बताते हैं जो उनकी तार्किक दृष्टि का परिचायक है। 'मुर्दहिया' का काफी हिस्सा इन्हीं अंधविश्वासों एवं लेखक के उनके प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण को लेकर है। दलितों में यह अंधविश्वास इस कदर पैठा है कि मटर के खेत में रखवाली करने गए तुलसीराम के दादा की लाठियों से पीटकर की गई हत्या को भूत द्वारा कहकर प्रचारित किया जाता है

सम्पर्क : सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, त्रिपुरा विश्वविद्यालय, अगरतला-799022, मो. 09612091397
ईमेल-jaikaushal81@gmail.com

और अंधविश्वासी दलित-परिवार इसे स्वीकार भी कर लेता है। यही कारण है कि ऐसे भूत-प्रेतों को मनाने के लिए घर में ओझैती-सोखैती चलती थी। यहाँ एकाध व्यक्ति अथवा परिवार ही अंधविश्वास चालित नहीं है, पूरा समाज इसका शिकार है। हर काम में और हर व्यक्ति के साथ किसी न किसी रूप में अंधविश्वास (टोना-टोटका, मान्यता, किंवदन्ती) जुड़ा हुआ है। दादी सौ वर्ष से ज्यादा जीवित रहीं क्योंकि उसने कौवे का माँस खाया था। (किंवदन्ती है कि कौए का माँस खाने वाला बहुत दिन तक जीवित रहता है।) लेखक के पिता को मछली मारना आता था तो उन्हें 'मछरमरवा' कहा जाता था। यहाँ तक मान्यता थी कि अगर पिताजी तालाब का पानी जाकर छू भर दें तो मछली मिल जाएगी। लेखक के जन्म और नामकरण में भी अंधविश्वास है। चूँकि तुलसी राम से पहले उनके माता-पिता को कई बच्चे हुए थे और सब के सब थोड़े बड़े होते-होते मर गए थे। अतः जब लेखक का जन्म हुआ तो उनके पिता इन्हें गाँव के पास एक शिव मन्दिर में महन्त बाबा के पास आशीर्वाद के लिए लेकर गए, बाबा ने बच्चे को जीवित रहने का आशीर्वाद देते हुए 'तुलसी' नाम रखा और कहा कि यह भी भक्त कवि तुलसीदास की तरह महान राम भक्त बनेगा। बच्चे को जीवित रखने की प्रक्रिया में पिता कष्टर शिव भक्त बन गए। पीपल आदि की पूजा शुरू हो गई। केवल भूत बाबा ही दलितों के इकलौते आराध्य नहीं थे, चमरिया माई और डीह बाबा जैसे स्थानीय देवता भी थे। जिनकी पूजा केवल दलित करते थे। दोनों को समय-समय पर हलवा पुजौरा एवं बलि दी जाती थी। ऐसे कितने ही अंधविश्वासों का अजायब घर है—मुर्दहिया।

बालक जब तीन वर्ष का था तो चेचक फैल गया, जिसकी चपेट में तुलसी भी आ गया। चेचक की मनौती के लिए शीतला माई की पूजा का विधान था इसलिए स्वाभाविक रूप से परिवार ने डॉक्टर को दिखाने के बजाय सबसे पहले विविध प्रकार के पूजा-पाठ और बलि देने की सोची। बीमारी की अवधि खत्म होने पर बालक ठीक तो हो गया, पर चेचक से उसकी एक आँख जाती रही और चेहरे पर गहरे घाव के स्थाई दाग पड़ गए। अब तुलसी 'अशुभ' और 'अपशकुनी' की श्रेणी में शामिल होने के साथ-साथ 'कनवा' की संज्ञा से भी विभूषित हो गया।

इसी प्रकार, गर्मी के दिनों में गाँव भर के दलित मिलकर भूत-पिशाच में विश्वास रखने वाले लेखक के चाचा मुन्नर से चमरिया माई एवं डीह बाबा की पुजैया करवाते थे। इसमें पूजा के दूसरे दिन सूअर की बलि चढ़ाई जाती थी। लेखक ने सूअर पकड़ने से लेकर उसे मारने तक की प्रक्रिया का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है। भीष्म साहनी ने भी अपने उपन्यास 'तमस' में सुअर मारने की प्रक्रिया चित्रित की है, जिसे प्रसिद्ध आलोचक राजेन्द्र यादव द्वारा उपन्यास का बेहद जीवन्त प्रसंग घोषित किया गया है, परन्तु 'मुर्दहिया' में सूअर मारने का चित्रण पढ़ने के बाद 'तमस' वाला प्रसंग कहीं न कहीं हल्का लगने लगता है। एक बात और, उत्तर प्रदेश के दलितों में जहाँ सुअर पालने का काम 'पासी' और खाने का काम चमार जाति के लोग करते हैं, वहीं राजस्थान में सुअर पालने से लेकर मारने एवं उसका माँस आदि खाने का काम भंगी जाति के लोग करते हैं, चमार सहित किसी भी अन्य जाति का दलित अब इस पेशे से नहीं जुड़ा है। हाँ, बुजुर्गों के अनुसार राजस्थान में चमार जाति के लोग पहले भैंस, ऊँट, नीलगाय आदि का 'डाँगर' तो खाते थे पर सुअर नहीं। सुअर केवल भंगी जाति के लोग खाते थे। यद्यपि चमारों ने अब लगभग हर जगह 'डाँगर' खाना छोड़ दिया है, पर भंगी आज भी सुअर पालते, मारते और खाते हैं। दो सटे हुए राज्यों की दलित जातियों के इस खान-पान की परम्परा पर अलग से विचार जरूर होना चाहिए।

यह 'आत्मकथा' एक साहित्यिक-रचना भर नहीं है, इसके बहाने न केवल दलितों के इतिहास एवं उनकी सामाजिकता का अध्ययन किया जा सकता है बल्कि तत्कालीन परिस्थितियों की प्रामाणिक छानबीन हेतु समाजशास्त्रीय, राजनीतिक और ऐतिहासिक विश्लेषण का आधार भी बनाया जा सकता है। इसमें तद्युगीन समाज की बुनावट, विभिन्न जातियों के पेशे, रहन-सहन एवं सांस्कृतिक व्यवस्था की अच्छी जानकारी मिलती है। लेखक ने अपने दो चाचा मुनेस्सर और नग्गर के माध्यम से उत्तर प्रदेश में उस समय प्रचलित 'शिवनारायण पंथ' की जानकारी दी है। इस पंथ के लोग पूरी तरह धार्मिक आचार-विचार वाले थे। इस पंथ के संस्थापक शिवनारायण उत्तर प्रदेश के बलिया के एक क्षत्रिय थे, किन्तु उनके अनुयायी सिर्फ दलित बने, ऐसा क्यों था, ये भी सामाजिक विश्लेषण का विषय है।

यही नहीं, आत्मकथाकार द्वारा आम जनजीवन का भाग बने हुए विभिन्न जातिगत जीविका कमाने वालों यथा पटहारा, चूड़हारा, कपड़हारा, हिंगुराहा, जोगी, पंडित, पुरोहित आदि का सटीक सामाजिक-मानसिक अंकन भी किया गया है और विभिन्न पार्टियों द्वारा की गई दलगत राजनीति, मार्क्सवाद के उभार और आमजन में इन सबकी प्रतिक्रिया का भी सटीक चित्रण मौजूद है। जाति-पंचायत का रेखांकन तो है ही।

पहले कहा जा चुका है कि लेखक ने अपने पूरे परिवार की तुलना एक अजायब घर से की है, जिसमें भूत-प्रेत, देवी-देवता, शकुन-अपशकुन, सुख-दुख सब कुछ था, बस नहीं थी तो शिक्षा। जिसका प्रारंभ काफी रोचक और गौरतलब है। जिस तरह देश में एक समय अंग्रेजों ने अपनी सहायता हेतु क्लर्क पैदा करने के लिए भारतीयों को अंग्रेजी शिक्षा पद्धति से परिचित कराया था, कुछ उसी तरह घर में आने वाली चिट्ठियाँ पढ़वाने की समस्या के निदान हेतु तुलसी को स्कूल भेजा गया। असल में, लेखक के कुछ परिजन बंगाल में जाकर मजदूरी किया करते थे और वहाँ से कभी-कभार चिट्ठियाँ लिखवाकर घरवालों को भेजा करते थे, जिन्हें पढ़ना एक बड़ी समस्या थी। दलित बस्ती में सब अनपढ़ थे और ब्राह्मण लोग उनकी चिट्ठियाँ पढ़ने में आनाकानी करते थे, गाली-गलौज अलग से। इसी बात से दुखी होकर घरवालों ने तुलसी को चिट्ठी पढ़ने लायक बनाने हेतु गाँव के प्राइमरी स्कूल में भेजना शुरू किया। यद्यपि यहाँ अंग्रेजों की तरह परिजनों की कोई चालाक बुद्धि काम नहीं कर रही है, वस्तुतः उनके लिए तब तक शिक्षा की इतनी ही उपयोगिता थी कि उनकी चिट्ठियाँ पढ़नेवाला कोई अपना व्यक्ति रहे और उन्हें भटकना न पड़े।

जो हो, लेखक के जीवन की शैक्षिक-क्रांति का पहला कदम भी अंधविश्वास का सहारा लेकर उठाया गया। पिता द्वारा पंडित जी से बच्चे के स्कूल जाने का मुहूर्त पूछा गया। शुक्र है कि यहाँ 'सद्गति' की तरह पंडित जी ने लेखक के पिता से पहले बेगार नहीं कराई, परन्तु दलित होने का दंश पहले ही दिन से मिलने लगा। सवर्ण शिक्षकों द्वारा तैतालीस बच्चों की क्लास में बैठने के लिए तीन कतारें बनाई गई थीं, पहली कतार में तेरह तथा अन्य दो कतारों में पंद्रह-पंद्रह बच्चे बैठते थे। यह तो बाद में पता चला कि तेरह वाली कतार के बच्चे जानबूझ कर साथ-साथ बिठाए गए थे, क्योंकि वे सब के सब दलित जातियों से संबंधित थे। आमतौर पर दलित बच्चों के लिए स्कूल का पहला दिन ऐसा नहीं होता कि उसे जीवन भर की यादों के रूप में संजोया जाए, यद्यपि इस आत्मकथा में 'जूठन' की तरह शिक्षक दलित बच्चों की पीठ पर पहले ही दिन छड़ी से 'महाकाव्य' तो नहीं लिखते पर जाति सूचक गालियाँ जरूर दी जाती थीं।

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, किसी भी आत्मकथा का 'हीरो' लेखक स्वयं होता है, पर इस रचना का हीरो पूरा 'मुर्दहिया' का समाज बन गया है। तुलसी राम ने अपने

बहाने से पूरी दलित बस्ती का नग्न चित्रण इस रचना में किया है। अधिकतर दलित आत्मकथाओं में प्रायः लेखक एवं उसके परिवार वालों का जीवन, उनके दुःख-दर्द बयाँ किए जाते हैं, किन्तु 'मुर्दहिया' में तुलसीराम एवं उनके परिवार की पीड़ा के वायवीय वैयक्तिक चित्र मात्र नहीं हैं, अगर हैं, तो वे भी अंततः सामाजिक चित्र के रूप में उभरे हैं। यही वजह है कि इसमें लोक अपनी पूरी जीवंतता और अर्थवत्ता के साथ उपस्थित हो पाया है। इसमें हरेक अवसर पर गाए जाने वाले लोकगीत, लोगों का रहन-सहन, चित्रकला, त्योहार, सामाजिक व्यवस्था, खेती-किसानी, मजदूरी-बेगारी सबका पूरी संजीदगी एवं प्रामाणिकता के साथ चित्रण है तो 'डेड़िया बेंगही का चक्रवृद्धि भुगतान', 'ईंट वाली तौल से चुकाई जाने वाली बनि' जैसे सामाजिक व्यापार केवल तुलसी राम और उनके परिवार तक ही सीमित नहीं है, पूरा दलित-पिछड़ा समाज इसका शिकार है। लेखक ने अपने गाँव और दलित समाज में ही नहीं देश और दुनिया तक में हो रहे भौगोलिक, ऐतिहासिक बदलाओं की सचेत व्याख्या की है।

इस रचना में लेखक के परिवार द्वारा सर्द रातें काटने का जैसा चित्रण है, वैसी भयावह स्थितियाँ प्रेमचंद जैसे रचनाकार के 'गोदान' तक में उस रूप में नहीं मिलती हैं, न ही 'पूस की रात' में ऐसा चित्रण है। जबकि आलोचकों ने गोदान को 'किसान जीवन की महागाथा' कहा है और एक किसान की पीड़ा और परेशानियों का दस्तावेज माना है और 'पूस की रात' से 'गोदान' की तुलना करते हुए किसान जीवन के अभावों को रेखांकित किया है। तुलसी राम लिखते हैं, "हमारा संयुक्त परिवार बहुत बड़ा था, किन्तु घर में एक भी रजाई या कंबल नहीं था। जैसे भी घर में कपड़ों की कमी हमेशा रहती थी। मेरे पिताजी पूरी धोती कभी नहीं पहनते। वे एक ही धोती के दो टुकड़े करके बारी-बारी से पहनते। ओढ़ने का कोई इंतजाम न होने से गाँव के लगभग सारे दलित रात भर ठिठुरते रहते। हमारे घर में सोने के लिए जाड़े के दिनों में घर की फर्श पर धान का पोरा अर्थात् पुआल बिछा दिया जाता था। उस पर कोई लेवा या गुदड़ी बिछाकर हम धोती ओढ़कर सो जाते। इसके बाद मेरे पिताजी पुनः ढेर सारा पुआल हम लोगों के ऊपर फैला देते। फिर स्वयं अपने ऊपर भी वैसा ही कर लेते थे। जाड़े में ऐसी दुर्दशा पर सवेरा होते ही दलित बच्चे धूप में बैठकर गाते—'अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेवा-ओढ़त लुगरी बिछावत लेवा' जाड़ा भगाने के लिए हम सभी बच्चे एक और गाना गाते - 'दऊ-दऊ घाम करा, सुगवा सलाम करा, तोहरे बलकवन के जड़वत हौ', इस तरह हमारी जाड़े की रातें कट जाती थीं। वे दिन आज भी जब याद आते हैं, तो मुझे लगता है कि मुर्दो-सा लेटे हुए हमारे नीचे पुआल, ऊपर भी पुआल और बीच में कफन ओड़े हम सो नहीं रहे, बल्कि रात भर अपनी-अपनी चिताओं के जलने का इंतजार कर रहे हों।" (मुर्दहिया, पृष्ठ- 34) घर, जहाँ मनुष्य सर्वाधिक सुरक्षित माना जाता है, रचनाकार का पूरा परिवार, बल्कि पूरा दलित समाज जानलेवा जाड़े से जूझ रहा है। जहाँ होरी और हल्कू का परिवार सर्दी में नहीं मर रहा है, कम से कम प्रेमचंद ने इसका जिक्र नहीं किया है। परन्तु मुर्दहिया के दलित घर में होने के बावजूद ठिठुरते हैं, जबकि होरी और हल्कू अपने-अपने खेतों की रखवाली के दौरान। इसीलिए जाड़ा भगाने और उससे अपना ध्यान हटाने के लिए मासूम बच्चों द्वारा गाया जाने वाला गीत हल्कू के जबरा के साथ आग के आगे कूदने और अठखेलियाँ करने से कहीं ज्यादा मार्मिक लगता है। किसान-जीवन के मुकाबले दलित जीवन की पीड़ा ज्यादा झकझोरती है।

हम जानते हैं कि पहले अधिकतर दलित जातियाँ 'डांगर' (मरे हुए पशुओं का माँस) खाया करती थीं, जिसे आजकल अंबेडकरवादी चेतना के प्रभाव ने छुड़ा दिया है। किन्तु 'मुर्दहिया'

के अनुसार उस समय तक पंचायत का बोलबाला था, जिसके द्वारा सामाजिक अपराधों का निपटारा किया जाता था। पंचायत में मुख्यतः दो प्रकार के मसले विचार के लिए आते थे—एक, किसी युवती का गाँव के किसी अन्य व्यक्ति के साथ यौन-सम्बन्ध या उसका बिन ब्याहे गर्भवती हो जाना तथा दूसरा, किसी चमार द्वारा ‘डांगर’ खाना। पंचायत ने ‘डांगर’ खाने को सामाजिक अपराध घोषित कर दिया गया था, जो तत्कालीन दृष्टि से बेहद प्रगतिशील कदम कहा जाएगा। अगर कोई व्यक्ति चोरी-छुपे खाता या लाता पकड़ा गया तो यह मामला ‘बारहगाँवा’ (आस-पास के बारह गाँवों के चमारों की एक बृहद पंचायत) के पंचों के पास लाया जाता, जिसके सरपंच लेखक के बड़े चाचा सोम्मर थे। पंचायत द्वारा दंड देने का विधान भी काबिले-गौर है। तुलसी राम लिखते हैं कि ‘डांगर’ खाने के अपराध पर पंचायत द्वारा वही सजा दी जाती थी जो कि अवैध सम्बन्ध वाले मामले में अपनाई जाती थी।’ रमौती नामक महिला द्वारा ‘डांगर’ लेकर पकड़े जाने पर उसके परिवार के साथ ऐसा किया भी गया। दोनों मामलों में अपराध करने वाले व्यक्ति का समूचा परिवार ही ‘कुजाति’ घोषित कर दिया जाता था। यानी सामूहिकता से सम्पूर्ण बहिष्कार। अगर कुजाति हुआ व्यक्ति अपना अपराध स्वीकार करता और पुनः बिरादरी में आना चाहता तो उसे पूरे समाज को सुअर-भात खिलाने का दंड था। बहरहाल, हमारा ध्यान लेखक के इस संकेत पर होना चाहिए कि वह बारहगाँवा के जिन दो बड़े मामलों को सुलझाए जाने का जिक्र करते हैं उनमें दूसरा ‘चमारों’ में आ रही जबर्दस्त सामाजिक चेतना का सूचक है। यही सामाजिक चेतना अगर दूसरी दलित जातियों में भी आ गई होती तो आज पूरे दलित समाज की तस्वीर ही दूसरी होती।

प्रेमचंद के उपन्यास ‘कर्मभूमि’ में भी ‘डांगर’ का प्रसंग आया है, पर उनके यहाँ इसका ‘ट्रीटमेंट’ उतना प्रभावशाली नहीं बन पाया। तुलसी राम ने ‘डांगर’ खाने के प्रसंग और इसकी पूरी प्रक्रिया को अपनी दादी के माध्यम से कहलवाकर प्रमाणिक रूप दे दिया है। आत्मकथाकार ने पंचायत की महत्ता रेखांकित करते हुए कहा है, ‘1960 या 70 के दशक में अनुमानतः मरे हुए पशुओं का मांस और ‘डांगर’ खाया जाता था पर आजादी के बाद चमारों द्वारा (अंबेडकर द्वारा मूल रूप से चालित) ‘डांगर’ ना खाने का अभियान चलाया गया, जो अत्यंत सफल रहा।’

इस आत्मकथा में दलित और सवर्णों के आपसी सम्पर्क-संबंध में कुछ ऐसे अनुत्तरित प्रसंग भी आए हैं, जिनमें छुआछूत की भरपूर गुंजाइश थी पर लेखक ने इस दृष्टि से उनका ‘ट्रीटमेंट’ नहीं किया, जैसे- बाबा हरिहरदास महन्त द्वारा तुलसी का नामकरण करना, गाँव के पुरोहित अंबिका पाण्डे द्वारा ‘पतरा’ (पंचांग) देखकर तुलसी का स्कूल शुरू करने का ‘शुभ दिन’ बताना, पिता तेरसी द्वारा बाढ़ आ जाने पर स्कूल के बच्चों और अध्यापकों तक को कंधों पर बिठाकर नाला पार कराना, स्वयं तुलसी का सुदेस्सर पाँडे की बेटी आशा को नाला पारकरवाना आदि।

क्या महन्त बाबा ने बच्चे का नामकरण आसानी से कर दिया था? क्या पुरोहित ने स्कूल जाने का मुहुर्त बिना नाक-भौं सिकोड़े बता दिया? क्या पिता तेरसी द्वारा विभिन्न जातियों के बच्चों को कंधों पर नाला पार कराने के कारण उन बच्चों के परिवार वालों ने कभी ऐसा कुछ नहीं कहा कि ‘उस चमार ने हमारे बच्चों को कैसे छुआ’ आदि। यहाँ तक कि स्कूल के तीनों सवर्ण मानसिकताधारी अध्यापक तक आराम से एक चमार के हाथों नाला पार करते रहे! जबकि उन्हीं अध्यापकों ने स्कूल में दलित बच्चों की अलग पंक्ति ही बना रखी थी। गौरतलब है कि ‘उस समय स्कूलों में भी छुआछूत का प्रचलन बहुत ज्यादा था और सवर्ण छात्र प्रायः दलित छात्रों से नहीं मिलते थे।’ फिर क्या सब के सब इसे आपद् धर्म मानकर

चुप थे? रचना के अनुसार तुलसी द्वारा आशा को नाला पार कराने पर उसके जमींदार ब्राह्मण पिता ने उसका स्कूल जाना बंद करा दिया था पर उसका कारण गाँव के अन्य ब्राह्मण लड़कों द्वारा तुलसी को उसे नाला पार कराते देख लेना था, जिसका उन्होंने 'तिल का ताड़' बना डाला। ये सभी प्रसंग छुआछूत के भी हैं, पर रचनाकार ने इस दृष्टि से इनकी व्याख्या नहीं की है।

बहरहाल, पिछले दिनों साहित्य अकादेमी, दिल्ली द्वारा 'समकालीन भारतीय दलित साहित्य' विषय पर आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में भाषण देते स्वयं प्रो. तुलसी राम ने कहा था कि "भारतीय दलित साहित्य को देश के वैकल्पिक सामाजिक इतिहास के रूप में देखा जाना चाहिए। इतिहास में यह अहम हिस्सा लम्बे समय से गायब था।" उम्मीद है, आत्मकथा का दूसरा भाग, जिसमें लेखक की मार्क्सवाद से बौद्ध दर्शन की यात्रा है, भी शीघ्र आएगा और साहित्य के माध्यम से समाज के नए आयाम उजागर होंगे।

पुस्तक : मुर्दहिया (आत्मकथा), लेखक : डॉ. तुलसीराम
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

शालीन और संयत स्मृति-लेखा

पल्लव

संस्मरण व्यक्ति के निजी आख्यान होते हैं जिनमें बहुधा बाहरी संसार को देख-समझ पाने का रास्ता छिपा होता है। हिन्दी में संस्मरणों को पढ़ने-पसंद करने का लम्बा रिवाज रहा है और बीते दशक से यह विधा अपने होने की चमक से भी बावस्ता रही है। लेकिन हम जानते हैं कि जिस तरह सारी कहानियाँ एक ही तरह की नहीं होतीं और न एक ही तरह से लिखी जाती हैं ठीक वैसा ही संस्मरणों के साथ भी है। कांतिकुमार जैन, काशीनाथ सिंह और रवींद्र कालिया के संस्मरणों की शैलियों से अलग मिजाज की पुस्तक है 'अँधेरे में जुगनू', जिसमें कवि-गद्यकार अजित कुमार ने अपने संस्मरणों को एकत्र किया है। अजित कुमार इससे पहले भी 'दूर वन में' और 'निकट मन में' जैसी संस्मरण पुस्तकें और 'सफरी झोले में' जैसा यात्रा-वृत्तांत लिख चुके हैं। इस पुस्तक में उन्होंने व्यक्तियों और घटनाओं के वृत्तांतों से संस्मरण बुनने के स्थान पर इन व्यक्तियों-घटनाओं से जुड़ी रचनाशीलता के अंतःसूत्रों की पड़ताल की है। ऐसा नहीं है कि यहाँ प्रवृत्तियों की पड़ताल जैसी दुरूह जटिलता आ गई है अपितु अजित कुमार अपने शांत-समावेशी गद्य से रचनात्मकता का भिन्न आस्वाद दे सके हैं।

अपने आत्मवृत्तांतों से प्रारंभ इस पुस्तक में अजित कुमार भुवनेश्वर, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', डॉ. धीरेंद्र वर्मा, डॉ. नगेंद्र, डॉ. सरूप सिंह, शमशेर बहादुर सिंह, धर्मवीर भारती और विष्णु प्रभाकर सहित कई अन्य लेखकों से जुड़ी अपनी स्मृतियों का अंकन करते हैं। यहाँ स्मृतियाँ किसी घटना या कारण विशेष से संचालित होकर नहीं आतीं, अपितु अपने समय के विभिन्न काल खंडों से गुजरते हुए लेखक इन साहित्यकारों को याद करता है।

जिस आत्मवृत्तांत से पुस्तक का प्रारंभ हुआ, वह एक रोचक घटना है। हुआ यह था कि लेखक जन्म के तुरंत बाद इतना बीमार हो गया कि कोई आशा ही न बची। किसी ने सुझाया कि कोई बत्तख अंडे की तरह अपने आप इस बच्चे को सेने के लिए तैयार हो तो इसकी जिन्दगी बच जाएगी। वही हुआ। अजित कुमार लिखते हैं- 'मुझे जीवनदान देने वाली उस बत्तख का क्या हुआ होगा। वह स्वयं भी जीवित बची होगी या मर गई होगी। खैर, मुझ जैसी बेहया वह हो भी नहीं सकती थी कि आज इतने सालों बाद भी न सिर्फ जी रही हो बल्कि एक दंतकथा को चटखारा लेकर दुहरा रही हो। यही तो जीवन है, पराजित होता, जीतता और अपने होने के गीत रचता। जीवन के ये गीत इन स्मृतियों में बहुधा आते हैं।' अजित

सम्पर्क : फ्लैट न. 393, डी.डी.ए. ब्लॉक सी एंड डी, कनिष्क अपार्टमेंट, शालीमार बाग, नई दिल्ली-110088

कुमार ऐसे प्रसंगों में मौन नहीं रहते अपितु जरूरी सवालों को ढूँढ़ कर ले आते हैं। जब वे भुवनेश्वर पर चर्चा कर रहे होते हैं तो ऐसे अप्रिय सवाल आ जाते हैं। वे लिखते हैं, भुवनेश्वर के व्यक्तित्व से लेखन और लेखन से व्यक्तित्व में अटकते-भटकते कभी तो ऐसा लगता है कि भुवनेश्वर 'लड़ते लड़ते खेल रहे थे' और कभी यह कि उन्होंने बचाए जाने कि हरचंद कोशिश के बावजूद 'दृढ़तापूर्वक मर जाने' का रास्ता अपनाया था। ये सवाल जहाँ एक लेखक की अस्मिता से जुड़े हैं तो ये समय और समाज पर भी टिप्पणी करते हैं।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' को वे 'श्री इन वन' कहते हैं जिनमें कविता, पत्रकारिता और राजनीति के कई रंग घुल-मिलकर एक हो गए हैं। नवीन जी की वृद्धावस्था अजित कुमार को विचलित करती है और यह केवल नवीन जी की ही नहीं अनेक लेखकों-कवियों की बात भी है। वे लिखते हैं, 'नवीन जी के अंतिम वर्षों में मैंने उन्हें देखा था कि वाणी का वह धनी व्यक्ति, अपने ओजस्वी भाषण से विशाल जन-समूहों को मंत्र-मुग्ध कर देने में समर्थ वह अपूर्व वक्ता -एक पूरा वाक्य तक बोलने में असमर्थ हो गया था....तब पहली बार मेरा ध्यान इस विडम्बना की ओर गया था कि व्यक्ति की सबसे प्रमुख शक्ति और क्षमता किस तरह कभी-कभी उसकी सर्वाधिक दुर्बलता और अक्षमता बन जा सकती है।'

दूसरी तरफ, अपने गुरु डॉ धीरेंद्र वर्मा का स्मरण करते हुए अजित कुमार लिखते हैं, 'गुरुवर धीरेंद्र वर्मा की अध्यापन पद्धति विषयपरक, तटस्थ, वाग्स्फीति से रहित और वैज्ञानिक थी।' अंत में यह कहना कि 'जब मैं अवकाश पथ पर हूँ तो यह पछतावा बना हुआ है कि इतने समर्थ गुरु का शिष्य होकर भी मैं अध्यापन की उनकी प्रविधि और पद्धति को अपना नहीं पाया। इसके लिए आवश्यक परिश्रम, अध्यवसाय और स्पष्टता की कमी मुझमें रही होगी। वस्तुतः यह स्वीकारोक्ति नई पीढ़ी के समक्ष चुनौती है कि हमारी अध्ययन-अध्यापन परम्परा का गौरव रखना कैसे सम्भव है? कवि शमशेर बहादुर सिंह से अंतरंग सम्बन्धों-घटनाओं का जिक्र करते हुए वे उनके व्यक्तित्व को रेखांकित करते हैं—'आंतरिक स्तर पर शमशेर इतने अधिक सम्पन्न थे कि बाह्य अभाव या असुविधाएँ उन्हें विचलित नहीं कर पाती थीं। ...और आगे-अपने आप में डूबे, सदा की भाँति शालीन और संयत।'

अजित कुमार के मित्र ओंकारनाथ श्रीवास्तव ने रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और श्रीकांत वर्मा का विनोदात्मक नामकरण किया था—छोटे-मोटे-खोटे अज्ञेय, इसी शीर्षक से लिखे एक संस्मरण में लेखक ने दिल्ली के तत्कालीन साहित्य परिदृश्य और निजी सम्बन्धों का सुन्दर वर्णन किया है। आगे इसी तुक में स्वयं के अज्ञेय मंडली में अन्तरंग ना हो पाने पर लिखा, 'शायद होते अज्ञेय', नरेश मेहता पर, 'न होते भी हो ही गए अज्ञेय', नगेन्द्र पर, 'रोते कि रुठे अज्ञेय' और निर्मल वर्मा पर, 'सोते-जागते खो गए अज्ञेय' में सम्बन्धित लेखकों के व्यक्तित्व (और आंशिक लेखन) पर लिखते हुए केंद्र में अज्ञेय ही रहे हैं। डॉ. नगेन्द्र पर उनकी टिप्पणी द्रष्टव्य है—कितना हृदयद्रावक रहा होगा। डॉ. नगेन्द्र के लिए यह अनुभव करना कि यश-मान-प्रेम-प्रतिष्ठा आदि जिन-जिन चीजों के लिए उन्हें साम-दाम-दंड-भेद बहुत-कुछ का सहारा लेना पड़ा, उनमें से अधिकांश अज्ञेय जी को लगभग निष्प्रयास मिल सकी थीं।

अजित कुमार अपने समय के इन महानायक सदृश कवि-लेखकों के व्यक्तित्व की विराटता को देखते हुए भी उनमें मौजूद किन्हीं विडम्बनाओं-विसंगतियों को नहीं भूलते। धर्मवीर भारती पर लिखे दो संस्मरणों में एक जगह वे लिखते हैं—पूरे जीवन लेखक की यह कोशिश रहती है कि 'सब कुछ' में से जो 'कुछ' चला गया है या बचा रह गया है, उसे बार-बार तलाशें और पाए। इस सच्चाई के बावजूद भारती -अपने पुराने शहर जाने से कतराने लगे थे, उन्हें

बंबई प्रिय हो गया था। ऐसे ही अज्ञेय के संबंध में एक प्रसंग में इला डालमिया को उद्धृत करते हुए लिखते हैं-‘यह भेंट एक अपवाद है, क्योंकि वात्स्यायन जी बहुत ‘पजेसिव’ हैं और उनके लिए यह अकल्पनीय है कि इला जी किसी भी पुरुष से अकेले मिलें।’

अपने गुरु-श्रद्धेय कवि हरिवंश राय बच्चन पर लिखे संस्मरणों के अलावा रमानाथ अवस्थी, शैलेन्द्र और द्विवेदी मेलों पर भी पुस्तक में आलेख हैं। अजित कुमार इनमें जहाँ-तहाँ अपने व्यतीत निजी प्रसंगों का रचनात्मक उपयोग करते गए हैं और विवाद-कलह के अदेशे वाले प्रसंगों को भी ‘शांत-समावेशी’ ढंग से लिख गए हैं। असल में वे इस व्यतीत के राग का आनंद लेते हैं पर पूरी शिष्टा-मर्यादा के साथ। उन्हें कोई छूट स्वीकार नहीं। बहुत जरूरी हुआ तो एकाध वाक्य—‘डॉ. नगेन्द्र का जीवन एक विषद समारोह था, लेकिन कोई अवसरवादी चुप्पी नहीं।’ विदेश मंत्रालय और किरोड़ीमल कॉलेज में अपनी नियुक्ति के प्रसंग उनके स्मृति-लेखा की सच्चाई और साफगोई का प्रमाण है। संस्मरण के हिन्दी परिदृश्य में यह संयत-सधा स्वर निश्चय ही पठनीयता से परिपूर्ण है।

पुस्तक : अँधेरे में जुगनू, लेखक : अजित कुमार

प्रकाशक :

तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूँ उस ओर क्या है

चन्द्रशेखर

संजीव नएपन के साथ-साथ प्रतिबद्ध रचनाकार हैं। नएपन जहाँ मानवता को बेहतर जिन्दगी देने की जिद्द है, वहीं प्रतिबद्धता मूल्यों एवं विचारों के प्रति है। संजीव स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि “मेरे लिए साहित्य कोई निष्क्रिय बौद्धिक उत्पाद नहीं।” साहित्य को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं कि “साहित्य मनुष्य की उर्जा को मनुष्य के लिए इस्तेमाल करते हुए उसे मनुष्य बनाए रखता है।” जाहिर है संजीव के लिए साहित्य बौद्धिक विलास का साधन मात्र नहीं है, वह मानव की बेहतरी का माध्यम भी है। संजीव साहित्य के इस रूप को ज्यादा महत्व देते हैं। संजीव को मैं जितना जान सका हूँ उनके लेखन के पीछे गहन अन्वीक्षण दृष्टि और वैचारिक आग्रह साफ झलकती है। वे लिखने के पहले बकायदा विषय का गहन अध्ययन करते हैं। इस प्रवृत्ति के कारण उन पर ‘एक्टिविस्ट राइटर’ होने का लेबल भी लगाया जाता है। आलोचकों के लिए संजीव की यह प्रवृत्ति उनकी कमी है, वहीं संजीव के लिए यह उनकी ताकत है। इसी शोधवृत्ति के कारण वे उन विषयों को बहस के केन्द्र में ले आते हैं, जिन पर सामान्यतः ध्यान नहीं जाता। उनके यहाँ हर बार एक नया विषय नए कलेवर में सामने आता है- चाहे वह ‘सर्कस’ की दुनिया हो, जमीन के नीचे की सच्चाई से अवगत कराता ‘सावधान’ नीचे भाग है या अपने समय के सच और इतिहास को विवृत करती ‘आकाश चंपा’ या फिर लोक के सूत्र को पकड़ने की कोशिश करता ‘सूत्रधार’। संजीव ने एक बार फिर ‘रह गई दिशाएँ इसी पार’ के साथ टेस्ट ट्यूब बेबी तथा बुढ़ापा रोकने के लिए किए जा रहे अनुसंधानों के माध्यम से मानवीय विकास से जुड़े रहस्यों को खंगालने की कोशिश की है।

साहित्य का सम्बन्ध भावनात्मक पहलुओं से ज्यादा होता है। साहित्यकारों पर यह आरोप भी है कि विज्ञान की वस्तुनिष्ठता और तार्किकता से उनका सम्बन्ध नहीं होता। लेकिन संजीव के इस उपन्यास को पढ़कर यह भ्रम दूर हो जाता है। संजीव इस उपन्यास में मानवीय विकास की अवधारणा का विज्ञान की जिन बारीकियों के साथ वर्णन करते हैं और जिस रोचकता के साथ साहित्य और विज्ञान में आवाजाही करते हैं, वह अद्भुत है। वे इस मिथ को भी तोड़ते हैं कि विज्ञान एक शुष्क और उबाऊ विषय है। संजीव इस उपन्यास में मानवीय विकास के विभिन्न पहलुओं को रोचकता के साथ उपन्यास की शक्ति देते हैं। वैज्ञानिक बहसों के बीच

सम्पर्क : एल-7, वार्डेन आवास, जोधपुर कालोनी, काशी हिन्दू वि.वि. वाराणसी-221005, मो. 9335173201

वैश्विक / 199

वे मानवीय विकास के वैविध्यपूर्ण विडम्बनाओं और सामाजिक समस्याओं को सहजता से बहस में शामिल करते हैं।

‘रह गई दिशाएँ इसी पार’ नई-नई जिज्ञासाओं को जन्म देता है, साथ ही सृष्टि के पार जाने की सहज किन्तु आदिम मानवीय आकांक्षा, ‘तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूँ उस ओर क्या है/जा रहे जिस पंथ से युग कल्प उसका छोड़ क्या है’ को भी बल प्रदान करता है। जीवन का विकास कब और कैसे हुआ? ब्रह्माण्ड पहले बना या पिण्ड या दोनों के सह-अस्तित्व से जीवन का विकास हुआ? क्या जीवन पदार्थ से उर्जा में और उर्जा से पदार्थ में संक्रमण है या कुछ और? मानवीय भावनाएँ जैसे गर्व या गुरूर, आकांक्षा, भावना क्यों पैदा होती है? मनुष्य के आकर्षण शक्ति और सामाजिक जुड़ाव का वैज्ञानिक कारण क्या है? सेक्स क्या है? यह मात्र जैविक विकास का माध्यम है या कुछ और? यह व्यक्ति विशेष के प्रति ही क्यों होता है? क्या भावना का भी विज्ञान होता है? क्या धर्म का भी विज्ञान होता है? सुख कहाँ है? लिप्सा क्या है? क्या बुढ़ापों से निजात मिल सकती है? मृत्यु क्या है? क्या मनुष्य अमर हो सकता है? चेतना क्या है? आदि इस प्रकार के अनेक सवालों से टकराता है यह उपन्यास। परन्तु यह मूल प्रश्न नहीं है। प्रश्न है- पूँजीवादी व्यवस्था के द्वारा विज्ञान के दुरुपयोग तथा उसकी सहायता से जीवन एवं प्रकृति की तमाम सीमाएँ लाँघते हुए अपने वर्चस्व को कायम रखने की कोशिश, स्त्री को देह की कैद से बाहर निकालकर इंसान का दर्जा दिलाने की जिद, किराए की कोख के सामाजिक स्वीकृति के सवाल एवं समाज पर उसके प्रभाव, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के मानव जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव, टेस्ट ट्यूब बेबी की भावनात्मक और पहचान का संकट जैसे जटिल सवाल हैं तो धर्म और अध्यात्म के यथार्थ, नैतिकता के मानदण्ड, भ्रूण हत्या, वेश्या बनने के लिए बाध्य की जाती लड़कियाँ, मजदूरों का शोषण, भ्रष्टाचार, नस्ल भेद और जातिवाद जैसे सवालों को भी उठाया गया है। इसके कारण और निदान के लिए लेखक ने मिथकों, ऐतिहासिक तथ्यों, वैज्ञानिक खोजों के साथ-साथ दर्शन और विज्ञान तक को आधुनिकता की कसौटी पर परखने की कोशिश की है। संजीव को पढ़ने के बाद विश्वनाथ त्रिपाठी का यह कथन सत्य लगता है कि ‘कथानक को गढ़ने की प्रक्रिया मूलतः विचार से होती है। मनोभाव या संवेदना उसी के पेट में पलता है।’

‘रह गई दिशाएँ इसी पार’ उपन्यास में कुल छियालीस अंतःकथाएँ हैं, जिसका विस्तार बंगाल से केरल तक है। इस उपन्यास में धर्म है, अध्यात्म है, दर्शन है, विज्ञान है तो पूँजीवाद एवं बाजारवाद भी है। लेकिन जो सबसे महत्वपूर्ण है, वह है—जीवन, जो सतत प्रवाहशील है, जिसका विस्तार अनंत है, जो इस दृष्टि का मूल है। लेखक इसी जीवन को बेहतर बनाने के लिए संघर्षरत है। उसकी लड़ाई जितनी बाहरी है, उतनी ही अपने और अपनों से है।

पूँजीवादी व्यवस्था प्रकृति के दोहरा और जीवों के शोषण पर आधारित है। संग्रह की प्रवृत्ति ने मनुष्य को लोभी और प्रकृति का दुष्मन बना दिया है। इस प्रवृत्ति ने मानव की लिप्सा में अपार वृद्धि की है, जिसमें अजर और अमर होने की भावना भी है। जीने की इच्छा जब लोभ और मोह में बदल जाय और कामना वासना में तो मानव जानवर से भी भयानक हो जाता है। विष्णु बिजारिया जैसे पूँजीपति की अजर होने की लिप्सा और काम पिपासा कितनी जिन्दगियों को कितनी तरह से बरबाद करती है, यह उपन्यास इसका नमूना है।

कथानक की शुरुआत होती है- विष्णु बिजारिया के अजर-अमर होने की लिप्सा से। वह अजर-अमर होने के लिए वैज्ञानिकों की फौज खड़ी कर देता है। लेकिन उसका सारा शोध खुद से जुड़ा हुआ है। पहले अजय फिर विशाल, डॉ. जिया, डॉ. बलविन्दर सिंह। गिरधारी

अनाथालय के सीने पर उग आता है 'अस्तित्व रिसर्च लैब'। अनाथों को सहारा देने के नाम पर अनाथालय के इन बच्चों को प्रयोग की वस्तु बना दी जाती है। बावजूद इसके वह मौत से हार जाता है। स्वाइन फ्लू की बीमारी से उसकी मौत हो जाती है।

उपन्यास में लेखक पूँजीवाद के प्रसार को बड़ी गहराई से महसूस करता है। पूँजीवाद के प्रतीक विष्णु बिजारिया हर जगह उपस्थित है, कहीं प्रत्यक्ष रूप में तो कहीं प्रच्छन्न रूप में। विष्णु बिजारिया वह सब कुछ करता है, जिसमें उसके स्वयं का हित हो। चाहे वह मांस एवं मछलियों का व्यापार ही क्यों न हो। (ध्यान रखना चाहिए कि वह राजस्थान के ब्राह्मण परिवार से है।) वह अपने लाभ के लिए हर हथकंडे अपनाता है। कोई भी अनैतिक काम करने में उसे संकोच नहीं है। अपने लाभ के लिए वह कोई भी गुनाह करने से पीछे नहीं हटता। भ्रष्टाचार, मिलावटखोरी यहाँ तक कि हत्या भी उसके लिए सामान्य बात है। लेकिन उसका परिणाम कितना भयानक होता है, इसका हम अंदाजा भी नहीं लगा पाते। अधिक उत्पादन और अधिक लाभ कमाने के बाजार की नीति के कारण किस प्रकार मनुष्य अपनी कब्र अपने हाथों ही खोद रहा है, इसकी कुछ झलक लेखक इस उपन्यास में दिखाता है। हार्मोन के इंजेक्शन वाला दूध पीने वाले बच्चे का असमय विकास देखकर लेखक की चिन्ता से हम सहज ही जुड़ जाते हैं कि "बाहरी आतंकवाद पर इतनी हायतौबा मचती है, लेकिन इस भीतरी आतंकवाद पर कुछ नहीं।" आम आदमी की विवशता यहाँ खुलकर सामने आती है। वह चाहकर भी प्रतिवाद नहीं कर पाता।

संजीव ने इस उपन्यास में पूँजीवाद के क्रूर और अमानवीय चेहरे को बेनकाब किया है। पूँजीवाद के कोख से उपजा भ्रष्टाचार आज भयानक रूप ले चुका है। लेखक आंतरिक आतंकवाद के अंग के रूप में भ्रष्टाचार के साथ-साथ मिलावटखोरी, शोषण, हत्या जैसे अपराधों की पहचान करता है। हम एक ऐसे समय एवं समाज में जी रहे हैं, जो अपने ही अस्तित्व को समाप्त करने पर अड़ा हुआ है। लेकिन इससे छुटकारा पाने का रास्ता भी इसी के बीच से होकर निकलेगा। जब हम अपने अधिकारों के लिए ईमानदारी से खड़े हो जाएंगे। लेखक यहाँ प्रश्न छोड़ जाता है कि क्या हम जीवों की समाप्ति की ओर बढ़ रहे हैं? क्या हम आदमखोर होते जा रहे हैं? जरूरत है यह देखने की कि इस समय को आदमखोर किसने बनाया? हमने... अपने या इस व्यवस्था ने। सच तो यह है कि पूँजीपतियों के लिए यह दुनिया एक 'स्लाटर हाउस' से अधिक कुछ नहीं है और मानव सिर्फ मांसपिण्ड, जिसे सिर्फ बेचा जा सकता है। उनके लिए मानव और पशु में कोई फर्क नहीं है- चाहे स्त्रियाँ हों या गिरधारी बालभवन के बच्चे या रिसर्च लैब के चूहे या बन्दर। सबकी स्थिति एक जैसी ही तो है।

पूँजीवादी शक्तियों के लिए स्त्री का हर अंग बिकारू है, इसलिए वह विज्ञापन की वस्तु बनती जा रही है। आज सेक्स का अपना बाजार है और उसकी सत्ता भी। 'विश्व का सबसे बड़ा बाजार। स्वाद बदलने के लिए नई-नई जवान लड़कियाँ। किसिम-किसिम की गोरी, काली, भूरी, पीली, नीली और बिल्लौरी, सपनीली आँखों वाली, बिन्दास और शर्मीली! हमेशा फ्रेश माल...बनी रहे तीसरी दुनिया की गरीबी...फैशनसोज, मॉडलिंग, रीमिक्स! मछलियों की तरह धंधा है जवान लड़कियों का! खेप दर खेप लाना, छॉटना और प्रोसेसिंग में उसका ब्रेन निकाल लिया जाता है। सप्लार्ई, एक्सपोर्ट, इम्पोर्ट! कुछ दिनों में मर जाती हैं या मार दी जाती हैं मछलियाँ। और लड़कियाँ भी।'

'और मांस...?'

जानवरों के मांस से ज्यादा लजीज होता है आदमी का मांस।' यही नहीं गर्भ तक के

शिशुओं को नहीं बखशाता यह। ‘और इन्हीं लोगों ने खोल रखे हैं, चैरिटेबुल संस्थाएँ, देवालय, दानपुण्य, अनाथालय और पता नहीं क्या-क्या?’ हम चाहे-अनचाहे इस व्यवस्था के अंग बन जाते हैं और उससे अलग नहीं हो पाते।

पूँजी और बाजार किस तरह सारे संसाधनों को अपने गिरफ्त में ले रहा है, इसका एक उदाहरण रेन-बो कंपनी का गिल्बर्ट और विष्णु बिजारिया द्वारा विशाल को दिए जाने वाले प्रलोभनों से समझा जा सकता है। प्रो. सत्यप्रकाश की चिन्ता जायज है कि “यह जो विष्णु नाम के जीव हमारे सामने चुनौती की तरह बढ़े आ रहे हैं, जिन्होंने ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, समाज विज्ञान किसी भी क्षेत्र में खुद कोई काम नहीं किया, जो भोग के सिवा कुछ जानते भी नहीं, वे इस सारी बौद्धिक संपदा पर पाँव रखकर खड़े हो जाएँगे या डंक लगाकर सोख लेंगे।” मजबूरी यह है कि “वैज्ञानिक के पास प्रतिभा होती है लेकिन पैसा...? पैसा तो पूँजीपति के पास होता है या फिर शासक या सरकारों के पास। ये सेठ और सरकारें उन्हें खिलाती-पिलाती हैं, पैसे देती हैं, पालतू बनाती हैं।” और मीडिया, जिसका गुणगान करते हम थकते नहीं। (लेखक के शब्दों में) ‘सेठों और सरकारों का अलग कुत्ता है।’

जाति, धर्म, नस्ल के नाम पर निर्दोष लोगों को मौत के घाट उतारने वालों के पीछे किसका हाथ है? आतंकवाद को कौन सह दे रहा है? पहले समस्याएँ पैदा की जाती हैं और समाधान के नाम पर दुकानकारी की जाती है। यही पूँजीवादी व्यवस्था का सच है और लेखक इस रहस्य को खोलने में सफल रहा है। यही लेखक अपनी पक्षधरता तय करता है और आपके, हमारे लिए प्रश्न छोड़ जाता है कि आप किसके साथ हैं?

धर्म कभी समाज को जोड़ने या एकता स्थापित करने और शान्ति एवं संतोष का माध्यम रहा होगा, लेकिन आज वह सामंतवाद का पोषक, ज्ञान-विज्ञान का दुश्मन, जाति और सम्प्रदाय के नाम पर हिंसा फैलाने एवं लोगों को भड़काने के साथ-साथ पूँजीवाद के साथ मिलकर आम आदमी का शोषक एवं विकास के बाधक तत्व के रूप में ही हमारे सामने आता है। लेखक इसके इस रूप को बेनकाब करता है। रजनीश के शब्दों में कहें तो धर्म अगर सफल हो जाय तो सब कुछ अज्ञात हो जाय और विज्ञान सफल हो जाय तो सारा कुछ ज्ञात। कहा जा सकता है कि धर्म जहाँ कल्पना और चेतना को बाधित करता है, जिज्ञासा को कुंठित करता है, वहीं विज्ञान उन्हें खोलने का काम करता है, एक स्पेस देता है।

संजीव धर्म एवं बाजार के गठजोड़ को आम आदमी के लिए घातक बताते हुए उसके दोहरे चरित्र को उजागर करते हैं। पूँजीवादी शक्तियों के लिए धर्म एवं ईश्वर एक वस्तु मात्र है, जिसे सब अपने-अपने तरीके से बेचते हैं, चाहे वह अभेदानंद हो, शंकर शुद्रानिया हो या फिर किस्नू बिजारिया, यही लोग कभी मंदिर-मस्जिद के नाम पर तो कभी हिन्दू-मुस्लिम के नाम पर, कभी गो रक्षा के नाम पर तो कभी धर्म रक्षा के नाम पर दंगा कराकर निर्दोष लोगों की हत्याएँ करते हैं। लेखक से सहमत हुआ जा सकता है कि “इस देश में कुछ भी किया जा सकता है, कुछ भी, बस ईश्वर और धर्म का नाम दे दो।”

लेखक ने बड़ी सहजता से नस्लभेद या जातिवाद के सवाल को उठाया है। खून की शुद्धता के नाम पर लाखों-लाख निर्दोष लोगों की हत्याएँ कई बार मानवीय संवेदना पर भी प्रश्न चिह्न लगा देती है। इसी रक्त की शुद्धता के लिए ही तो हमने समाज को जाति, धर्म, सम्प्रदाय, वर्ग और वर्ण आदि में बाँट रखा है। मानव अपने विकास की प्रक्रिया को समझना क्यों नहीं चाहता? वर्ण संकर कौन नहीं है? इसी को समझाने की कोशिश तो लेखक करता

है- “वही शुक्राणु, वही डिम्ब, वही क्रोमोजोम्स, वही डी.एन.ए. का चक्कर, वही भ्रूण, वही विकास, वही प्रसव...दिस एण्ड डैट।” फिर यह भेद क्यों?

मानवीय विकास की एक विचारधारा जो विकास के क्रम में अतीत के अवशेषों के बीच कहीं दब गई थी, वह नए रूप में हमारे सामने है। मातृसत्तात्मक समाज की परिकल्पना को विज्ञान के द्वारा प्रमाणित कर लेखक ने सृजन को महत्व प्रदान किया है। स्त्री की स्वायत्त सत्ता, जहाँ स्त्री ही सृजन का माध्यम है—‘डिम्ब भी वही, शुक्राणु भी वही, मानी पुरुष भी वही स्त्री भी, वही’...अर्द्धनारीश्वर का प्रतिरूप। यहीं आकर लेखक जाने-अनजाने स्त्री की दुनिया में प्रवेश करता है और स्त्री की सृजनशीलता पर कब्जा कर उसे गुलाम बनाए रखने का पर्दाफाश करता है। चाहे वह बेला का प्रसंग हो या प्रोसेसिंग केन्द्र की तेलम्मा, कमला या अन्य स्त्रियों की या अतुल मेन्सन की कैथरीन, एलिस या फिर कौशल्या उर्फ क्रिस्टीना या फिर लारा की। संजीव इन स्त्रियों के माध्यम से सारी नैतिकता का जिम्मा स्त्रियों पर डालकर उन्हें बेबस बना देने के खेल को बड़ी बारीकी से खोलते हैं, वहीं स्त्री को जिंस या वस्तु बनाने का विरोध भी करते हैं। एलिस के माध्यम से स्त्रियों की वास्तविकता को स्पष्ट करते हुए लेखक कहता है कि ‘सुनो! मैं मर्दों के प्यार, पुचकार के ढकोसलों से ऊब चुकी हूँ पूरी तरह। मैंने तुम्हारे फससफे सुने। सारी महानता का बोझ हम पर फेंक कर ये मर्द हर दाय-दायित्व से मुक्त हो जाते हैं- सरासर ब्लैकमेल। मैं नहीं मानती, नहीं मानती मैं! तुम्हारे उस झूठ का सबसे बड़ा साक्ष्य बनकर खड़ी है यह औरत तुम्हारे सामने।’ परिवारिक जीवन में शान्ति या सुकून के लिए समझौते करती स्त्री प्रतिरोध भी कर सकती है, लेखक ने इस उपन्यास में स्पष्ट करने की कोशिश की है। संजीव की स्त्रियाँ बौद्धिक रूप से चेतन, रूढ़ियों से काफी हद तक मुक्त और अपने अधिकारों के प्रति सजग परन्तु पारम्परिक भारतीय स्त्रियाँ हैं।

संजीव ने ऑनर किलिंग के नाम पर स्त्रियों को मौत के घाट उतार देने और उन्हें तरह-तरह से प्रताड़ित किए जाने की समस्या को गंभीरता से उठाया है। कब तक हम इज्जत के नाम पर अपनी ही बहू-बेटियों को मौत के घाट उतारते रहेंगे। अपने खोल से बाहर निकलने के बजाय प्रगतिशील, ईमानदार और रूढ़ियों से मुक्त युवा क्यों हमारे लिए समस्या बनते जा रहे हैं? इस पर गहराई से विचार करने की जरूरत है। लारा के माध्यम से लेखक इस समस्या पर भी रोशनी डालता है।

क्लोनिंग, टेस्ट ट्यूब बेबी और किराए की कोख को स्त्रियों से सीधे जोड़कर लेखक ने उसके ससाकारात्मक एवं नकारात्मक हर पहलू पर विचार किया है। क्लोनिंग के सम्बन्ध में लेखक का मनना है कि इससे जहाँ पारंपरिक ढाँचे में टूटन आएगी, वहीं भावनात्मक एवं पहचान के संकट का प्रश्न भी खड़ा होगा। लेकिन साथ ही लेखक इसे अवचेतन में मृत्यु के पार जाने की आदिम इच्छा से जोड़कर नए युग के सूत्रपात के रूप में भी देखता है।

इस उपन्यास के माध्यम से लेखक की एक बड़ी चिन्ता यह भी है कि पूँजीवादी शक्तियाँ स्त्रियों की स्वतंत्रता का इस्तेमाल अपने हित में कर रही हैं। स्त्री को बाजार की वस्तु बनाने की पूरी कोशिश के क्रम में ही वेश्यावृत्ति विश्व का सबसे बड़ा उद्योग बन गया है।

भ्रूण हत्या आधुनिक समाज की सबसे धिनौनी क्रूर सच्चाई है तो यह है कि इंसान की दकियानूसी सोच एवं वैज्ञानिक तथा तकनीकी विकास के गठजोड़ से यह संभव हुआ है। यह एक ऐसा क्रूरतम अपराध है, जिसे अपनों द्वारा अंजाम दिया जाता है। उसे अंजाम देती है- “वह माँ, जो हमें जन्म देती है।”

“वह पिता जिसके हम अंश होते हैं।”

“वे रिश्ते जो हमें भावनात्मक सुरक्षा देते हैं।”

“वे डॉक्टर्स और वैज्ञानिक जो हमारा होना सम्भव बनाते हैं।”

“यही जीवनदायी हाथ हमें मार डालते हैं।” “किस राग-अनुराग से आया होगा वह भ्रूण माँ के गर्भ में।” उस बच्ची की खामोश नंगी चीख क्यों किसी को सुनाई नहीं देती। हम बेरहम कसाई की तरह काटकर उसे कुत्ते और कौवे को नोचने के लिए फेंक देते हैं। संजीव इस उपन्यास में इस समस्या को बेबाक ढंग से उठाते हैं।

विश्वनाथ त्रिपाठी कहते हैं कि ‘संजीव की रचनाओं में सौन्दर्य एक सांस्कृतिक परिघटना के रूप में उभरता है।’ संजीव का ध्यान कथ्य पर ज्यादा होता है। शायद इसलिए उनके यहाँ यथार्थ चित्रण के साथ-साथ ब्यौरे अधिक हैं। परन्तु वे भाषा एवं शैली को नजरअंदाज नहीं करते। संजीव भाषा की कलात्मकता एवं रोचकता पर विशेष ध्यान देते हैं। जिस तरह का समाज होता है, उसी तरह की भाषा का इस्तेमाल हम संजीव की रचनाओं में पाते हैं। संजीव अपने इस उपन्यास में अंग्रेजी के शब्दों एवं वाक्यों का खूब इस्तेमाल करते हैं। इस उपन्यास का कथानक जिस पृष्ठभूमि से आया है, उसको देखते हुए इस तरह की भाषा का इस्तेमाल सहज लगता है। इसके पात्र उच्च शिक्षा प्राप्त उच्च वर्गीय या मध्यवर्गीय युवा हैं जिनमें बढ़ते अंग्रेजी के प्रयोग चिन्ता का विषय हो सकता है। लेकिन संजीव के यहाँ आम लोग अपनी मातृभाषा का ही इस्तेमाल करते हैं। अपने कहे को प्रमाणित एवं स्पष्ट करने के लिए संजीव मिथकीय, पौराणिक तथा ऐतिहासिक चरित्रों एवं कथाओं का सटीक इस्तेमाल करते हैं। वे इन्द्र, ययाति, भगीरथ, मत्स्यगंधा, बर्बरीक के साथ-साथ रामायण, महाभारत, पुराण तथा ऐतिहासिक चरित्रों को आधुनिक संदर्भों में बहुत ही खूबसूरती से इस्तेमाल करते हैं। संजीव के सम्बन्ध में विश्वनाथ त्रिपाठी का कथन सही लगता है कि ‘जब रचनाकार का भावमंत्र मानवीय वेदना स्पंदित हो, तब रचना में मिथक उपयोग संभव है।’

संजीव लोकगीतों के साथ-साथ कविता, गजल एवं फिल्मी गीतों का बहुत सुन्दर इस्तेमाल कथा को प्रभावी बनाने के लिए करते हैं। उनके यहाँ गीत ऊपर से थोपे हुए नहीं लगते। संजीव मुहावरों की तरह गीतों का इस्तेमाल कर घटना को और मारक बना देते हैं। मधु के लाख कोशिश के बावजूद जिम के संवेदनहीन व्यवहार पर लेखक की यह टिप्पणी सम्पूर्ण परिस्थिति को सहज ही स्पष्ट कर देता है ‘का पर करूँ सिंगार बलम मोर आन्धर।’ ठाकुर प्रसाद सिंह की कविता-‘सुना है शंख को कान से लगाओ तो समुद्र की गर्जना सुनाई पड़ती है।’ संवेदना को सहज ही विस्तार दे देता है।

सम्पूर्णता में कहें तो ‘रह गई दिशाएँ इसी पार’ सतत जीवन के महत्व को स्थापित करने वाला उपन्यास है जहाँ मानव पुनः पुनः जन्म लेता है और अपने अस्तित्व को प्रमाणित करता है। एक बार पुनः विश्वनाथ त्रिपाठी के शब्दों में कह सकते हैं कि संजीव की रचनाएँ हमें इसलिए अच्छी लगती हैं क्योंकि ‘वे सौन्दर्य की पहचान कराते हुए और बिना कहे पाठक को आन्तरिक सौन्दर्य समृद्धि से भरती हैं, साथ ही उसे एक सामाजिक-ऐतिहासिक आचार संहिता भी प्रदान करती हैं।’

पुस्तक : रह गई दिशाएँ इसी पार, लेखक : संजीव
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली